प्रकाशक
जगन्नाथप्रसाद शर्मा,
चूड़ीवालों का मकान, मथुरा।

मिलने का पता—
सभी साहित्यिक पुस्तक विक्रेता।

प्रथम संस्करण (अलङ्कार प्रकाश) वि० सम्वत् १९५६
द्वितीय संस्करण (काव्यकल्पद्रुम) वि० सम्वत् १९८३
तृतीय संस्करण (काव्यकल्पद्रुम दो भागों में) रसमञ्जरी वि० सम्वत् १९९१ और अलङ्कारमञ्जरी वि० सम्वत् १९९३
चतुर्थ संस्करण (रसमञ्जरी) वि० सम्वत् १९९८
पंचम संस्करण (रसमञ्जरी) वि० सम्वत् २००४

मुद्रक
सत्यपाल शर्मा,
कान्ति प्रेस, माईथान, आगरा।

नोट—पुस्तक प्रकाशक से ऊपर के पते से भी मिल सकती है।

❀ श्रीहरिः ❀

भूमिका

"तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ;
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ।"

काव्य के तत्व को कोई विरले ही जान सकते हैं। पुष्पों के सौन्दर्य से मन सभी का अवश्य प्रसन्न होता है, पर उनके मधुर रसके मर्मज्ञ केवल भ्रमर ही होते हैं। काव्यको पढ और सुनकर बहुत से लोग अपना मनोरञ्जन अवश्य करते हैं, किन्तु इसका अलौकिक रसानुभव केवल सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य में यही महत्व है। काव्यात्मक रचना वैदिक काल से प्रचलित है। स्वयं वेद में ध्वनि-गर्भित-व्यंग्यात्मक और अलङ्कारात्मक वर्णन है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ;
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।"

—वृ० मुण्डकोपनिषद् खण्ड, १, सं० १

इसमें 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है।

ध्वनि आदि परोक्षवाद तो वेद में प्रायः सर्वत्र ही है— 'परोक्षवादो वेदोऽयं'। अतएव—

वेद ही काव्य का मूल है।

और सच्चिदानन्दघन परमेश्वर द्वारा ही सबसे प्रथम इसकी प्रवृत्ति हुई है। पौराणिक काल में तो काव्यात्मक रचना प्रचुरता से

दृष्टिगत होती है। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि महापुराणों में काव्य-रचना अनेक स्थलों पर विद्यमान है[1]। वाल्मीकीय रामायण को तो स्वयं महर्षिवर्य ने ही 'आदि काव्य' के नाम से व्यवहृत किया है। महाभारत को परमेष्ठि ब्रह्माजी ने और स्वयं भगवान् वेदव्यासजी ने महाकाव्य की संज्ञा दी है[2]। और अग्निपुराण में तो साहित्य विषय का विस्तृत वर्णन भी है[3]।

जिस प्रकार व्याकरण, न्याय एवं सांख्य आदि के पाणिनि, गौतम और श्रीकपिल आदि प्रसिद्ध आचार्य हैं, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के—

प्रसिद्ध आचार्य भगवान् भरतमुनि हैं।

भरतमुनि भगवान् वेदव्यास के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती थे[4]।

साहित्य शास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे पहला ग्रन्थ भरतमुनि का निर्माण किया हुआ 'नाट्यशास्त्र' है। इसके बाद आचार्य भामह, उद्भट, दण्डी, वामन, रुद्रट, महाराज भोज, ध्वनिकार, श्री आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मटाचार्य, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ आदि अनेक उत्कट

१—इसका विशेष स्पष्टीकरण हमारे 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के प्रथम भाग में किया गया है।

२ महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १। ६१, १। ७२

३ अग्निपुराण, आनन्दाश्रम सीरीज़, अध्याय ३३७ से ३४७ तक।

४ भगवान् वेदव्यास ने अग्निपुराण में लिखा है—

"भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते।"

(३४० । ६)

विद्वानों ने काव्य-पथ-प्रदर्शक अनेक ग्रन्थ-रत्नों का निर्माण किया है। इन महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के कारण हम लोग साहित्य-संसार में सर्वोपरि अभिमान कर सकते हैं। जिस समय ये ग्रन्थ निर्मित हुए थे, उस समय साहित्य की अत्यन्त उन्नत अवस्था थी। भर्तृहरि, श्रीहर्ष और भोज जैसे गुणग्राहक, साहित्य-रसिक और उदारचेता राजा-महाराजों की काव्य पर एकान्त रुचि रहती थी। यहाँ तक कि वे महानुभाव अनेक विद्वानों द्वारा उच्च कोटि के ग्रन्थ-रत्नों का निरन्तर निर्माण कराके उन्हें उत्साहित ही नहीं करते थे, वे स्वयं भी अपूर्व ग्रन्थों की रचना द्वारा साहित्य-भण्डार की वृद्धि करके हंस-वाहिनी, वीणापाणि भगवती सरस्वती की अपार सेवा करते रहते थे। उन्होंने श्रीलक्ष्मी और सरस्वती के एकाधिकरण में न रहने के लोकापवाद को सचमुच मिथ्या कर दिखाया था। उनके सिद्धान्त थे—

'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

—भर्तृहरि।

खेद है कि परिवर्तनशील कराल काल के प्रभाव के कारण इस समय हमारे साहित्य की अवनत दशा है। इस—

अवनति के कारण

अनेक हैं। प्रथम तो राजा-महाराजों में तादृश रुचि का अभाव है। इस उपेक्षा का फल यह हुआ है कि विद्वत्समाज हतोत्साह हो रहा है। दूसरे, भारतीय विद्वान् विदेशी भाषा में अनुराग रखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्त्य विद्वान् हमारे साहित्य पर अधिकाधिक आकर्षित होते जा रहे हैं, और हमारा विद्वत्समाज इसे उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है।

जड़-बुद्धि जनों को छोड़ दीजिए, कितने ही साक्षर व्यक्ति भी समझते हैं कि काव्य केवल कवि-कल्पना मात्र है, इस से कुछ लाभ नहीं हो सकता, यह निःसार है। उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रम पूर्ण है।

काव्य से लाभ

क्या उपलब्ध होते हैं, इस विषय में मम्मटाचार्य ने लिखा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ;
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।"

—काव्यप्रकाश ।

अर्थात् 'काव्य' यश, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दुःख-नाश, शीघ्र परमानन्द और कान्तासम्मित मधुरता-युक्त उपदेश का साधन है। इस कथन में किञ्चित् मात्र भी अत्युक्ति नहीं है। काव्य द्वारा प्राप्त—

यश

चिरस्थायी है। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास और गोस्वामी पूज्यपाद तुलसीदासजी आदि का कैसा अक्षय यश हो रहा है। कालिदास आदि के पैतृक कुल को कोई नहीं जानता, न इनका कोई दान आदि ही प्रसिद्ध है। एकमात्र काव्य ही इनकी आसमुद्रान्तस्थायिनी प्रसिद्धि का कारण है।

द्रव्योपार्जन के लिये निस्सन्देह बहुत मार्ग हैं। किन्तु काव्य-रचना द्वारा—

द्रव्य-लाभ

होना एक गौरवास्पद बात है। संस्कृत के प्राचीन महाकवियों की तो बात ही क्या, उद्भट जैसे विद्वान् को प्रतिदिन

एक लक्ष सुवर्ण-मुद्रा का मिलना इतिहास-प्रसिद्ध है[1]। हिन्दी-भाषा के केशवदास, भूषण, पद्माकर, मतिराम आदि को एवं राजस्थान के महाराजाओं से चारण जाति के बहुत से प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वान् कवियों को भी सम्मान-पूर्वक अमित द्रव्य-लाभ होना प्रसिद्ध है। इस समय भी पाश्चात्त्य देशों में विद्वानों को प्रचुर पारितोषिक[2] देकर प्रोत्साहित किया जाता है।

लोक-व्यवहार-ज्ञान

के लिये तो काव्य एक मुख्य और सुख-साध्य साधन है। महाकवियों के काव्य लोक-व्यवहार-ज्ञान के भण्डार हैं। काव्य शृङ्गार-रस के सुमधुर और रोचक वर्णनों द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा का भी सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। जिस रीति से काव्य द्वारा

उपदेश

मिलता है वैसा और कोई सुगम साधन नहीं है। उपदेश तीन प्रकार के होते हैं—'प्रभु-सम्मित', 'सुहृद्-सम्मित' और 'कान्ता-सम्मित'। वेद-स्मृति आदि प्रभु-सम्मित उपदेश हैं। प्रथम तो उनका अध्ययन ही आज कल सुसाध्य नहीं रहा है। दूसरे, इनके वाक्यों का राजाज्ञा के समान भय से ही पालन करना पड़ता है। पुराण-इतिहास आदि सुहृद्-सम्मित उपदेश हैं। ये मित्र के समान सदुपदेश करते हैं, परन्तु मित्र के उपदेश का प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इन दोनों से विलक्षण जो काव्य-रूप 'कान्ता-सम्मित' उपदेश है—वह

---

१ देखिये राजतरङ्गिणी।

२ नोबिल प्राईज आदि।

कान्ता की भाँति सुमधुर हृदय ग्राही उपदेश देता है। जिस प्रकार कामिनी गुरुजनों के आधीन रहनेवाले प्रियतम को अपने विलक्षण कटाक्षादि भावों की मधुरता से सरसता-पूर्वक अपने में आसक्त कर लेती है, उसी प्रकार काव्य भी सुकुमारमति, नीतिशास्त्रविमुख जनों को कोमल-कान्त-पदावली की सरसता से अपने में अनुरक्त करके फिर 'श्रीरामादि की भाँति चलना चाहिए, न कि रावणादि की भाँति' ऐसे सार-गर्भित और मधुर उपदेश करते हैं। काव्य की सुमधुर शिक्षा द्वारा हृदय-पटल पर कितना शीघ्र और कैसा विलक्षण प्रभाव पड़ता है, इसके प्रचुर प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं। एक अर्वाचीन उदाहरण ही देखिए। जयपुराधीश महाराज जयसिंह बड़े विलासी थे। उनकी विलास-प्रियता के कारण उनके राज्य की शोचनीय अवस्था हो रही थी। कविवर बिहारीलाल ने केवल—

'नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इहिकाल;
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल।'

इसी शिक्षा-गर्भित शृङ्गार-रसात्मक एक दोहे को सुनाकर महाराज जयसिंह को अन्तःपुर की एक अनखिली कली के बन्धन से विमुक्त करके राजकार्य में संलग्न कर दिया था। उपदेश में मधुरता होना बड़ा दुर्लभ है। महाकवि भारवि ने कहा है—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।'

परन्तु यह अनुपम गुण केवल काव्य में ही है।

दुःख-निवारण

के लिये भी काव्य एक प्रधान साधन है। काव्यात्मक देव-स्तुति द्वारा असंख्य मनुष्यों के कष्ट निवारण होने के इतिहास महा-

भारत आदि में उपलब्ध हैं। मध्यकाल में भी श्रीसूर्यदेव आदि से मयूर आदि[1] कवियों के दुःख निःशेष होने के उदाहरण मिलते हैं। काव्यजन्य—

आनन्द

कैसा निरुपम है, इसका अनुभव सहृदय काव्यानुरागी ही कर सकते हैं। अत्यन्त कष्ट-साध्य यज्ञादिकों के करने से स्वर्गादिकों की प्राप्ति का आनन्द कालान्तर और देहान्तर में मिलता है, पर काव्य के तो श्रवण-मात्र से ही रस के आस्वादन के कारण तत्काल—

परमानन्द

प्राप्त होता है। इस आनन्द की तुलना में अन्य आनन्द नीरस प्रतीत होने लगते हैं। कहा है—

'सत्कविरसनासूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ;
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी।'[2]

—आर्या सप्तशती

---

१ कहते हैं, मयूर कवि कुष्ठ रोग से पीड़ित होकर यह प्रण करके हरिद्वार गये थे कि 'या तो सूर्य के अनुग्रह से कुष्ठ दूर हो जायगा, नहीं तो मैं प्राण विसर्जन कर दूँगा' वहाँ वे किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा से लटकते हुए एकसौ रस्सी के छींके पर बैठकर श्रीसूर्य की स्तुति करने लगे और एक-एक पद्य के अन्त में एक-एक रस्सी को काटते गये। सब रस्सियों के काटे जाने के पहले ही, काव्यमयी स्तुति से भगवान् भास्कर ने प्रसन्न होकर उनका रोग निर्मूल कर दिया।

२ सुकवि की जिह्वा-रूपी सूप से सर्वथा तुषरहित किए गये शब्द-रूपी शालि—चावल—पाक से जो परितृप्त है, वह अपनी प्रिया के अधर-रस का भी आदर नहीं करता, तब बेचारी सुधा-दासी तो वस्तु ही क्या है।

बहुत से लोग काव्य-रचना एवं काव्यावलोकन करते हैं पर उनकी काव्य-रचना प्रायः भाव-गर्भित और चित्ताकर्षक नहीं हो सकती और न उनको काव्यावलोकन द्वारा यथार्थ आनन्दानुभव ही हो सकता है। इसका कारण यही है कि वे प्रायः साहित्य-शास्त्र से अभिज्ञ नहीं होते और न वे अभिज्ञ होने का कष्ट ही उठाते हैं। इस विषय में कविवर मङ्खक ने कहा है—

'अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान्हालाहलास्वादनमारभन्ते।'

—श्रीकण्ठचरित

अर्थात् साहित्यसास्त्रके अध्ययन द्वारा पाण्डित्य के रहस्य को न जानकर जो लोग यह अभिमान करते हैं कि हम काव्य के ज्ञाता हैं, वे विष-विनाशक गारुडीय मंत्रों का अध्ययन किए विना ही हालाहल का पान करना चाहते हैं। अतएव जिस प्रकार भाषा की विशुद्धता के ज्ञानके लिए व्याकरण का अध्ययन अपेक्षित है, उसी प्रकार काव्य-निर्माण और उसके आस्वादन के लिए, काव्य-निर्माता एवं काव्यानुरागी जनों को।

साहित्य शास्त्र

का अध्ययन परमावश्यक है। साहित्य-ग्रन्थों द्वारा ही काव्य के स्वरूप और उसके गुण दोषों का एवं काव्यके साधन तथा रहस्य का ज्ञान प्राप्त होता है। काव्य निर्माण के लिये किस किस

साधन

की आवश्यकता है, इस विषयमें काव्यप्रकाश में कहा है—

'शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ;
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।'

काव्य-रचना के लिए शक्ति, निपुणता और अभ्यास का होना आवश्यक है—

'शक्ति' काव्य का बीज-रूप एक संस्कार विशेष है। इसके द्वारा काव्य-निर्माण करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसके बिना काव्य रचना का अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि होता भी है तो उपहास जनक। इसको 'प्रतिभा' भी कहते हैं। इसका लक्षण यह है—

"मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ;
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।"

—रुद्रट का काव्यालङ्कार।

अर्थात् जिस से स्थिर चित्त में अनेक प्रकार के शब्दों का स्फुरण और कठिनता-रहित कोमल पदों का भान होता है उसे 'शक्ति' कहते हैं।

'निपुणता' कहते हैं व्युत्पत्ति को। अर्थात् स्थावर-जङ्गमात्मक लौकिक वृत्त और शास्त्र अर्थात् काव्य रचना के उपयोगी छन्द, व्याकरण, कोष, कला, चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष); गज, अश्व, खड्ग आदि के लक्षण ग्रन्थ, महाकवियों द्वारा प्रणीत महाकाव्य और महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा निपुणता प्राप्त करना।

'अभ्यास' कहते हैं; काव्य-निर्माण और सद्, असद् विचार करने में कुशल गुरु के उपदेश द्वारा काव्य-रचना में और प्रबन्धादिकों के गुम्फन करने में बारबार प्रवृत्त होना।

शक्ति, निपुणता और अभ्यास, दण्डचक्रादि-न्याय के अनुसार, तीनों ही, न कि इनमें एक या दो, काव्य के निर्माण के साधन

हैं। कुछ आचार्यों[1] का मत है कि काव्य-निर्माण के लिये निपुणता का होना अवश्यक नहीं, केवल प्रतिभा ही पर्याप्त है। हाँ, काव्य निर्माण में प्रतिभा प्रधान अवश्य है, पर प्रतिभा से केवल हृदय में शब्द और अर्थ का स्फुरण मात्र ही होता है, किन्तु सार का ग्रहण और असार का त्याग निपुणता द्वारा ही हो सकता है। अतएव लोकवृत्त और शास्त्रों के ज्ञान द्वारा प्राप्त निपुणता की नितान्त आवश्यकता है, और इसी प्रकार काव्य के अभ्यास की भी परमावश्यकता है। अतः अधिकतर आचार्यों[2] का मत यही है कि ये तीनों ही काव्य-निर्माण के लिये अपेक्षित हैं।

काव्य क्या है ?

इस विषय में यहाँ संक्षेप में केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि काव्य में—

ध्वनि और अलङ्कार

ही मुख्य पदार्थ हैं। ध्वनि कहते हैं व्यंग्यार्थ को। व्यङ्ग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जाता। व्यंग्यार्थ की ध्वनि ही प्रतीत होती है। कहा है—

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्;
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।'

—ध्वन्यालोक।

अर्थात् महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ से अतिरिक्त जो प्रतीयमान अर्थ—ध्वनि रूप व्यङ्ग्य अर्थ—है, वह एक विलक्षण पदार्थ है। वह काव्य में उसी प्रकार शोभित होता है, जैसे

---

१ देखिये, हमारा संस्कृत साहित्य का इतिहास, दूसरा भाग पृ० १७।

२ देखिये, हमारा संस्कृत साहित्य का इतिहास, दूसरा भाग पृ० १३–१६।

चन्द्रानना ललनाओं के शरीर में हस्तपाद आदि प्रसिद्ध अवयवों (अङ्गों) के अतिरिक्त लावण्य। काव्य के प्राण रस, भाव आदि प्रतीयमान (व्यङ्ग्यार्थ) ही होते हैं—उनकी ध्वनि ही निकलती है। रसों के नाम शृङ्गारादि कह देने और सुन लेने मात्र से कुछ भी आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, उनकी व्यंजना ही आस्वादनीय होती है।

अलङ्कार

कहते हैं आभूषणों को। जिस प्रकार सौन्दर्यादि गुण-युक्त रमणी सुवर्ण और रत्नों के आभूषणों से और भी अधिक रमणीयता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलङ्कारों से युक्त काव्य सहृदयों के लिये अधिक आह्लादक हो जाता है। भगवान् वेदव्यासजी ने कहा है—

'अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ;
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।'
—अग्निपुराण, ३४४।१०२

बहुत से पाश्चात्य 'सभ्यता' के अनुगामी विद्वान् व्यङ्ग्य और अलङ्कारात्मक काव्य को उत्कृष्ट काव्य नहीं मानते। वे केवल सृष्टिवैचित्र्य-वर्णनात्मक नैसर्गिक काव्य में ही काव्यत्व की चरम सीमा समझते हैं। यही कारण है कि काव्य-पथ प्रदर्शक ग्रन्थ उनको अनावश्यक प्रतीत होते हैं। इस विषय में यह कहना पर्याप्त है कि सृष्टि-वर्णनात्मक काव्य के साथ जब व्यङ्ग्य और अलङ्कार का संयोग हो जाता है, तभी वे उत्कृष्ट काव्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। देखिए—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ;
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'
—वाल्मीकीय रामायण।

वाल्मीकीय रामायण का यही मूल-भूत श्लोक है। महर्षि वाल्मीकि के देखते हुए क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से कामोन्मत्त नर क्रौञ्च को व्याध ने मार डाला। भूमि में गिरे हुए और रुधिरलिप्ताङ्ग उस मृत सहचर की दयनीय दशा देखकर वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर क्रौञ्ची ने अत्यन्त कारुणिक क्रन्दन किया। उसे सुनकर दयालु महर्षि के चित्त में उस समय जो शोक—करुणरस—उत्पन्न हुआ, वही इस श्लोक में ध्वनित होता है। वही शोक दयार्द्र हृदय महर्षि के मुख से क्रौंच-घाती व्याध के प्रति इस श्लोक द्वारा परिणत हुआ है[१]।

यह एक साधारण स्वाभाविक वर्णन है। इस वर्णन के वाच्यार्थ में कुछ भी चित्ताकर्षक चमत्कार नहीं है। अतएव इस स्वाभाविक वर्णन में व्यङ्ग्यार्थ से अनभिज्ञ किसी व्यक्ति को कुछ भी आनन्दानुभव नहीं हो सकता है। परन्तु इसके करुणोत्पादक व्यङ्ग्यार्थ में महानुभाव महर्षि वाल्मीकि के करुणा-प्लावित चित्त का जो अप्रतिम मृदुल भाव व्यञ्जित होता है, वह सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के चित्त को एक वार ही आकर्षित कर लेता है और इसका आनन्दानुभव साहित्य ग्रन्थों के अध्ययन-शील विद्वान् ही कर सकते हैं। यह ध्वनि-गर्भित मानसिक अन्तः सृष्टि-वर्णन है। ध्वनि-गर्भित वाह्य सृष्टि-वर्णन भी देखिए—

गिरि है ये वही शिखिवृन्द यहाँ मद-पूरित कूक सदा करते,
वन भी हैं वही मद-मत्त यहाँ मृग-यूथ विनोद रचा करते,

कहा है—

१ 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा;
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।"
—ध्वन्यालोक

यह वंजुल-कुंज वही हैं यहाँ, कुछ काल विराम किया करते,
सरिता तट मंजु यहाँ हम आ मन-मोहक दृश्य लखा करते।'

शम्बूक का वध करके अयोध्या को लौटते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र पूर्वानुभूत दण्डकारण्य को देखकर कह रहे हैं—'यह वही मयूरों की केका-युक्त पर्वतों का मनोहारी दृश्य है। यह वही मत्त मृग श्रेणियों से सुशोभित वनस्थली है। ये वे ही सौन्दर्य-शाली मञ्जुल लताओं से युक्त नीरन्ध्र-सघन-निचुलवाले नदियों के तट हैं।' यह एक नैसर्गिक वर्णन है। यहाँ दण्डक-वन के निरीक्षण से भगवान् श्रीरामचन्द्र को भगवती जनक-नन्दिनी के साथ पहले किया हुआ आनन्दमय विहार स्मरण हो आने में जो-'अवश्य ही ये सारी वस्तुएँ वे ही हैं, जिनके रमणीय दृश्य से जनक-नन्दिनी की अलौकिक भाव-माधुरी से प्रमोदित मेरे हृदय में अनुपम आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो जाता था, हा! अब उसके वियोग में वही अनुपम दृश्य कुछ और ही प्रतीत हो रहा है—मुझे अत्यन्त असह्य सन्ताप दे रहा है'। यहाँ यह स्मृतिभाव व्यङ्ग्यार्थ है, वह 'वही' और 'वह ही' इत्यादि पदों से ध्वनित हो रहा है। यह व्यंग्यार्थ ही इस नैसर्गिक वर्णन का जीवन सर्वस्व है। अब एक अलङ्कार मिश्रित नैसर्गिक वर्णन भी देखिए-

अति वेगतें हाँकत वाजि रु, तूनसौं वान निकारिके हाथ लिये—
लखि आवत सामुहेही नृपकों विखरे मृग जूथ सभीत भये,

---

१ यह उत्तर रामचरित के निम्नलिखित पद्य का भावानुवाद है—

'एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा—
स्तान्येव मत्त हरिणानि वनस्थलानि।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि।'

अँसुआ भरे दृष्टिनिपातनसों उनने वन स्याम बनाय दिये,
उड़ि पौन सौं नील सरोजन की पँखुरीन ज्यों वे अभिराम किये।'[१]

इसमें कवि-कुल-भूषण कालिदास ने महाराजा दशरथ की मृगया (शिकार) का वर्णन किया है। 'वेगवान घोड़े पर आरूढ़ तूणीर से बाण निकालते हुए राजा को अपने सामने आते हुए देखकर तितर-बितर हुए मृग-समूह ने अपने अश्रु-प्लावित और सभय दृष्टि-पातों से वन को श्यामल कर दिया।' तीन पादों में यह नैसर्गिक वर्णन है और चौथे पाद में मृग-समूह के उन दृष्टि-पातों को, पवन के वेग से विखरे हुए नील कमल-दलों के वृन्द की उपमा दी गई है। इस उपमा के संयोग से वस्तुतः इस नैसर्गिक वर्णन की मन-मोहिनी छटा में अपरिमित आनन्द की घटा छा गई है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा ज्ञात होता है कि ध्वनि अथवा अलङ्कार-गर्भित काव्य कैसा चित्ताकर्षक होता है। इसका आनन्दानुभव सहृदय साहित्यिक विद्वान् ही कर सकते हैं। हां, यह सत्य है कि वस्तु-विशेष किसी को अत्यन्त रुचिकर होती है, वही दूसरे व्यक्ति को तादृश आनन्दजनक न होकर कदाचित् अरुचिकर भी हो सकती है। महाकवि कालिदास ने इन्दुमति के स्वयम्बर के प्रसङ्ग में वर्णन किया है कि अङ्गराज से दृष्टि हटाकर राजकुमारी इन्दुमति ने सुनन्दा से आगे

---

१ यह रघुवंश के निम्नलिखित पद्य का भावानुवाद है—
'तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपंक्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै—
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥'

चलने को कहा। इसका यह अर्थ नहीं कि वह राजा सौन्दर्यादि-गुण-सम्पन्न न था, और यह बात भी नहीं थी कि इन्दुमति, वर की परीक्षा करने में अनभिज्ञ थी। फिर इन्दुमति ने अङ्गराज को वरण क्यों नहीं किया? महाकवि कहते हैं--'अङ्गराज को इन्दुमति ने वरण नहीं किया, इसलिये वह अयोग्य नहीं कहा जा सकता और न इन्दुमति ही वर-परीक्षा में अयोग्य कही जा सकती है। वास्तव में बात यह है कि 'भिन्न रुचिर्हिलोके', किसी वस्तु के त्याग और ग्रहण में भिन्न भिन्न रुचि ही एकमात्र कारण है। किन्तु यह तो बात ही दूसरी है। यहाँ तो प्रश्न काव्य के आनन्दानुभव का है। अतएव केवल नैसर्गिक-प्रकृति वर्णनात्मक काव्य को व्यङ्ग्य एवं अलङ्कार युक्त काव्य से उत्कृष्ट कहना, काव्य के रहस्य से अनभिज्ञता मात्र ही है। अतएव साहित्य जैसे रसावह और जटिल विषय को भली भाँति समझने और समझाने के लिये साहित्यशास्त्र के अध्ययन की बहुत आवश्यकता है। खेद है कि हिन्दी के ग्रंथकारों ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। हिन्दी के प्राचीन रीति ग्रन्थों में प्रथम तो पद्य में दिये गये लक्षण अस्पष्ट हैं, फिर उनका स्पष्टीकरण वार्तिक में न किया जाने के कारण वे बहुत ही संदिग्ध रह गये हैं। उनके द्वारा विषय का समझना कठिन ही नहीं, कहीं कहीं पर तो दुर्बोध भी हो गया है।

इस ग्रंथ में

इस विषय के संस्कृत ग्रन्थों के विवेचन के अनुसार लक्षण सूत्र-रूप गद्य में दिये गये हैं। लक्षणों को समझाने एवं उदाहरणों में लक्षणों का समन्वय करने के लिये वार्तिक-वृत्ति में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। अधिकाधिक उदाहरण देकर विषय को यथासाध्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

उपयोग किया है[1]। प्रस्तुत संस्करण उन महाशयों के ग्रन्थों के बाद निकल रहा है। अतएव इस ग्रंथ में तदनुरूप गद्य और पद्य देखकर आशा है समालोचक महोदय कोई दोषारोपण इस क्षुद्र लेखक पर न करेंगे।

प्रथम संस्करण (अलङ्कारप्रकाश) का जितना आदर हुआ था, उससे कहीं अधिक दूसरा संस्करण (काव्यकल्पद्रुम) और तीसरा संस्करण (काव्यकल्पद्रुम के दोनों भाग रसमञ्जरी और अलङ्कारमञ्जरी) लोक-प्रिय सिद्ध हुए हैं। काव्यकल्पद्रुम साहित्य-सम्मेलन की उत्तमा और आगरा एवं कलकत्ते आदि के विश्व-विद्यालयों में भी बी०ए०, एम०ए० के पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित हो गया है।

प्रथम भाग (रसमञ्जरी) में प्रधानतः रस विषय है। इस में रस, भाव आदि विषयों का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि का जो विवेचन किया गया है, वह रस विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक है, क्योंकि रस ध्वनित होता है—अतएव 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जाय, रस का वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। और व्यंग्यार्थ को समझने के लिये शब्द, अर्थ और अभिधा आदि शब्द-शक्तियों का अध्ययन भी अत्यावश्यक है। 'गुण' रस के धर्म हैं, अतएव 'रस' सम्बन्धी उक्त सभी विषयों का निरूपण इसी भाग में किया गया है।

१ इसका दिक्दर्शन द्वितीय भाग 'अलङ्कारमंजरी', के तृतीय संस्करण की भूमिका में कराया गया है।

उदाहरण केवल लेखक की स्वयं रचना के ही नहीं, अन्य कवियों का रचना के भी रक्खे गये हैं। अन्य कवियों के उदाहरण इनवर्टेड कामा में (" " ऐसे चिह्नों के अन्तर्गत) लिखे गये हैं। लेखक की निजी कुछ रचनाएँ संस्कृत ग्रन्थों से अनुवादित भी हैं। संभव है अनूदित पद्यों में कुछ पद्य ऐसे भी हों जिनके साथ हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के पद्यों का भाव-साम्य हो, ऐसे भाव-साम्य का कारण केवल यही हो सकता है कि जिस संस्कृत पद्य का अनुवाद करके इस ग्रंथ में लिखा गया है, उसी पद्य का उपयोग हिन्दी के प्राचीन ग्रंथकार ने भी किया हो। ऐसी परिस्थिति में भाव-साम्य ही नहीं, कहीं-कहीं शब्द-साम्य भी हो सकता है।

उदाहरणों के विषय में यहाँ एक बात और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कुछ महाशयों ने, जैसे बाबू जगन्नाथप्रसादजी 'भानु' ने 'काव्यप्रभाकर' में, लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने 'अलङ्कार मंजूषा' और 'व्यङ्ग्यार्थमञ्जूषा' में और पं० रमाशंकरजी शुक्ल 'रसाल' ने 'अलङ्कारपीयूष' में अनेक स्थलों पर इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (अलङ्कारप्रकाश) और द्वितीय संस्करण (काव्य कल्पद्रुम) के पद्य और गद्य-प्रकरण अविकल रूप में और अनेक स्थलों पर कुछ परिवर्तित करके उद्धृत करने की कृपा की है। इस विषय में उन ग्रन्थों की आलोचनाएँ 'माधुरी' और 'साहित्य-समालोचक' आदि में हुई हैं। वास्तव में तो इन महानुभावों ने ऐसा करके इस ग्रन्थ का आदर ही किया है। यहाँ इस विषय का उल्लेख केवल इसीलिये किया जाना आवश्यक समझा गया है कि 'भानुजी' आदि महाशयों ने इस ग्रन्थ से उद्धृत अंश को अवतरण रूप में न लिखकर उसका अपनी निजी कृति की भाँति

उपयोग किया है[1]। प्रस्तुत संस्करण उन महाशयों के ग्रन्थों के बाद निकल रहा है। अतएव इस ग्रंथ में तदनुरूप गद्य और पद्य देखकर आशा है समालोचक महोदय कोई दोषारोपण इस क्षुद्र लेखक पर न करेंगे।

प्रथम संस्करण (अलङ्कारप्रकाश) का जितना आदर हुआ था, उससे कहीं अधिक दूसरा संस्करण (काव्यकल्पद्रुम) और तीसरा संस्करण (काव्यकल्पद्रुम के दोनों भाग रसमञ्जरी और अलङ्कारमञ्जरी) लोक-प्रिय सिद्ध हुए हैं। काव्यकल्पद्रुम साहित्य-सम्मेलन की उत्तमा और आगरा एवं कलकत्ते आदि के विश्व-विद्यालयों में भी बी०ए०, एम०ए० के पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित हो गया है।

प्रथम भाग (रसमञ्जरी) में प्रधानतः रस विषय है। इस में रस, भाव आदि विषयों का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और ध्वनि का जो विवेचन किया गया है, वह रस विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक है, क्योंकि रस ध्वनित होता है—अतएव 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जाय, रस का वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। और व्यंग्यार्थ को समझने के लिये शब्द, अर्थ और अभिधा आदि शब्द-शक्तियों का अध्ययन भी अत्यावश्यक है। 'गुण' रस के धर्म हैं, अतएव 'रस' सम्बन्धी उक्त सभी विषयों का निरूपण इसी भाग में किया गया है।

१ इसका दिक्दर्शन द्वितीय भाग 'अलङ्कारमंजरी', के तृतीय संस्करण की भूमिका में कराया गया है।

रस विषय के हिन्दी के प्रचलित ग्रन्थों में नायिका-भेदों को प्रधान स्थान दिया गया है। उस विषय के पिष्टपेषण से इस ग्रन्थ का कलेवर व्यर्थ न बढ़ाकर, रस विषयक अन्य अत्यन्त महत्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों का, जो हिन्दी के प्राचीन एवं आधुनिक ग्रन्थों में तो संमावेश प्रायः किया ही नहीं गया है, किन्तु संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में भी बिखरे हुए दृष्टिगत होते हैं, उनका एकत्र समावेश किया गया है। जिन-जिन विषयों में प्रसिद्ध साहित्याचार्यों का मत-भेद है, उन मत-भेदों का, विषय को बोध-गम्य करने के लिये, दिग्दर्शन रूप में, प्रसङ्ग प्राप्त उल्लेख भी कर दिया गया है।

द्वितीय भाग—अलङ्कारमञ्जरी[१]—में अलङ्कार विषय है। द्वितीय भाग का चतुर्थ संस्करण जो हाल ही में मुद्रित हुआ है वह भी पहिले से बहुत कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित कर दिया गया है।

हिन्दी के आचार्य

द्वितीय संस्करण की समालोचना करते हुए कुछ महानुभावों ने यह आक्षेप किया था कि इसमें संस्कृत-साहित्य के आचार्यों के मतों का ही उल्लेख है, हिन्दी के आचार्यों के मत को प्रदर्शित नहीं किया गया है। सत्य तो यह है कि हिन्दी के आचार्यों का कोई स्वतन्त्र मत है ही नहीं—उनके ग्रन्थों के मूल-श्रोत संस्कृत साहित्य-ग्रन्थ ही हैं। जैसे, महाकवि केशवदासजी की कविप्रिया का मूल-आधार दण्डी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्य-

---

१ हिन्दी साहित्यसम्मेलन प्रयाग के अनुरोध से काव्यकल्पद्रुम के द्वितीय भाग 'अलङ्कारमञ्जरी' का एक संक्षिप्त संस्करण भी कर दिया गया है जो 'संक्षिप्त अलङ्कार मञ्जरी' नाम से प्रकाशित हुआ है।

मीमांसा और केशव मिश्र का अलङ्कारशेखर या इसी श्रेणी का काव्यकल्पलता आदि अन्य कोई ग्रन्थ है। श्रीहरिचरणदास के सभाप्रकाश और श्रीभिखारीदास के काव्य-निर्णय का आधार क्रमशः साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश हैं। इसी प्रकार महाराज जसवंतसिंह के भाषा भूषण, पद्माकर के पद्माभरण आदि अलङ्कार-ग्रन्थों का आधार विशेषतः कुवलयानन्द है। हिन्दी के और भी रस एवं नायिका-भेद के ग्रन्थों के आधार प्रायः साहित्यदर्पण और रसतरङ्गिणी आदि हैं।

निःसन्देह हिन्दी भाषा के प्राचीन कवि बड़े प्रतिभाशाली हुए हैं। किन्तु उनका प्रधान ध्येय संभवतः व्रजभाषा-साहित्य की अभिवृद्धि करना ही था। उन्होंने प्रायः शृंगार-रस के आलम्बन-और उद्दीपन-विभाव नायिका भेद और षट्ऋतु आदि एवं अनुभाव आदि के वर्णनों में ही विषय को समाप्त कर दिया है। अलङ्कार विषय का भी उन्होंने बहुत साधारण और संक्षिप्त रूप में निरूपण किया है। संस्कृत-साहित्य-ग्रन्थों में किए गए गम्भीर और मार्मिक विवेचन को तो उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। इसका दुस्परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रतिभाशाली विद्वानों द्वारा जैसे गम्भीर रीति-ग्रन्थ लिखे जाने चाहिये थे वैसे नहीं लिखे गए। ये महानुभाव साहित्य-विषय को स्वयं कहाँ तक समझ सके और अपने ग्रन्थों के आधारभूत संस्कृत-ग्रन्थों के अनुसार विषय को समझाने में कहाँ तक कृतकार्य हुए हैं, इस पर प्रकाश डालना हिन्दी-साहित्य के लिये परम उपयोगी है।

इस सम्बन्ध में यहाँ संक्षिप्त में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। हिन्दी के प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर यह बात लिख तो अवश्य दी है कि रस और स्थायी एवं संचारी भावों को स्वशब्द से

स्पष्ट कथन किया जाना; दोष है। फिर भी उनके ग्रन्थों में जो उदाहरण दिखाये गये हैं, उनमें प्रायः रस और स्थायी आदि भावों का स्वनाम से स्पष्ट कथन देखा जाता है—

"मींडि मार्‌यो कलह वियोग मार्‌यो बोरि कै,
मरोरि मार्‌यो अभिमान मर्‌यो भय मान्यौ है;
सबको सुहाग अनुराग लूटि लीन्हों दीन्हों,
राधिका कुँवरि कहँ सब सुख सान्यो है।
कपट-झटाके डर्‌यो निपटि कै औरन सौं,
भेटी पहिचान मन में हू पहिंचान्यो है।
जीत्यो रति-रन मथ्यो मनमथहू को मन,
'केसोराइ' कौनहू पै रोष उर आन्यो है।"

रसिकप्रिया में महाकवि केशवदासजी ने इस पद्य को रौद्र रस के उदाहरण में लिखा है पर यहाँ रोष स्थायी भाव का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।

"टूटे टाटि घुन घने घूम-घूम सेन सने,
झींगुर छगोड़ी साँप बिच्छिन की घात जू;
कंटक कलित गात तृन वलित बिगंध जल,
तिनके तलप तल ताको ललचात जू;
कुलटा कुचील, गात अंधतम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेड़ी में घुसे कि घर ईंधन के घनस्याम,
घर-घरनीनि यह जात न घिनात जू।"

रसिकप्रिया में इस पद्य को वीभत्स-रस के उदाहरण में लिखा गया है। यहाँ भी वीभत्स के स्थायी भाव 'घिनात' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।

"काहू एक दास काहू साहब की आस में,
कितेक दिन बीतें रीत्यो सबै भाँति बल है ;
बिथा जो बिनै सों करै उत्तर याह सो लहै,
सेवा-फल है ही रहै, यामें नहिं चल है।
एक दिन हास-हित आयो प्रभु पास तन—
राखे ना पुराने बास कोऊ एक थल है ;
करत प्रनाम सो बिहँसि बोल्यो यह कहा ?
कह्यो कर जोरि देव-सेवा ही को फल है।"

इस पद्य को काव्यनिर्णय में भिखारीदासजी ने हास्य रसके उदाहरण में लिखा है। यहाँ हास का स्पष्ट कथन हो गया है।

"गैंद के लाइबे के मिस कै हसिकैं कढ़ि ग्वालिन संग बिहार तें ;
पीत पटी कटि सौं कसिकै उर में डरप्यो न कलिंदी की धारतें।
ए 'ससिनाथ' कहा कहिए जु बढ़ी अरुनाई उछाह अपार तें।
काली फनिंद के कंदन को चढ़ि कूद्यो गुबिंद कदंब की डार तें।"

सोमनाथजी ने रसपीयूष में इस पद्य को वीर रस के उदाहरण में लिखा है, पर यहाँ वीर रस के स्थायी उत्साह का शब्द द्वारा कथन है।

"कहा कीन्हीं असमै अनीति दसकंठ कंत,
हरि लायौ सिया कों सु ताको फल पावेगौ ;
सेत बाँधि सिंधु में अडिग्ग पथ कीन्हौं उनि,
कौन अब ऐसो समुझाय जु बचावेगौ।
बूड़ि-बूड़ि जात मन मेरो भय सागर में,
कहा जानौं कैसे त्रास आँखिन दिखावेगौ ;
बन्दी करि सब कीस वारै रघुनन्दन आय,
हाय-हाय हाथें हाथ लंकहि लुटावेगौ।"

रसपीयूष में इस पद्य को भयानक रस में लिखा है, यहाँ भयानक रस के स्थायी भय और त्रास सञ्चारी का शब्द द्वारा कथन है। और—

"हा-हा तुहूँ चलि देखि भटू अजहूँ वह पालने लाल परयो है ;
जाहि निहारि कहै 'ससिनाथ' अचंभौ महा व्रज मांहि भरयो है।
ठौरहि ठौर यही चरचा, गृह-काज, समाज सबै बिसरयो है ;
नैक से नंद के छोहरा री, पग सौं सकटासुर चूर करयो है।"

रसपीयूष में इस पद्य को अद्भुत रस के उदाहरण में लिखा है, किन्तु इसमें 'अचंभौ' पद से अद्भुत रस का शब्द द्वारा कथन है।

"दान न द गई मोसौं कह्यो मैं कह्यो नँदगामु में बेचति नाँही,
लै गयो छीन छला चट सौं नट तातें परी यहि झंझट माँहीं।
वार लगीन है 'वेनीप्रवीन' कहै सपनो सपनो यहिं ठाहीं,
है अलि ताको बतावति क्यों न गहे ललिता को न छोड़ति बाहीं।"

इस पद्य को वेनीप्रवीन ने नवरस तरंग में 'स्वप्न' संचारी के उदाहरण में लिखा है। यहाँ 'सपनो सपनो' में स्वप्न का शब्द द्वारा कथन है।

"निसि जागी लागी हिये प्रीति उमंगत प्रात ;
उठि न सकत आलस बलित सहज सलोने गात।"

पद्माकरजी ने जगद्विनोद में इस पद्य को आलस्य संचारी के उदाहरण में लिखा है। यहाँ 'आलस' का स्पष्ट कथन है।

"मठा तें, मथानी तें, मथन तें, सु माखन तें
मोहन की मेरे मन सुधि आय-आय जात।"

इस पद्य को ग्वाल कवि के 'रसरंग' में स्मृति भाव के उदाहरण में दिया है, पर 'सुधि' पद से स्मृति का स्पष्ट कथन है।

"हरि भोजन जब तें दए तेरे हित बिसराय।
दीन भयो दिन भरत है, तब ते हाहा खाय।"

इस पद्य को रसलीन ने अपने 'रसप्रबोध' में दैन्य संचारी क उदाहरण में दिया है। यहाँ दीन शब्द से दैन्य का स्पष्ट कथन है।

यह दिक्दर्शन मात्र है। इसके लिये विस्तृत आलोचना अपेक्षित है। किन्तु इस क्षुद्र लेखक को प्राचीन आचार्यों की आलोचना करना अभीष्ट नहीं है। महान् साहित्याचार्य श्री आनन्दवर्धनाचार्य का कहना है कि असंख्य सरस सूक्तियों द्वारा अपने यश को उज्ज्वल करने वाले लब्धप्रतिष्ठ महानुभावों के दोषों का उद्घाटन करना स्वयं अपने को ही दोषी करना है—

"तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मनएव दूषणं।"—ध्वन्यालोक, उद्योत २।

अतएव जिन महानुभावों द्वारा हिन्दी साहित्य की अनिर्वचनीय श्रीवृद्धि हुई है और जिनके अकथनीय परिश्रम का आज यह फल है कि हम लोग साहित्य-क्षेत्र में अभिमान कर सकते हैं, उन महानुभावों को आदरास्पद समझकर उनका सर्वतोभावेन अनुग्रहीत होना ही उचित है। इस ग्रन्थ में हिन्दी के प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों के विषय में जो आलोचनात्मक कुछ शब्द प्रसङ्ग वश लिखे गये हैं, वह छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं, केवल प्रतिपादित विषय की स्पष्टता करने के लिये आवश्यक समझकर ही लिखे गये हैं। अब इस प्रसंग में जो—

हिन्दी के आधुनिक साहित्य-ग्रन्थ

प्रकाशित हुए हैं, उनके विषयमें भी कुछ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। कविराजा मुरारीदानजी का 'जसवंतजसो-

भूषण', श्रद्धेय विद्यामार्तण्ड पण्डित श्री सीतारामजी शास्त्री का 'साहित्यसिद्धान्त', श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'काव्यप्रभाकर श्री बाबूराम बिथ्थरिया का हिन्दीमें 'नवरस', श्री भगवानदीनजी 'दीन' की व्यंग्यमंजूषा, श्री गुलाबराय एम० ए० का 'नवरस' और श्रद्धेय पण्डित श्री अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध' का 'रस-कलश' आदि अनेक ऐसे साहित्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनमें रस विषय का उल्लेख है—

कविराजा मुरारीदानजी प्रणीत 'जसवंतजसोभूषण' अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण है। इसमें रस विषय पर संक्षिप्त रूपमें जो लिखा गया है, वह संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसार है और उपयोगी है। पर इस ग्रन्थ में कविराजा ने एक नवीन सिद्धान्त यह प्रतिपादन किया है कि अलङ्कारों के नामों के अन्तर्गत ही सभी अलङ्कारों के लक्षण हैं। अपने इस मतके सिद्ध करने का उन्होंने असफल प्रयास किया है। और अपने इस नवाविष्कृत सिद्धान्त के प्रतिपादन करने में उन्होंने संस्कृत के सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों की पृथक् लक्षण लिखनेकी प्रणाली का खण्डन किया है। किन्तु कविराजा इस कार्य में कृतकार्य नहीं हो सके हैं। अर्थात् न तो वे अपने नवीन सिद्धान्त को निर्भ्रान्त स्थापित कर सके हैं और न परिपाटी के खण्डन करने में ही समर्थ हुए हैं[1]।

श्रद्धेय विद्यामार्तण्डजी का 'साहित्यसिद्धान्त' हिन्दी भाषा में अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें प्रधानतः काव्यप्रकाश के अनुसार साहित्य के सभी विषयों पर मार्मिक विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में हिन्दी भाषा के पद्य उदाहरणों में न रस-

१ देखिये काव्यकल्पद्रुमके द्वितीय भाग अलङ्कारमञ्जरी की भूमिका पृ० ह, त्त, त्र, ज्ञ, और द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में हमारा 'अलङ्कार' शीर्षक लेख पृ० २१६।

कर काव्यप्रकाश के कुछ संस्कृत पद्यों को उद्धृत किया गया है। अतः यह ग्रन्थ संस्कृत के ही
लिये उपयोगी है।

'भानुजी' के 'काव्यप्रभाकर'[1], विश्थरियाजी के 'हिन्दी में नवरस'[2], दीनजी की 'व्यंग्यार्थमञ्जूषा'[3] और 'रसालजी के अलंकार पीयूष'[4] की आलोचना हम 'माधुरी' पत्रिका में कर चुके हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इन विद्वानों का यह प्रयास उनकी सर्वथा अनधिकार चेष्टा है और इन विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय पर लेखनी उठाने का व्यर्थ ही कष्ट उठाया है।

यह भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि हमारे स्नेहास्पद बाबू गुलाबरायजी एम० ए० के द्वारा रस विषय पर जैसा ग्रन्थ लिखे जाने की साहित्य-संसार आशा रखता था, वैसा ग्रन्थ वे भी न लिख सके। वृहत्काय 'नवरस' में प्राचीन परिपाटी के अनुसार नायिका भेद आदि अनावश्यक विषयों की प्रधानता तो है ही, पर उसके सिवा जिस विषय के उदाहरणों में जो पद्य रक्खे गये हैं, उनमें बहुत ही कम पद्य ऐसे हैं जो उस विषय के उदाहरण कहे जा सकते हैं, शेष पद्य केवल विषय के अनुपयुक्त ही नहीं किन्तु दोष पूर्ण होने के कारण उनके द्वारा उस विषय के सम्बन्ध में भ्रम होजाना भी सम्भव है। प्रतिपाद्य विषय रस

---

१ माधुरी पत्रिका बर्ष ७, खण्ड १ पृ० ५४, ६२ और पृ० ८३२–८३६

२ माधुरी बर्ष ७, खण्ड १ पृ० १०–१५

३ माधुरी पत्रिका बर्ष ६, खण्ड २, पृ० ३१३–३२८

४ माधुरी पत्रिका वर्ष खण्ड पृ०

का विवेचन बड़ी असावधानी से किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि नवरस में जिन संस्कृत ग्रन्थों का और साहित्य के प्रधान विषयों का उल्लेख किया गया है, उनसे एवं साहित्य के महत्व-पूर्ण विषयों से विद्वान् लेखक महाशय सम्भवतः परिचित भी नहीं हैं। आप लिखते है—

ध्वनि को प्रधानता देनेवाले आचार्यों में अभिनवगुप्त मुख्य हैं। उनके ध्वन्यालोक में ध्वनि का सिद्धान्त दिया गया है। उनका कथन है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनि'—'नवरस' पृ० ४

किन्तु ध्वनि को प्रधानता देनेवाले आचार्यों में सर्व प्रधान अज्ञातनामा ध्वनिकार एवं श्री आनन्दवर्धनाचार्य हैं। और यह बात सर्व सम्मत है कि ध्वनि-सिद्धान्त के सर्वप्रथम ग्रंथ 'ध्वन्या-लोक' के प्रणेता अज्ञातनामा ध्वनिकार और श्री आनन्दवर्धना-चार्य ही हैं, न कि अभिनवगुप्ताचार्य। आगे चलकर 'नवरस'-कार लिखते हैं—

"भरत मुनि ने जो शान्त को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया इसका कारण यह है कि शान्त का स्थाई भाव 'निर्वेद' सञ्चारी भावों में आ जाता है। फिर उसके दुहराने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी" —नवरस पृ० ५१८

किन्तु भरत मुनि ने तो शान्त को स्वतंत्र रस स्वीकार किया है और उसका स्थायी भाव 'शम' माना है, न कि निर्वेद भरत मुनि ने कहा है—

"अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः···"

"एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।"

ऐसा प्रतीत होता है कि 'नवरस' के विद्वान् लेखक ने आचार्य कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त को अलङ्कारों के अन्तर्गत प्रधानतः 'वक्रोक्ति' अलङ्कार का विषय ही समझ लिया है। किन्तु

कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है, कुन्तक ने अपने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि, अलङ्कार और रीति आदि सभी सिद्धान्तों का समावेश कर दिया है।

रस दोष का विवेचन करते हुए उक्त ग्रंथकार ने लिखा है, "शृङ्गारादि रस, स्थायी भाव और सञ्चारी भावों का स्वशब्द द्वारा कथन किया जाना दोष है।" यह तो ठीक ही है, किन्तु फिर भी 'नवरस' में रस एवं भावों के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे अधिकतर ऐसे हैं जिनमें रसों और भावों के नाम स्पष्ट आ गये हैं। अस्तु,

श्रद्धेय हरिऔधजी का 'रसकलश' विद्वत्तापूर्ण होने पर भी उसमें दिए गये उदाहरणों में रस, भाव आदि के नाम स्व-शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, यह चिन्त्य है। इसके सिवा रसकलश में देश सेविका आदि नायिकाओं का जो नवाविष्कार कियागया है वह नवीन तो अवश्य है किन्तु शृंगार रस के आलम्बन-विभावों के अन्तर्गत चिन्तनीय है। श्री हरिऔधजी की काव्य-रचना की अव्याहत प्रतिभा के कारण उनका 'रसकलश' वस्तुतः आधु-निक हिन्दी साहित्य-ग्रन्थों में गौरवास्पद स्थान रखता है।

प्रस्तुत पंचम संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द

हर्ष का विषय है कि भगवान् श्री राधागोविन्ददेवजी की कृपा से इस ग्रन्थ के पंचम संस्करण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। निस्सन्देह साहित्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों की गुण-ग्राहकता और अनुग्रह का ही यह फल है।

इस संस्करणमें भी कतिपय स्थानोंमें विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरण भी नये-नये रखकर ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ा दी गई है। विषय को पृथक्-पृथक् विभक्त करके नये-नये शीर्षक कर दिये गये हैं

एवं विषय की स्पष्टता के लिये कतिपय विषयों को प्रसङ्गानुकूल स्थानान्तर भी कर दिया गया है।

आशा है, यह ग्रन्थ केवल हिन्दी ही के नहीं, संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये भी उपादेय होगा, और हिन्दी एवं संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों के भी मनन करने योग्य एवं मनोरंजन के लिये एक नवीन वस्तु होगी।

प्रथम तो रस और अलङ्कार विषय ही अत्यन्त जटिल है दूसरे, ग्रन्थ का अधिकृत आलोचनात्मक विषय तो बहुत ही विवादास्पद है। अतएव संभव है, इस ग्रन्थ में बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गई हों। लेखक इस विषय में कहाँ तक कृतकार्य हो सका है, यह तो सहृदय काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों की समालोचना पर निर्भर है—

"एकः सूते कनकमुपलं तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः।"

अस्तु अब अधिक कुछ निवेदन न करके सहृदय महानुभाव काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में कविराज भट्ट नारायण की निम्न लिखित सूक्ति प्रार्थना-रूप उद्धृत की जाती है—

'कुसुमाञ्जलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र ;
मधुलिह इव मधुबिन्दून्विरलानपि भजत गुणलेशान्।'

मथुरा
विक्रमीय सं० २००३

विनीत
साहित्य का एक नगण्य सेवक
कन्हैयालाल पोद्दार

विषय अनुक्रमणिका

—:❀:—

एवं विषय की स्पष्टता के लिये कतिपय विषयों को प्रसङ्गानुकूल स्थानान्तर भी कर दिया गया है।

आशा है, यह ग्रन्थ केवल हिन्दी ही के नहीं, संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये भी उपादेय होगा, और हिन्दी एवं संस्कृत के काव्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों के भी मनन करने योग्य एवं मनोरंजन के लिये एक नवीन वस्तु होगी।

प्रथम तो रस और अलङ्कार विषय ही अत्यन्त जटिल है दूसरे, ग्रन्थ का अधिकृत आलोचनात्मक विषय तो बहुत ही विवादास्पद है। अतएव संभव है, इस ग्रन्थ में बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गई हों। लेखक इस विषय में कहाँ तक कृतकार्य हो सका है, यह तो सहृदय काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों की समालोचना पर निर्भर है—

"एकः सूते कनकमुपलं तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः।"

अस्तु अब अधिक कुछ निवेदन न करके सहृदय महानुभाव काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में कविराज भट्ट नारायण की निम्न लिखित सूक्ति प्रार्थना-रूप उद्धृत की जाती है—

'कुसुमाञ्जलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र;
मधुलिह इव मधुबिन्दून्विरलानपि भजत गुणलेशान्।'

मथुरा
विक्रमीय सं० २००३

विनीत
साहित्य का एक नगण्य सेवक
कन्हैयालाल पोद्दार

विषय अनुक्रमणिका

—:❀:—

इस ग्रन्थ में जिन कवियों के पद्य उदाहरणों में दिये गये हैं उनकी नामावली पद्य (छन्द) संख्या के अनुसार

नामानुक्रमणिका उन ग्रन्थों और व्यक्तियों की जिनका इस ग्रन्थि में उल्लेख है और जहाँ-जहाँ उनका उल्लेख है उनकी पृष्ठसंख्या ।

❀ श्रीहरिः शरणम् ❀

काव्यकल्पद्रुम

प्रथम स्तवक

मङ्गलाचरण

विघनहरन हो असरन-सरन मुद-करन
विमल मति दूषन दरौ ही गे;
बरन-करन[1] पुनि बरन-करन[2] सदा,
बरन अरुन याहि पूषन[3] करौ ही गे।
बंदन चरन जुग ध्यान हिय धारि करौं,
विनय करन सुनि भूखन[4] हरौ ही गे;
वारन-वदन[5] प्रभु ! मदन-कदनजू के—
भूषन-सदन[6] ग्रंथ भूषन[7] भरौ ही गे॥

कल्यानी ! बानी[8] ! सदा प्रनवौं पानी जोर।
मो मुख-रसनातल रुचिर करहु नृत्य थल तोर॥

---

१ वर्णों को शोभित करनेवाले या सर्वप्रथम लेखक (गणेशजी की लेखनी से ही 'महाभारत' लिखी गई थी)। २ अनेक वर प्रदान करने वाले। ३ इस ग्रन्थ का पोषण करोगे। ४ मेरी भूख को हरोगे—मेरी इच्छा पूर्ण करोगे। ५ गज वदन। ६ श्रीमहादेवजी के गृह-भूषण। ७ इस ग्रन्थ को भूषित करोगे। ८ श्री सरस्वती।

श्रीहरिः शरणम्

काव्यकल्पद्रुम

प्रथम स्तवक

मङ्गलाचरण

विघनहरन हो असरन-सरन मुद-करन
      विमल मति दूषन दरौ ही गे;
बरन-करन[1] पुनि बरन-करन[2] सदा,
      वरन अरुन याहि पूषन[3] करौ ही गे।
वंदन चरन जुग ध्यान हिय धारि करौं,
      विनय करन सुनि भूखन[4] हरौ ही गे;
वारन-वदन[5] प्रभु ! मदन-कदनजू के—
      भूषन-सदन[6] ग्रंथ भूषन[7] भरौ ही गे॥

कल्यानी ! बानी[8] ! सदा प्रनवौं पानी जोर।
मो मुख-रसनातल रुचिर करहु नृत्य थल तोर॥

---

१ वर्णों को शोभित करनेवाले या सर्वप्रथम लेखक (गणेशजी की लेखनी से ही 'महाभारत' लिखी गई थी)। २ अनेक वर प्रदान करने वाले। ३ इस ग्रन्थ का पोषण करोगे। ४ मेरी भूख को हरोगे—मेरी इच्छा पूर्ण करोगे। ५ गज वदन। ६ श्रीमहादेवजी के गृह-भूषण। ७ इस ग्रन्थ को भूषित करोगे। ८ श्री सरस्वती।

विघन-हरन सुचि नाम कामदतरु वर-सुमति-सिधि।
सेवहिँ बुध सब जाम कविपति गनपति जयति नित[1]॥

आनँद के कंद नँदनंद यदुवंसचंद!
भक्तन-दुख द्वन्द के हरैया मुकंद हौ;
गायन चरैया गज-फंद के कटैया प्रभु!
सुवैया फनिंद छीरसिंधु में सुछंद हौ।
जानि मतिमंद त्यों विवेकमंद, विद्यामंद,
छेदौ तम वृन्द नाथ! जै जय अमंद हौ;
ग्रंथ के अमंगल टारि मंगल करौ ही गे,
आपै हमारे सदा सहायक गुविंद हौ॥

धोए हरि पाद[2] आदि विधि के कमंडल सौं,
कढ़ि सुरलोक वे असोक थोक जोय जब;
उतरि तहाँ ते ईस-सीस[3] धोय धोए फेर,
सगरज-ढेर[4] हेर धार सत होय तब।
भक्तन भव-तापन औ पापन हूँ धोवै त्यों,
धोवै सँतापन हू ऐसो तव तोय अब—
सोई धोइवे की बान ध्यान करि आदि ही की,
ग्रंथ के अमंगल हू मात गंग! धोय सब॥

---

१ इसमें श्लेष से श्रीगणेशजी और जोधपुर निवासी कविवर स्वामी गणेशपुरीजी—जिनसे ग्रन्थकर्ता ने सब से प्रथम भाषाभूषन ग्रन्थ पढ़ा था—की स्तुति है। २ श्रीविष्णु भगवान् के चरण। ३ श्रीशङ्कर का मस्तक। ४ सगर राजा के साठ हज़ार पुत्रों की भस्म के ढेर।

करुन-सरुन-पद[1] पद-गुरुन तरुन अरुन सम कंजु।
वंदौ जिहिँ सुमरिन किए होहिँ सकल मुद मंजु॥

वंदौं व्यास रु आदिकवि सक्र-चाप जिमि वंक[2]।
विहितघनालंकार[3] पुनि बरन बिचित्र[4] निसंक[5]॥

सरस अभंग[6] सभंग मृदु[7] सुबरन सगुन निदोस।
कालिदास बानादि कवि जय-जय नवकृति कोस॥

कहि हरि जस न अघाय वालमीकि मुनि व्यास जनु।
प्रकटे भुवि पुनि आय वंदौं तुलसी-सूर-पद॥

———::※::———

काव्य का लक्षण

दोष-रहित, गुण एवं अलङ्कार-सहित (अथवा कहीं अलङ्कार-रहित भी) शब्दार्थ को काव्य कहते हैं।

काव्य उन शब्द और अर्थ की (दोनों की मिलकर) संज्ञा है जिनमें दोष न हो, और जो गुण एवं अलङ्कार-युक्त हों। यदि किसी रचना में अलङ्कार न भी हो, अर्थात् स्पष्टतया अलङ्कार की स्थिति न हो,

---

१ करुणा और शरण के स्थान। २ इन्द्र धनुष के समान टेढ़े, अर्थात् वक्रोक्ति युक्त। ३ इन्द्र धनुष के पक्ष में मेघ-घटा से शोभित और काव्य पक्ष में अलङ्कारों से युक्त। ४ इन्द्र धनुष के पक्ष में विचित्र (अनेक) रंगोंवाला, काव्य पक्ष में विचित्र वर्णों की रचना-युक्त। ५ शङ्का-रहित। ६ अभङ्ग (अभङ्ग श्लेष-युक्त) होकर भी सभङ्ग (सभंग श्लेष) युक्त। ७ सुवर्ण (श्लेषार्थ-सुन्दर) होकर भी कोमल।

तो भी दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ काव्य कहा जाता है। काव्य का यह लक्षण आचार्य मम्मट-प्रणीत काव्यप्रकाश के अनुसार है। संस्कृत रीति-ग्रन्थों में काव्य के लक्षण भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न भिन्न बताए गए हैं। इस विषय में बड़ा मतभेद है[1]। शब्द–अर्थ, गुण, दोष और अलङ्कारों की स्पष्टता यथास्थान आगे की जायगी।

काव्य के भेद

काव्य के मुख्य तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। काव्य में व्यङ्ग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है। अतएव काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम संज्ञा व्यङ्ग्यार्थ पर ही अवलम्बित है। अर्थात्, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो, उसे उत्तम; जहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण हो, उसे मध्यम; और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ न हो, केवल शब्द-रचना और वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, वह अधम काव्य माना गया है। इन तीनों भेदों के नाम क्रमशः ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कार[2] हैं। यद्यपि काव्य के भेदों के विषय में भी साहित्याचार्यों का मतभेद है, किन्तु काव्यप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थों में उपर्युक्त तीन भेद ही माने गए हैं। इन तीनों भेदों के विशेष लक्षण और उदाहरण यथास्थान आगे लिखे जायँगे। इनके सामान्य लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ[3] में अधिक चमत्कार हो, उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

---

१ इसके विस्तृत विवेचन के लिये, देखिये, हमारा 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' दूसरा भाग।

२ 'अलङ्कार' का दूसरा नाम 'चित्र' भी है।

३ वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्टता द्वितीय स्तवक में की गई है।

काव्य में ध्वनि का स्थान सर्वोच्च है, ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारक होने के कारण वह (व्यङ्ग्यार्थ) प्रधान रहता है इसी से इसे उत्तम काव्य की संज्ञा दी गई है। ध्वनि का उदाहरण—

ये ही अपमान, मेरे शत्रु कौ लखानौं, पुनि
वाकौ इत आनौं, गढ़लंक में घिरानौं मैं;
सोहू है तापस, ध्वंस बंस जातुधानन कौ
देखौं हौं जीवित, धिक रावन कहानौं मैं।
इंद्र के जितैया कौं हजार हैं धिकार और
जानौं हौं वृथा ही कुंभकर्न को जगानौं मैं;
लूट्यौ स्वर्ग तुच्छ या घमंड सौं प्रचंड अहो
मानौं क्यों न व्यर्थ भुजदंड को फुलानौं मैं ॥१॥

यहाँ श्रीरघुनाथ जी द्वारा असंख्य राक्षस वीरों का विध्वंस हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण का अपने आप पर अधिक्षेप है। इस पद्य के पद पद में ध्वनि है। रावण कहता है—'प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अपमान है'। यहाँ 'मेरे' पद में ध्वनि है कि अलौकिक बलशाली, इन्द्रादि के विजेता, मुझ रावण के साथ शत्रुता का साहस किया जाना बड़े आश्चर्य का कारण है। 'फिर उसका यहाँ आना' इसमें यह ध्वनि है कि जिस लङ्का के चारों ओर समुद्र है और जो मेरे जैसे अलौकिक प्रभावशाली एवं पराक्रमी द्वारा रक्षित है। 'और उसी लङ्का में आकर मुझे घेर लेना' यहाँ यह ध्वनि है कि मेरे ही स्थान में आकर मुझे घेर लेना। 'वह शत्रु भी तापस है' 'तापस' में यह ध्वनि है कि वह कोई देवता या प्रसिद्ध बलवान् नहीं है किन्तु घर से निकला हुआ, वन में भटकने वाला, युद्ध-कला-अनभिज्ञ, स्त्री-वियोग से व्यथित, एक मनुष्य और मनुष्यों में भी तापस—पुरुषार्थ-हीन—जो हम राक्षसों का भक्ष्य

है; यह और भी मेरा अपमान है। 'ऐसे तुच्छ शत्रु द्वारा मेरा घिर जाना और राक्षस-कुल का विनाश किया जाना और ऐसे अनर्थ को मैं जीता हुआ अपने नेत्रों के सामने ही देख रहा हूं'। इस वाक्य में यह ध्वनि है कि ऐसा घोर अपमान होने पर भी मैं जी रहा हूँ। 'जीवित' पद में काकाक्षिप्त ध्वनि[१] यह है कि, क्या मैं जी रहा हूँ? नहीं, जीता हुआ भी मृतक के समान हूँ, जो अब तक ऐसे नगण्य शत्रु का परिहार करने में समर्थ नहीं हो रहा हूँ। 'धिक्कार है मेरे रावण कहाने को'। 'रावण' पद में यह ध्वनि है कि मैं जो सारे संसार को रुलानेवाला हूँ (रावण नाम का तात्पर्य ही यह है) उसे यह तुच्छ तपस्वी भयभीत कर रहा है, हा! इससे बढ़कर मेरा और क्या अपमान हो सकता है? 'केवल मुझे ही नहीं, किन्तु इन्द्र-विजेता मेघनाद को भी हज़ार बार धिक्कार है'। इसमें यह ध्वनि है कि जब वह भी इस तुच्छ शत्रु को परास्त करने में अस-मर्थ है, तब इन्द्र को पराजित करके अपने को विश्व-विजयी समझने वाले मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है। 'कुम्भकर्ण का जगाया जाना भी व्यर्थ हो गया है'। यहाँ यह ध्वनि है कि जिस कुम्भकर्ण को मैंने अभूतपूर्व पराक्रमी समझकर जगाया था वह भी कुछ न कर सका। 'अतएव स्वर्ग जैसे एक छोटे-से गाँव को लूटकर जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा था वह व्यर्थ ही था। यहाँ यह ध्वनि है कि जिन भुज-दण्डों के अनुपम पराक्रम का अनुभव श्रीशङ्कर के कैलास को हो चुका है, उन भुजाओं द्वारा इस दो भुजा वाले तुच्छ तपस्वी को मैं पराजित नहीं कर सका तो इन अपनी भुजाओं के बल पर गर्व करना मेरा भ्रम-मात्र था। यहाँ वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ में ही अधिक चमत्कार है, अतः यह ध्वनि काव्य है।[२]

---

१ काकाक्षिप्त ध्वनि की स्पष्टता आगे ध्वनि प्रकरण में देखिये।

२ ध्वनि के विशेष भेदों का निरूपण चतुर्थ स्तवक में किया गया है।

गुणीभूतव्यङ्ग्य

जहां वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो, उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं।

अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में वाच्यार्थ के ही समान चमत्कार हो अथवा वाच्यार्थ से कम चमत्कार हो, वह व्यङ्ग्यार्थ गौण कहा जाता है। गौण व्यङ्ग्यार्थ को गुणी-भूत व्यङ्ग्य कहते हैं।

उदाहरण—

उन्निद्र रक्त अरविन्द लगे दिखाने,
गुञ्जार मञ्जु अलि-पुञ्ज लगे सुनाने ;
ए देख तू उदयअद्रि लगा सुहाने,
बन्धूक[1] पुष्प-छवि सूर्य लगा चुराने ॥२॥

यह प्रभात होने पर भी शयन से न उठनेवाली किसी नायिका के प्रति उसकी सखी की उक्ति है। यहाँ 'सूर्य-बिम्ब द्वारा बन्धूक-पुष्प की कान्ति का चुराया जाना' वाच्यार्थ है। इसमें 'प्रभात हो गया है'। यहबोध कराना व्यङ्ग्यार्थ है, यह व्यग्ङ्यार्थ वाच्यार्थ के समान ही स्पष्ट है, कोई अधिक चमत्कार नहीं, अतएव यहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण है—प्रधान नहीं[2] है।

---

१ एक प्रकार का लाल रङ्ग का पुष्प।

२ गुणीभूतव्यंग्य के विशेष भेदों का पाँचवें स्तवक में निरूपण किया गया है।

अलङ्कार

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के बिना शब्द रचना या वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे अलङ्कार कहते हैं।

यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ प्रायः सर्वत्र रहता है, किन्तु जहाँ कवि का लक्ष्य व्यङ्ग्यार्थ पर नहीं होता है, अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञान बिना ही केवल शब्द-रचना या वाच्यार्थ में चमत्कार होता है, वहाँ अलङ्कार होता है। अलङ्कारों के सामान्यतः मुख्य तीन भेद हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थ-उभयालङ्कार।

शब्दालङ्कार का उदाहरण—

फूलन के म्याने कै कमानै लगी फूलन की,
फूलन ही के खाने सु सुहाने मनै हरैं ;
फूलन की माल में बिसाल छत्र कंचन कौ,
बीच उडुजाल बाल-रवि सो लखै परै ॥
तिहिँ में बिराजैं रघुराजैं दुति भ्राजैं आज,
तुलसीमुकुट मनि तुरसी करै छरै ;
देखि छवि याकै बिन बैन हाय आँखै आँखै,
बैनहूँ न राखैं तासौं भाखैं ना बनै परै ॥३॥

इसमें फ, म, न आदि अनेक व्यञ्जनों की कई बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास और एक ही अर्थवाले 'आँखें' पद का दो बार प्रयोग होने से लाटानुप्रास है। ये दोनों शब्दालङ्कार हैं। यद्यपि यहाँ भगवान् श्रीरघुनाथ जी के विषय में जो प्रेम सूचन होता है, वह व्यङ्ग्य अवश्य है, पर उस व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञानके बिना ही यहाँ केवल शब्द-सादृश्य में चमत्कार है।

अर्थालङ्कार का उदाहरण—

"भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी कर मोतिन की सुख दैनी।
ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सों इक सारस नैनी।
'केसब' कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति कौं अति पैनी;
सूरज-मंडल में ससि-मंडल मध्य धसी जनु जाइ त्रिवैनी" ॥४॥ (८)

दर्पण में मुख देखती हुई किसी गोपाङ्गना के मुख के उस दृश्य में, जिसके केश-कलाप में रक्त सूत्र की डोरियाँ और मोतियों की लड़ी गुँथी हुई थीं, सूर्य-मण्डल में चन्द्र-मण्डल और उस चन्द्र-मण्डल में शोभित त्रिवेणी की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार जो वाच्यार्थ है उसी में चमत्कार है।

शब्दार्थ उभयालङ्कार का उदाहरण—

"औरन के तेज तुल जात हैं तुलान बिच,
तेरो तेज जमुना तुलान न तुलाइये।
औरन के गुन की सु गिनती गने ते होत,
तेरे गुन गन की न गिनती गनाइये।
'ग्वाल' कवि अमित प्रवाहन की थाह होत,
रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये।
पारावार पार हू को पारावार पाइयत,
तेरे पारा वार को न पारावार पाइये" ॥५॥ (११)

यहाँ अन्य नद-नदियों से यमुनाजी का आधिक्य वर्णन लिये जाने में 'व्यतिरेक' अर्थालङ्कार है। और 'त' 'ग' 'प' की अनेक वार आवृत्ति में वृत्यनुप्रास तथैव चतुर्थ चरणमें एकार्थक 'पारावार' शब्द की आवृत्ति होने के कारण 'लाटानुप्रास' शब्दालङ्कार है। यहाँ शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार एकत्र होने से उभयालङ्कार है[1]।

[1] अलङ्कारो के विशेष भेदों का निरूपण इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग अलङ्कार मञ्जरी, में किया गया है।

द्वितीय स्तवक

शब्द और अर्थ

काव्य, शब्द और अर्थ के ही आश्रित है। काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक या लाक्षणिक, और (३) व्यञ्जक। इन तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ भी क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ होते हैं। अर्थात् वाचक शब्द का अर्थ वाच्यार्थ, लक्षक या लाक्षणिक शब्द का अर्थ लक्ष्यार्थ, और व्यञ्जक शब्द का अर्थ व्यङ्ग्यार्थ होता है। ये अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं, वे क्रमशः (१) अभिधा, (२) लक्षणा और (३) व्यञ्जना कही जाती हैं। ये 'अभिधा' आदि शक्तियाँ शब्द के व्यापार हैं। 'कारण' जिसके द्वारा कार्य करता है उसे व्यापार कहतेहैं। जैसे, घट बनाने में मिट्टी, कुम्हार, कुम्हार का दण्ड और चाक आदि कारण हैं। भ्रमि (चाक के बार-बार फिरने की क्रिया) व्यापार है, क्योंकि इसी क्रिया द्वारा घट बनता है। इसी प्रकार अर्थ का बोध कराने में 'शब्द' 'कारण है, और अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार है। इन शक्तियों को वृत्ति भी कहते हैं। इनकी स्पष्टता क्रमशः इस प्रकार है—

'वाचक'-शब्द

साक्षात् सङ्केत किए हुए अर्थ का बतलानेवाले शब्द को वाचक कहते हैं।

सङ्केत—किसी वस्तु को प्रत्यक्ष दिखाकर कहा जाय कि 'इसका नाम यह है', अथवा 'इस नाम की यह वस्तु है', इस प्रकार के निर्देश को—बतलाने को—सङ्केत कहते हैं। जैसे शङ्ख की ग्रीवा (गरदन) के आकारवाली वस्तु को दिखलाकर बतलाया जाय कि इसका नाम 'घड़ा' है, अथवा 'घड़ा' शब्द का अर्थ 'शङ्ख की गरदन जैसे आकारवाली वस्तु' है। इस तरह के निर्देश से 'घड़ा' शब्द और शङ्ख की गरदन-जैसे आकारवाली वस्तु (घड़ा) का जो परस्पर सम्बन्ध बतलाया जाता है वही सङ्केत है। और जो शब्द साक्षात् सङ्केत की हुई वस्तु को बतलाता है, वह वाचक शब्द है।

साक्षात्—इस शब्द का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया है कि सङ्केत दो प्रकार से किया जाता है—'साक्षात्' और 'परम्परा-सम्बन्ध से'। जैसे गोवर्धन पर्वत को (जो व्रज-मडएल के अन्तर्गत है) प्रत्यक्ष दिखलाकर कहा जाय कि 'यह गोवर्धन है'। यह तो साक्षात् सङ्केत है। और गोवर्धन पर्वत से मिला हुआ जो एक कस्बा है उसका नाम भी 'गोवर्धन पर्वत के सम्बन्ध के गोवर्धन पड़ गया है। उस कस्बे का 'गोवर्धन' शब्द सङ्केत तो है पर वह साक्षात् सङ्केत नहीं, गोवर्धन पर्वत के सम्बन्ध से परम्परा सम्बन्ध से सङ्केत है। 'गोवर्धन' शब्द उस कस्बे का वाचक नहीं कहा जा सकता किन्तु लाक्षणिक[1] है, क्योंकि वह परम्परा सम्बन्ध से सङ्केतित होता है।

सङ्केत का ग्रहण

सङ्केत का ग्रहण अनेक कारणों से होता है। सर्वप्रथम सङ्केत का ग्रहण व्यवहार से होता है बाद में कहीं प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से (समीप होने से), कहीं आप्त-वाक्य से, कहीं उपमान से, कहीं व्याकरण से और कहीं कोष आदि से होता है। जैसे—

---

१ लाक्षणिक शब्द की स्पष्टता आगे की गई है।

१—व्यवहार से सङ्केत ग्रहण—किसी वयस्क मनुष्य के द्वारा अपने सेवक से यह कहने पर कि 'गैया ले आओ', यह सुनकर उस सेवक द्वारा गैया ले आने पर पास में बैठा हुआ बालक, जो अब तक इन शब्दों का अर्थ नहीं जानता था, समझ लेता है कि दो सींग, पूँछ और फटी हुई खुरी के आकारवाले जीव को गैया कहते हैं। इस प्रकार लोगों के व्यवहार से सङ्केत का ग्रहण होता है।

२—प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से—यद्यपि 'मधुकर' शब्द का अर्थ शहद की मक्खी भी और भौंरा भी है, पर—

"कमल पर बैठा हुआ मधुकर मधु पान करता है।"

इस वाक्य में 'मधुकर' शब्द 'कमल' शब्द के समीप होने से 'भौंरा' अर्थ ही ग्रहण हो सकता है, न कि शहद की मक्खी। क्योंकि, कमल-शब्द प्रसिद्ध है, और कमल का रस-पान भौंरे ही किया करते हैं। ऐसे प्रयोगों में प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से सङ्केत का ग्रहण होता है।

३—आप्त-वाक्य से—आप्त कहते हैं प्रामाणिक पुरुष को। कहीं आप्त वाक्य से भी संकेत ग्रहण होता है। जैसे, किसी बालक को उसका पिता बतला देता है कि यह चित्र श्रीरामचन्द्रजी का है? वह बालक श्रीरामचन्द्रजी की प्रतिकृति का सङ्केत उस चित्र में समझ लेता है।

४—उपमान द्वारा—'उपमान' कहते हैं सादृश्य (समानता) को। सादृश्य-ज्ञान से भी सङ्केत ग्रहण होता है। जिसने यह सुन रक्खा हो कि गैया के जैसा गवय (वनगाय) होता है, जब कभी वह पुरुष जङ्गल में गैया जैसा जीव देखेगा, तो झट समझ जायगा कि यह 'वनगाय' है।

५—व्याकरण द्वारा—'दाशरथी'[1] का अर्थ व्याकरण का ज्ञाता दशरथ का पुत्र समझ लेता है। यहाँ व्याकरण से सङ्केत का ग्रहण है।

---

१ दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः।

कोष द्वारा भी सङ्केत का ग्रहण होता है। जैसे "नाक" पद का 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक' इस अमरकोश के श्लोक द्वारा स्वर्ग अर्थ में सङ्केत-ग्रहण होता है। इनके अतिरिक्त सङ्केत-ग्रहण कराने वाले 'वाक्य शेष'[१] एवं 'विवरण'[२] भी होते हैं।

वाचक शब्द चार प्रकार के होते हैं। १ जाति-वाचक, २ गुण-वाचक, ३ क्रियावाचक और ४ यदृच्छा (द्रव्य)-वाचक, ये जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा वस्तु और पदार्थों की उपाधियाँ हैं। अर्थात् धर्म विशेष हैं। इन्हीं में उक्त जात्यादि शब्दों के सङ्केत का ज्ञान होता है। अतः ये जात्यादि ही शब्दों की प्रवृत्ति के निमित्त (कारण) होते हैं।

(१) जातिवाचक—यह जाति का ज्ञान कराने वाला धर्म है। जैसे गैया में "गोत्व" (गैयापन) जाति होती है—दो सींग फटी हुई खुरी और गले में कम्बल जैसी चर्म लटकती रहना जन्मजात गो जाति का सामान्य धर्म है। यह गो जाति के छोटे बड़े सभी जीवों में रहता है। जिसमें गो-धर्म (गैयापन) नहीं हो वह गैया नहीं समझी जायगी। अतः यही (गैयापन) गो में प्राणप्रद धर्म है। यह प्रत्येक जाति में व्यापक रूप से रहता है। अतः अश्व, मनुष्य आदि शब्द जातिवाचक कहे जाते हैं।

(२) गुण-वाचक शब्द—वस्तु की विशेषता बतलाने वाला धर्म है। अर्थात् यह एक ही जाति के व्यक्तियों में एक का दूसरे से भेद

---

१ आधा वाक्य कहे जाने पर शेष वाक्य का बोध हो जाने को 'वाक्य शेष' कहते हैं। जैसे—'आज तो आपकी बातचीत का ढङ्ग' इतना कहे जाने पर—'नया मालूम होता है'—इस शेष वाक्य का बोध हो जाता है।

२ संक्षिप्त से कही हुई बात की व्याख्या (खुलासा) किये जाने को 'विवरण' कहते हैं।

बतलाता है। जैसे—'गोत्व' जाति का ज्ञान जाति-वाचक शब्द से हो जाने पर जब काली, पीली, सफेद गायों में से सफेद गाय बताना आवश्यक होता है। तब गुण-वाचक 'सफेद' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(३) क्रिया-वाचक शब्द—जो शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, वे क्रिया-वाचक होते हैं। जैसे, 'पाचक'—पाक बनाने वाला। यहाँ पाक क्रिया के निमित्त से पाचक-शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः पाचक, पाठक आदि क्रिया-वाचक शब्द हैं।

(४) यदृच्छा शब्द—वक्ता की इच्छा से व्यक्ति पर संकेतित होता है। जैसे, देवदत्त, धर्मदत्त इत्यादि नाम। ये नाम रखने वाले की इच्छा पर निर्भर है। वक्ता की इच्छा से जिसका जो नाम रक्खा जाय, वही उसका संकेत है। यह वक्ता की स्वतंत्र इच्छा से कल्पित होने के कारण इन नामों को यदृच्छा शब्द कहते हैं। संज्ञा-शब्द और द्रव्य-शब्द भी इन्हीं को कहते हैं।

वाच्यार्थ

वाचक-शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। जाति-वाचक शब्दों में जाति, गुण-वाचक शब्दों में गुण, क्रिया-वाचक शब्दों में क्रिया और यदृच्छा-वाचक शब्दों में यदृच्छा रूप वाच्यार्थ होता हैं। यह महाभाष्यकार का मत है। नैयायिक उक्त चारों प्रकार के शब्दों का एकमात्र 'जाति' ही वाच्यार्थ मानते हैं।

इसी (वाच्यार्थ) को मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं—मुख्यार्थ तो इसलिये कहा जाता है कि लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के प्रथम वाच्चार्थ ही उपस्थित होता है; अभिधेयार्थ इसलिये कहा जाता है कि इसका बोध अभिधाशक्ति से होता है।

——::○::——

'अभिधा' शक्ति

साक्षात् सङ्केतित[1] अर्थ (मुख्यार्थ) का बोध कराने वाली मुख्य क्रिया (व्यापार) को अभिधा कहते हैं।

'अभिधा' शक्ति द्वारा जिन शब्दों के अर्थ का बोध होता है वे तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

(१) रूढ़ शब्द—समुदाय (समूह) शक्ति द्वारा जिन समूचे शब्दों का अर्थ-बोध होता है वे रूढ़ शब्द होते हैं। रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती है अर्थात् उनका अवयवार्थ नहीं होता[2]। समूचे शब्द का ही अर्थ होता है। जैसे, 'आखण्डल' इस समूचे शब्द का अर्थ इन्द्र है। इस शब्द के अवयवों (जुदे-जुदे खण्डों) का अर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'गढ़' 'घड़ा' 'घोड़ा' आदि शब्द भी रूढ़ हैं। रूढ़-शब्द में प्रकृति प्रत्ययार्थ की अपेक्षा नहीं रहती[3]। समूचे शब्द के प्रयोग की किसी विशेष अर्थ में प्रसिद्धि होती है।

(२) यौगिक शब्द—अवयवों (प्रकृति और प्रत्ययों) की शक्ति द्वारा जिन शब्दों का अर्थ-बोध होता है वे यौगिक शब्द होते हैं। इन शब्दों का अर्थ बोध उनके अवयवों से होता है। जैसे, 'सुधांशु' इस शब्द में 'सुधा' और 'अंशु' दो अवयव (दो खण्ड) हैं। सुधा का अर्थ है 'अमृत' और अंशु का अर्थ है 'किरण'। इन दोनों अवयवों का अर्थ है

---

१ देखो पृष्ठ ५१

२ 'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढ़ा आखण्डलादयः'

३ 'प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्यशाब्दबोधजनकः शब्दः रूढ़ः'—शब्द-कल्पद्रुम।

'अमृत की किरणोंवाला', चन्द्रमा अमृत की किरणोंवाला है अतः चन्द्रमा का सुधांशु नाम योगिक है। 'नृप'[1] 'दिवाकर'[2] आदि शब्द भी यौगिक हैं।

(३) योगरूढ़—समुदाय और अवयवों की शक्ति के मिश्रत से जिन शब्दों के अर्थ का बोध होता है वे योगरूढ़ शब्द होते हैं। वे शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होते हैं। अर्थात् जिस शब्द के अवयवों के अर्थ से बोध होने वाली सभी वस्तुओं के लिये उस शब्द का प्रयोग न किया जाकर उन वस्तुओं में से किसी एक विशेष वस्तु के लिये ही प्रयुक्त किये जाने की रूढ़ि—प्रसिद्धि—हो, उस शब्द को योगरूढ़ कहते हैं। जैसे, 'वारिज'। 'वारि' नाम जल का है। जो वस्तु जल में उत्पन्न होती है उसको 'वारिज' कहा जा सकता है। कमल जल से उत्पन्न होता है। इसलिये कमल का 'वारिज' नाम यौगिक तो है, पर जल से केवल कमल ही नहीं, किन्तु शङ्ख, सीपी आदि भी उत्पन्न होते हैं। यद्यपि ये सभी 'वारिज' ही हैं, किन्तु उन सभी को 'वारिज' नहीं कहा जाता। क्योंकि, 'वारिज' केवल कमल को ही कहने की रूढ़ि—प्रसिद्धि—है। अतः ऐसे शब्द यौगिक होते हुए भी एक वस्तु के लिए रूढ़ होने के कारण 'योगरूढ़' कहे जाते हैं। पयोद[3], त्रिफला[4] आदि शब्द भी योगरूढ़ हैं।

---

१ 'नृप'-शब्द में 'नृ' और 'प' दो अवयव हैं। 'नृ' का अर्थ है नर और 'प' का अर्थ पति। अतः 'नृप' शब्द राजा का यौगिक नाम है।

२ 'दिवाकर' में 'दिवा' और 'कर' दो अवयव हैं। दिन को करने वाला होने से सूर्य का दिवाकर नाम यौगिक है।

३ पयोद का यौगिक अर्थ है पय (जल) देनेवाला, अतः जल देने वाले कूप, तड़ाग सभी पयोद हैं, किन्तु पयोद केवल मेघ को ही कहने की प्रसिद्धि है। ४ त्रिफला का यौगिक अर्थ है तीन फल, पर चाहे जिन तीन फलों को त्रिफला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि त्रिफला केवल हरड़, बहेड़ा और आँवला, इन्हीं तीन फलों को कहने की रूढ़ि है।

पद्यात्मक उदाहरण—

नूपुर सिंजित चारु अरुन चरन अंबुज सरिस।
भुज मृनाल अनुहारु बदन सुधाकर-सम रुचिर॥६॥

यहाँ 'नूपुर' शब्द रूढ़ है। 'अम्बुज' शब्द योगरूढ़ है। 'सुधाकर' शब्द यौगिक है। ये सभी वाचक शब्द हैं। इनका सरल अर्थ है वही वाच्यार्थ है।

'लक्षणा' शक्ति

मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ 'लक्ष्यार्थ' लक्षित हो, उसे 'लक्षणा' कहते हैं।

'लक्षणा' वहीं होती है, जहाँ लाक्षणिक शब्द का प्रयोग होता है।

लाक्षणिक शब्द और लक्ष्यार्थ—जो शब्द लक्षणा-शक्ति द्वारा ऐसे अर्थ को, जो मुख्यार्थ से भिन्न हो लक्षित कराता है उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं। लक्षणा शक्ति द्वारा लक्षित होने वाले लाक्षणिक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

पूर्वोक्त अभिधा शक्ति तो शब्द के ज्ञान के साथ तत्काल उपस्थित होकर अपने वाच्यार्थ का बोध करा देती है, किन्तु लक्षणा तत्काल उपस्थित होकर लक्ष्यार्थ का बोध नहीं करा सकती। लक्षणा तभी होती है जब (१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ योग (सम्बन्ध), और (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन (इन दोनोंमें से कोई एक) ये तीन कारण होते हैं[1]।

---

१ 'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते।'—वार्तिककार कुमारिल

मुख्यार्थ का बाध—जहाँ मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) के ग्रहण करने में बाध (बाधा) हो, अर्थात् प्रत्यक्ष विरोध हो, अथवा जहां वक्ता ने (कहनेवाले ने) जिस अभिप्राय से कहा हो, वह अभिप्राय मुख्यार्थ से न निकलता हो, उसे 'मुख्यार्थ का बाध' कहते हैं। जब तक मुख्यार्थ में कोई बाधा नहीं होती, लक्षणा नहीं हो सकती।

मुख्यार्थ का योग—मुख्यार्थ का बाध होने पर जो दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाय, वह अर्थ ऐसा हो, जिसका मुख्यार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध[1] हो उसे मुख्यार्थ का योग कहते हैं। मुख्य अर्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध ही लक्षणा है।[2]

रूढ़ि और प्रयोजन—रूढ़ि कहते हैं प्रसिद्धि को। अर्थात् किसी वस्तु को विशेषरूप से कहने की प्रसिद्धि होना। और 'प्रयोजन' कहते हैं किसी कारण विशेष को। अर्थात् किसी कारण विशेष से—किसी विशेष बात को सूचन करने के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाना।

इन में से दो का—मुख्यार्थ के बाध का और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ योग (सम्बन्ध) का होना तो लक्षणा में सर्वत्र अनिवार्य है। किन्तु रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से एक ही होता है।

इस प्रकार लक्षणा, उपर्युक्त तीन कारणों के समूह होने पर दो प्रकार की होती है—

(१) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध, और रूढ़ि, यह एक कारण समूह है।

---

१ सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते है, जिनका विवेचन आगे किया जायगा।

२ 'सम्बन्धा यथायोग्यं लक्षणा शरीराणि'

—रसगङ्गाधर द्वितीयआनन लक्षणा प्रकरण।

(२) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध, और प्रयोजन, यह दूसरा कारण-समूह है।

इन दोनों समूहों में 'मुख्यार्थ का बाध और 'मुख्यार्थ' का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध' तो समान ही हैं। पर तीसरा कारण पहिले समूह में 'रूढ़ि' है और दूसरे में 'प्रयोजन'। अतः इस तीसरे कारण द्वारा लक्षणा दो भेदों में विभक्त है--'रूढ़ि' और और 'प्रयोजनवती।'

रूढ़ि लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है।

जैसे--'महाराष्ट्र साहसी है।'

यहाँ 'महाराष्ट्र' शब्द लाक्षणिक है, इसमें लक्षणा का पहला कारण समूह है—

(१) 'महाराष्ट्र' का मुख्यार्थ है महाराष्ट्र प्रान्त विशेष। यहाँ इस मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि प्रान्त जड़ वस्तु है, किसी प्रान्त विशेष में साहस का होना सम्भव नहीं। अतः प्रान्त को साहसी नहीं कहा जा सकता। यही 'मुख्यार्थ का बाध' यहाँ लक्षणा का एक कारण है।

(२) मुख्यार्थ का बाध होने के कारण यहाँ 'महाराष्ट्र' शब्द से उस प्रान्त से सम्बन्ध रखनेवाले 'महाराष्ट्र के निवासी पुरुष' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। अर्थात् महाराष्ट्र प्रान्त के निवासी साहसी हैं, ऐसा लक्ष्यार्थ समझा जाता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ 'महाराष्ट्र प्रान्त' के साथ आधाराधेय-भाव सम्बन्ध है। अर्थात् महाराष्ट्र प्रान्त आधार है और वहाँ के निवासी आधेय। यहाँ यही मुख्यार्थ का 'लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध रूप' लक्षणा का दूसरा कारण है।

(३) यहाँ तीसरा कारण रूढ़ि है। यहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिये ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है। महाराष्ट्र-निवासियों को महाराष्ट्र कहने की रूढ़ि (रिवाज) पड़ गई है, अतः यहाँ रूढ़ि ही लक्ष्यार्थ के ग्रहण करने का कारण होने से रूढ़ि लक्षणा है।

दूसरा उदाहरण—यह तैल शीतकाल में उपयोगी है।

तैल का मुख्यार्थ है तिलों से निकाला हुआ तिलों का तैल। पर सरसों, नारियल आदि से निकाले हुए स्निग्ध द्रव्य को भी तैल कहा जाता है। सरसों आदि से निकले हुए स्निग्ध द्रव्य को तैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि वे तिलों से नहीं बनते। पर उनको भी (सरसों आदि से निकाले हुए स्निग्ध द्रव्य को भी) तैल कहे जाने की रिवाज पड़ गई है। अतः यहाँ भी रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि लक्षणा का पद्यात्मक उदाहरण—

"डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।
कंप किसोरी दरस ते खरे लजाने लाल" ॥७॥ (२९)

'ब्रज' का मुख्य अर्थ गाँव या गौओं का निवास स्थान है। वह जड़ है। जड़ 'ब्रज'का 'वेहाल' होना सम्भव नहीं। अतः ब्रज को वेहाल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ 'ब्रज' शब्द का लक्ष्यार्थ लक्षणा द्वारा 'ब्रज में रहने वाले ब्रजवासी' ग्रहण किया जाता है। यहाँ भी रूढ़ि लक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिये—किसी खास अभिप्राय से—लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

जैसे—'गङ्गा पर ग्राम[1] है'।

यहाँ 'गङ्गा' शब्द लाक्षणिक है। इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन के लिए किया गया है। अतः यहाँ पूर्वोक्त दूसरा कारण-समूह है—

(१) गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ गङ्गाजी का प्रवाह (धारा) है किन्तु यहां इस मुख्यार्थ का वाध है। क्योंकि गङ्गाजी की धारा पर गाँव का होना सम्भव नहीं।

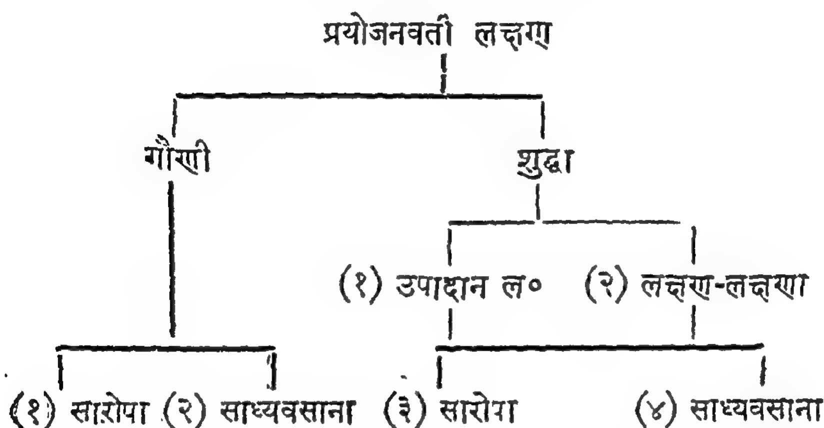
(२) गङ्गा शब्द के मुख्यार्थ का वाध होने से इसका लक्ष्यार्थ 'गङ्गाजी का तट' ग्रहण किया जाता है। लक्ष्यार्थ 'तट' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' के साथ सामीप्य (समीप में होना) सम्बन्ध है। यह लक्षणा का दूसरा कारण है।

ये दोनों कारण—'मुख्यार्थ का वाध' और 'मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध'—तो रूढ़ि लक्षणा के समान ही इस प्रयोजनवती लक्षणा में भी हुआ करते हैं।

(३) तीसरा कारण यहाँ 'प्रयोजन' है, न कि रूढ़ि। 'गङ्गा-तट पर गाँव' ऐसा स्पष्ट न कहकर, 'गङ्गा पर गाँव' ऐसा कहने में इस वाक्य को कहनेवाले (वक्ता) का प्रयोजन (अभिप्राय) अपने गाँव की पवित्रता और शीतलता का आधिक्य सूचन करना है। इसी प्रयोजन के लिये यहाँ ऐसा कहा गया है। यदि वह कहता कि 'मेरा गांव गङ्गातट पर है' तो गाँव की पवित्रता और शीतलता का वैसा आधिक्य सूचन नहीं हो सकता था, जैसा कि 'गङ्गा पर गाँव' कहने से सूचित होता है। क्योंकि, वास्तव में पवित्रता आदि धर्म गङ्गा के प्रवाह के हैं, न कि तट के। अतः गङ्गा-तट को गङ्गा कहने से तट में गङ्गा जी की साक्षात् एकरूपता हो जाने से प्रवाह के पवित्रता आदि धर्म भी तट में सूचन होने लगते हैं। इसी

१ गङ्गायां घोषः।

प्रयोजन के लिए यहाँ लाक्षणिक शब्द 'गङ्गा' का प्रयोग किया गया है। अतः यह प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रयोजनवती लक्षणा के भेद--



इस तालिका में गौणी के दो और शुद्धा के चार भेद, अर्थात् सब छः भेद बतलाए गए हैं। ये छहों भेद गूढ़-व्यंग्य में भी होते हैं और अगूढ़-व्यंग्य में भी। इस प्रकार काव्यप्रकाश के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के १२ भेद होते हैं। इन बारह भेदों की स्पष्टता इस प्रकार है—

गौणी लक्षणा

जहाँ सादृश्य-सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ गौणी लक्षणा होती है।

ऊपर कहे गये लक्षणा के तीन कारणों के समूह में एक कारण 'मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होना' भी बतलाया गया है। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से, अर्थात् आल्हादकता, जड़ता, आदि गुणों की समानता के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है[1], वहाँ गौणी लक्षणा होती है। इस

१ 'गुणतः सादृश्यमस्याः प्रवृत्तिनिमित्तम्'--एकावली की तरल टीका, पृष्ठ ६८।

लक्षणा का मूल 'उपचार' है। अत्यन्त पृथक् पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले दो पदार्थों में सादृश्य के अतिशय से—अत्यन्त समानता होने के प्रभाव से—भेद की प्रतीति न होने को 'उपचार' कहते हैं[1]।

जैसे—'मुखचन्द्र'।

इसका मुख्यार्थ है 'मुख चन्द्रमा है'। इस मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि—मुख और चन्द्रमा दो भिन्न भिन्न पदार्थ प्रसिद्ध हैं, अतः मुख को चन्द्रमा नहीं कहा जा सकता। चन्द्रमा में आल्हादकता अर्थात् आनन्द प्रदान करने का जो गुण है, वह मुख में भी है—मुख भी आनन्ददायक है। अर्थात्, आल्हादक गुण चन्द्रमा और मुख दोनों में समान है; इस समान गुण के सम्बन्ध से 'चन्द्रमा के समान मुख है' इस लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है। यह लक्ष्यार्थ यहाँ सादृश्य रूप गुण के सम्बन्ध से लिया जाता है, अतः गौणी लक्षणा है।

पद्यात्मक उदाहरण

"उदित उदय-गिरि-मंचपर रघुवर बाल-पतंग।
बिगसे संत-सरोज सब हरषे लोचन-भृंग ॥८॥ (१७)

भगवान् श्री रामचन्द्र को बाल-पतंग (उदय कालीन सूर्य) कहने में मुख्यार्थ का बाध है। अतः यहाँ 'श्री रामचन्द्र की प्रभा उदय कालीन सूर्य के समान है, यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसमें भगवान की अङ्ग-कान्तिका सौन्दर्य सूचन करना प्रयोजन है। अतः गौणी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा

सादृश्य-सम्बन्ध के बिना जहाँ किसी अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।

---

१ 'अत्यन्तविशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः'—साहित्यदर्पण परि० २।

समानता (सादृश्य) रूप सम्बन्ध को छोड़कर अन्य 'समीपता' आदि किसी दूसरे प्रकार के सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा शुद्धा लक्षणा होती है। इस लक्षणा में अनेक सम्बन्धों द्वारा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे—

(१) सामीप्य सम्बन्ध से।

पूर्वोक्त 'गङ्गा पर घर' शुद्धा लक्षणा का ही उदाहरण है इसमें सादृश्य सम्बन्ध से तट का ग्रहण नहीं, किन्तु मुख्यार्थ प्रवाह के साथ लक्ष्यार्थ तट का सामीप्य सम्बन्ध है यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

(२) तादर्थ्य[1] सम्बन्ध से।

जैसे, यज्ञ में इन्द्र के पूजन के लिए लाये हुए काष्ठ के स्तम्भ को इन्द्र कहा जाता है। इन्द्र का मुख्यार्थ इन्द्र देवता है। स्तम्भ को इन्द्र कहने में मुख्यार्थ को बाध है। वहाँ इन्द्र शब्द का लक्ष्यार्थ—स्तम्भ—तादर्थ्य सम्बन्ध से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यज्ञ-क्रिया में स्तम्भ को इन्द्र का स्थानापन्न मान लिया जाता है। यज्ञ में इन्द्र की पूजा का विधान है। उसके स्थानापन्न स्तम्भ को पूज्य सूचन करने के लिये उसे इन्द्र कहा जाता है, यही प्रयोजन है।

(३) अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से।

"अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहिराई लाल;
नौलसिरी[2] औरै चढ़ी मौलसिरी की माल" ॥८॥ (२६)

यहाँ मौलसिरी की माला को 'अपने कर गुही' कहा है। इसका मुख्यार्थ है 'हाथ से गूँथी हुई' कि माला हाथ के अग्रभाग—उँग-

---

१ किसी कार्य के लिये जो नियत हो, उसके स्थानापन्न किसी दूसरे को उस कार्य के लिए नियत करना तादर्थ्य' है।

२ नवीन श्री-शोभा।

लियों —से गूँथी जाती है, न कि हाथ से। उँगली को हाथ कहने में मुख्यार्थ का बाध है। हाथ अङ्गी है उँगली उसके अङ्ग हैं, इसलिये अङ्गाङ्गि भाव के सम्बन्ध से यहाँ 'हाथ' शब्द का 'उँगली' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

(४) तात्कर्म्य[1] सम्बन्ध से।

जैसे, कोई ब्राह्मण, जाति का बढ़ई न होने पर भी बढ़ई का काम करने से वह बढ़ई कहा जाता है। यहाँ बढ़ई कहने में मुख्यार्थ 'बढ़ई-जाति' का बाध है। वह बढ़ई का काम करता है, इस तात्कर्म्य सम्बन्ध से यहाँ 'बढ़ई' अर्थ ग्रहण किया जाता है। इनके सिवा कुछ अन्य सम्बन्धों के उदाहरण भी आगे दिये जायँगे।

उपादान लक्षणा

अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं।

'उपादान' का अर्थ है 'लेना'। इसमें मुख्यार्थ, अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अपना अर्थ (मुख्यार्थ) न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींचकर ले लेता है। इसीलिये इस लक्षणा को 'अजहत् स्वार्था'[2] भी कहते हैं। निष्कर्ष यह कि इसमें मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ भी लगा रहता है।

जैसे—'ये कुन्त (भाले) आ रहे हैं'[3]।

---

१ तात्कर्म्य का अर्थ है किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले काम को करनेवाला अन्य पुरुष।

२ अजहत् = नहीं छोड़ा है, स्वार्था = (स्व अर्थ) अपना अर्थ जिसने।

३ एते कुन्ताः प्रविशन्ति।

इसका मुख्यार्थ है 'ये भाले आ रहे हैं।' किन्तु भाले अचेतन होने से वे आने की क्रिया के कर्त्ता नहीं हो सकते। अतः मुख्यार्थ का बाध है। 'भाले आ रहे हैं' यह मुख्यार्थ अपने इस अर्थ को सिद्धि करने के लिये 'भाले धारण किये हुए पुरुष आ रहे हैं, इस लक्ष्यार्थ का आक्षेप (बोध) कराता है--खींचकर ले लेता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ 'भालों' के साथ संयोग-सम्बन्ध[१] अथवा धार्य-धारक-भाव-सम्बन्ध[२] है। यहाँ 'भाले' शब्द ने अपना मुख्यार्थ नहीं छोड़ा है, और 'भाले धारण किये हुए पुरुष' यह लक्ष्यार्थ खींचकर ले लिया है। इस लक्ष्यार्थ के बिना मुख्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती थी। अर्थात्, इस वाक्य के कहने वाले का तात्पर्य नहीं निकल सकता था। यहाँ भालेवाले पुरुषों में भालों जैसी तीक्ष्णता सूचन करने के लिये इस लाक्षणिक वाक्य का प्रयोग किया गया है, अतः प्रयोजनवती उपादान लक्षणा है। आगे ध्वनि प्रकरण में लिखी जानेवाली अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में यही लक्षणा हुआ करती है।

एक और उदाहरण--'कौओं से दही को रक्षा करो'।

इस वाक्य का मुख्यार्थ है 'कौओं से दही की रक्षा करने को कहा जाना।' इस अर्थ में कुछ असम्भवता प्रतीत न होने से साधारणतः मुख्यार्थ का बाध प्रतीत नहीं होता। किन्तु यहाँ मुख्यार्थ का बाध इसलिये है कि इस वाक्य के वक्ता का तात्पर्य केवल कौओं से ही दही की रक्षा करने को कहने का नहीं है--कौआ-शब्द तो उपलक्षण[3] मात्र

---

१ भालेवालों के साथ भाले हैं, यह संयोग सम्बन्ध है।

२ भाले धार्य हैं--धारण किए जाने वाले हैं और भाले वाले हैं धारक,--धारण करने वाले हैं यह धार्य-धारक सम्बन्ध है।

३ एक पद के कहने से उसी अर्थवाले अन्य पदार्थों का कथन जिसके द्वारा किया जाय, उसे 'उपलक्षण' कहते हैं--'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम् उपलक्षणम्'।

है। वास्तव में कौओं के सिवा बिल्ली, कुत्ते आदि भी जितने दही के भक्षक हैं, उन सभी से रक्षा करने के लिये कहने का है। यह बात मुख्यार्थ द्वारा नहीं जानी जाती, अतः यहाँ वक्ता के तात्पर्य रूप मुख्यार्थ का बाध है। इसीलिए 'मुख्यार्थ के अन्वय का बाध' और 'वक्ता के तात्पर्य का बाध', दोनों ही को मुख्यार्थ का बाध पहले बतलाया गया है। यहाँ 'कौआ' शब्द अपना मुख्यार्थ न छोड़ता हुआ अन्य दधि-भक्षकों का आक्षेप कराता है, ऐसे प्रयोगों में भी उपादान लक्षणा होती है।

लक्षण-लक्षणा

जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है।

पूर्वोक्त उपादान लक्षणा 'अजहत्-स्वार्था' कही जाती है उसमें मुख्यार्थ अपना अर्थ नहीं छोड़ता और यह लक्षण-लक्षणा 'जहत् स्वार्था'[१] है। क्योंकि इस लक्षणा में शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़ देता है। 'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि' में यही लक्षणा होती है। इसका उदाहरण पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' है। इसमें गङ्गा शब्द अपना मुख्यार्थ (प्रवाह) सर्वथा छोड़ देता है।

पद्यात्मक उदाहरण—

"कच समेट करि भुज उलटि खए सीस पर डारि;
का को मन बाँधै न यह जूरो बाँधनि हारि" ॥१०॥ (२६)

इसमें जूड़ा (केश-पाश) बाँधते समय की किसी युवती की चेष्टा का

---

१ जहत् = छोड़ दिया है। स्वार्था = अपना अर्थ जिसने।

वर्णन है। 'मन बाँधै' पद में 'बाँधै' शब्द का मुख्यार्थ 'बाँधना' है। किन्तु मन कोई स्थूल वस्तु नहीं, जिसको बाँधा जा सकता हो। अतः मुख्यार्थ का बाध है। इस मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'मन को आसक्त करना' यह लक्ष्यार्थ लिया जाता है अतः लक्षण-लक्षणा है। युवती का अनुपम सौन्दर्य सूचन करना यहाँ प्रयोजन है।

एक और उदाहरण—

"..............................कीन्ह कैकेयी सब कर काजू।
एहि ते मोर कहा अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥
११ (१७)

राज्यारोहण के लिये आग्रह करनेवाले अयोध्यानिवासियों के प्रति भरतजी की यह उक्ति है। इसका मुख्यार्थ यह है कि 'आप लोग मुझे राज-तिलक देने को कहते हैं इससे अधिक मेरी और क्या भलाई हो सकती है'। राज्य के अनिच्छुक भरतजी द्वारा ऐसा कहना नहीं बन सकता अतः मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ भलाई का लक्ष्यार्थ बुराई है। यहाँ मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का विपरीत सम्बन्ध है। बुराई की अधिकता सूचन करना प्रयोजन है। ऐसे उदाहरणों में भी लक्षण-लक्षणा होती है। लक्ष्यार्थ विपरीत होने से इसे विपरीत लक्षणा भी कहते हैं। और—

लखहु सरोवर रुचिर यह, जल पूरन लहराय।
लोटत पोटत नर जहाँ, न्हाय रहे हरखाय॥१२॥

यहाँ सरोवर को जल से भरा हुआ कहने में मुख्यार्थ का बाध है। जल भरे हुए तालाव में लोग लोटकर नहीं नहा सकते। अतः 'जल से भरे' का अर्थ 'थोड़े जल वाला' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

सारोपा लक्षणा

जहाँ आरोप्यमाण[1] (विषयी) और आरोप के विषय,[2] दोनों का शब्द द्वारा कथन किया जाय, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।

पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा कही हुई दो वस्तुओं को एक वस्तु के स्वरूप की दूसरी वस्तु में तादात्म्य प्रतीति (अभेद ज्ञान) को आरोप कहते हैं। जिस वस्तु का आरोप किया जाय, उसे 'आरोप्यमाण' या 'विषयी' और जिस वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया जाय, उसे 'आरोप का विषय' या 'विषय' कहते हैं। 'सारोपा' लक्षणा में विषयी और विषय दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है और विषयी के साथ विषय की तादात्म्य प्रतीत होती है, अर्थात् उन दोनों में अभेद ज्ञान कराया जाता है।

सारोपा गौणी लक्षणा

जैसे—'वाहीक बैल है'[3]।

वाहीक कहते हैं असभ्य (गँवार) को। यहाँ गँवार में बैल का आरोप है। 'वाहीक' आरोप का विषय है। 'बैल' आरोप्यमाण है। दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। अतः सारोपा है। गँवार को बैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। बैल में जड़ता, मन्दता आदि धर्म होते हैं। गँवार में भी जड़ता और मन्दता होती है। अतः इस सादृश्य सम्बन्ध से 'वाहीक बैल के समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। अतः गौणी है। वाहीक (गँवार) में मूर्खता का आधिक्य सूचन करना

---

१ जिसका किसी दूसरे में आरोप किया जाय।

२ जिसमें किसी दूसरे का आरोप किया जाय।

३ गौर्वाहीकः।

प्रयोजन है। पूर्वोक्त 'मुखचन्द्र' उदाहरण में भी यही सारोपा गौणी लक्षणा है वहाँ भी आरोप के विषय 'मुख' का और आरोप्यमाण 'चन्द्र' दोनों का शब्द द्वारा कथन किया गया है। 'रूपक' अलङ्कार के अन्तर्गत यही लक्षणा रहती है[1]।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा।

जैसे—'वे भाले आ रहे हैं।'

इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'भाले' आरोप्यमाण हैं, और भालेवाले पुरुष आरोप के विषय हैं। इन दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। क्योंकि 'वे' इस सर्वनाम से भाले धारण करनेवाले पुरुषों का भी शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है। लक्ष्यार्थ जो भालेवाले पुरुष हैं, उनके साथ मुख्यार्थ जो 'भाले' हैं, वह भी लगा हुआ है, अतः उपादान लक्षणा है। यहाँ धार्य-धारक सम्बन्ध है, अतः शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा।

जैसे—'घृत आयु है'[2]।

इसमें घृत को आयु कहा गया है। अतः घृत आरोप का विषय है और आयु आरोप्यमाण है। घृत को आयु कहने में मुख्यार्थ का बाध है। घृत आयु बढ़ानेवाला है—आयु का कारण है यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। घृत दीर्घ जीवन का कारण है, और 'जीवन' कार्य है, अतः कार्य-कारण सम्बन्ध होने से शुद्धा है। 'आयु' शब्द ने अपना मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। यहाँ अन्य पदार्थों से घृत को अत्यधिक आयु-वर्द्धक सूचन करना प्रयोजन है। आयु

१ रूपक अलङ्कार के विस्तृत विवेचन के लिये इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग अलङ्कारमञ्जरी' देखिये।

२ आयुर्घृतम्।

के साथ घृत की तादात्म्य प्रतीति कराई गई है, अर्थात् अभेद बतलाया गया है, और घृत तथा आयु दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, अतः सारोपा है।

पद्यात्मक उदाहरण—

"कोऊ कोरिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा बिपद-बिदारन-हार ॥१३॥" (२६)

यहाँ यदुपति में सम्पत्ति का आरोप है—यदुपति को ही सम्पत्ति कहा गया है। इन दोनों का शब्द द्वारा कथन होने से सारोपा है। सम्पत्ति के मुख्यार्थ 'द्रव्य' आदि अर्थ का बाध है। सम्पत्ति का लक्ष्यार्थ पालक, सुखद आदि ग्रहण किया जाता है। अतः लक्षण-लक्षणा है। तात्कर्म्य सम्बन्ध होने से शुद्धा है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में प्रेम सूचन करना ही प्रयोजन है। अतः प्रयोजनवती है।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश (कथन) न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा।

जैसे, किसी गँवार को देखकर कहा जाय कि 'बैल है'। इसकी स्पष्टता 'वाहीक बैल है' इस उदाहरण में (पृ० ७० में) की जा चुकी है। वहाँ आरोप के विषय वाहीक (गँवार) का और आरोप्यमाण बैल दोनों का शब्द द्वारा कथन किया गया था। यहाँ आरोप के विषय 'वाहीक' का कथन नहीं केवल आरोप्यमाण 'बैल' का ही कथन है। अतः साध्यव-

साना है। बस सारोपा और साध्यवसाना में यही अन्तर है। इसके सिवा वहाँ बैल और गँवारपन आदि परस्पर में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने पर भी अत्यन्त सादृश्य के प्रभाव से तादात्म्य अर्थात् अभेद की प्रतीति कराना-मात्र प्रयोजन है, किन्तु यहाँ—साध्यवसाना के 'बैल है' इस उदाहरण में—'वाहीक' पद, जो विशेष्य-वाचक है, नहीं कहा गया है, अतः लक्ष्यार्थ के समझने के प्रथम ही मुख्यार्थ के ज्ञानमात्र से बैलपन और गँवारपन, जो परस्पर इनके भेद बतलानेवाले धर्म हैं उनकी प्रतीति के बिना ही बैल और गँवार में सर्वथा अभेद कथित है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि गँवार को बैल के समान जड़ और मन्द तो सारोपा और साध्यवसाना दोनों ही में सूचन किया गया है, तथापि सारोपा में भेद की प्रतीति होते हुए अर्थात् गँवार और बैल दो पृथक् पृथक् वस्तु समझते हुए, एकता का—तद्रूपता का—ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है, और साध्यवसाना में दोनों की पृथक् पृथक् प्रतीति कराए बिना ही सर्वथा अभेद अर्थात् 'यह बैल ही है' ऐसा ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है। इन दोनों लक्षणाओं में यही उल्लेखनीय भेद है।

पद्यात्मक उदाहरण—

लावण्य-पूरित नवीन नदी सुहाती,
देखो वहाँ द्विरद कुम्भ-तटी दिखाती;
उन्निद्र चन्द्र अरविन्द प्रफुल्लशाली,
है काञ्चनीय कदली-युग-दण्ड वाली ॥४४॥

किसी रूपवती रमणी को लक्ष्य करके किसी युवक की यह उक्ति है! रमणी में लावण्य की नदी का और उसके अङ्गों में—उरोज, मुख, नेत्र, और जङ्घाओं में—तट, पूर्णचन्द्र, प्रफुल्लित कमल और सुवर्ण के कदली स्तम्भों का आरोप है। यहाँ आरोप के विषय रमणी और उसके अङ्गों का कथन नहीं किया गया है, केवल आरोप्यमाण नदी और 'तट' आदि का कथन है। अतः साध्यवसाना है। रमणी के अङ्गों के साथ गज-कुम्भ

आदि का सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी है। यहाँ रमणी का अत्यन्त सौन्दर्य सूचन करना प्रयोजन है। 'रूपकातिशयोक्ति' [1] अलङ्कार के अन्तर्गत यही लक्षणा रहती है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा।

'कुन्त (भाले) आ रहे हैं'।

पूर्वोक्त 'वे कुन्त आ रहे हैं' उसमें और इसमें भेद यही है कि वहाँ 'वे' सर्वनाम के प्रयोग द्वारा आरोप के विषय भालेवाले पुरुषों का भी कथन किया गया है, अतः सारोपा है; किन्तु यहाँ केवल 'कुन्त आ रहे हैं' कहा गया है, अतः केवल आरोप्यमाण 'कुन्त' का ही कथन है, न कि आरोप के विषय का, अतः साध्यवसाना है।

दूसरा उदाहरण—

'बंसी गावत है वहाँ'।

यहाँ श्रीकृष्ण में बंसी का आरोप है। आरोप का विषय—जो श्रीकृष्ण हैं, उनका कथन नहीं है। आरोप्यमाण बंसी मात्र का कथन है। श्रीकृष्ण और बंसी में अभेद कथन है, अतः साध्यवसाना है! बंसी जड़ है, वह गान नहीं कर सकती। अतः मुख्यार्थ 'बंसी' का बाध है। यहाँ इसका लक्ष्यार्थ 'बंसीवाला' ग्रहण किया जाता है। इस लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ 'बंसी' भी लगा हुआ है, अतः उपादान लक्षणा है। धार्य-धारक सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण-लक्षणा।

घृत को दिखलाकर कहा जाय कि 'यही आयु है।'

पूर्वोक्त 'घृत आयु है' उसमें और इसमें एक भेद तो यह है कि वहाँ घृत (आरोपका विषय) और 'आयु' (आरोप्यमाण)—दोनो का कथन किया जाने से सारोपा है, और यहाँ आरोप के विषय 'घृत' का

---

१ रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार के विस्तृत विवेचन के लिये इस ग्रन्थ का दूसरा भाग अलङ्कारमञ्जरी देखिये।

कथन न किया जाकर केवल आरोप्यमाण 'आयु' का ही कथन है, अतः साध्यवसाना है। इसके सिवा दूसरा भेद प्रयोजन में है। सारोपा में 'घृत आयु है' इसका प्रयोजन, आयु-वर्द्धक अन्य-पदार्थों से घृत को केवल अत्यधिक आयु-वर्द्धक सूचन करना है। साध्यवसाना के 'यही आयु है' इस उदाहरण में घृतको अव्यभिचार (नियम) से आयु-वर्द्धक सूचन किया गया है। इन दोनों (सारोपा और साध्यवसाना) के उदाहरणों में कार्य-कारण सम्बन्ध समान है। पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' में भी साध्यवसाना लक्षणा ही है, क्योंकि 'तट' में गङ्गा के प्रवाह का आरोप है, और आरोप के विषय 'तट' का कथन नहीं है।

प्रयोजनवती लक्षणा के छओं भेदों के लक्षण और उदाहरण जो ऊपर लिखे गए हैं उनमें जिसे प्रयोजन कहा जाता है, वह व्यंग्यार्थ होता है। वह न तो वाच्यार्थ है, और न लक्ष्यार्थ। यह लक्षणा-मूला व्यञ्जना के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है—गूढ़ और अगूढ़। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के उपर्युक्त छओं भेदों में—प्रत्येक भेद दो दो प्रकार के गूढ़-व्यंग्या और अगूढ़-व्यंग्या होने से सब बारह भेद हो जाते हैं।

गूढ़-व्यंग्या लक्षणा

जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ होता है अर्थात् जिसे सहृदय-काव्यमर्मज्ञ-ही जान सकते हैं, वहाँ गूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।

उदारहण—

मुख में विकस्यो मुसकान वसीकृत बंकता चारु विलोकन है।
गति में उछलैं बहु विभ्रम त्यों मति में मरजादहु लोपन है।
मुकुलीकृत हैं स्तन, उद्धर त्यों जघनस्थल चित्त प्रलोभन है;
इहिँ चंदमुखी तन में ह्वै उदै हुलसाय रह्यो नव जोवन है ॥१५॥

किसी तरुणी को देखकर किसी युवक की यह उक्ति है। इसका मुख्य अर्थ यह है कि—(१) इस चन्द्रमुखी के अङ्गों में यौवन का उदय मुदित हो रहा है। (२) इसके मुख में मुसकान—स्मित—विकसित है। (३) वक्रता को वश करने वाला कटाक्षपात है। (४) गति में विभ्रमों की उछाल है। (५) बुद्धि में परिमित विषयता का त्याग है। (६) कुच अधखिली कली हैं। (७) जघनस्थल उद्धर है। इनमें लक्षणा, लक्ष्यार्थ और व्यंग्य अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) यौवन कोई चेतन वस्तु नहीं है। यह मुदित—हर्षित नहीं हो सकता है अतः मुख्यार्थ का बाध है। इसका लक्ष्यार्थ है यौवन अवस्था-जनित उत्कर्ष। अर्थात्, अत्यन्त सौन्दर्य। और नायिका में अभिलाषा होना व्यंग्य है।

(२) 'विकस्यो' का मुख्यार्थ है प्रफुल्लित होना। प्रफुल्लित होना, पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसकान का। अतः मुख को विकसित कहने में मुख्यार्थ का बाध है। 'विकसित' का लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' ग्रहण किया जाता है। मुख्यार्थ 'विकसत' के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का असङ्कोच रूप सादृश्य सम्बन्ध है। क्योंकि विकास और आधिक्य दोनों में असङ्कोच रहता है। मुख को पुष्पों के समान सुगन्धित सूचन करना व्यंग्य है। इसमें सादृश्य सम्बन्ध होने से गौणी, 'मुख' एवं 'विकसित' दोनों का कथन होने से सारोपा, और 'विकसित' ने अपना मुख्यार्थ छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है।

(३) 'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है किसी को अपने वश में कर लेना, यह चेतन का धर्म है। कटाक्षों द्वारा बाँकेपन को वश में करना असम्भव है, अतः मुख्यार्थ का बाध है। 'वशीकृत' का लक्ष्यार्थ स्वाधीन करना ग्रहण किया जाता है। अपने अभिलषित विषय में प्रवृत्ति रूप सम्बन्ध है। अपने प्रेमी में अनुराग सूचन करना प्रयोजन है।

(४) 'विभ्रम' अर्थात् तरुणियों के हाव उछलने वाली वस्तु नहीं है 'उछलना' धर्म जल आदि का है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ उछलने का लक्ष्यार्थ 'अधिकता, ग्रहण किया जाता है। प्रेर्य-प्रेरक भाव सम्बन्ध है। 'मनोहर सूचन करना व्यङ्ग्य है।

(५) मति में मर्यादा का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है क्योंकि मर्यादा का त्याग चेतन का धर्म है। यहां इसका लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। अनुराग का आधिक्य व्यङ्ग्य है।

(६) 'मुकुलीकृत' का मुख्यार्थ अधखिला रहना है। स्तनों को अध-खिला कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि आधा खिलना फूलों का होता है, न कि मनुष्य के अङ्गों का, अतः इसका लक्ष्यार्थ 'काठिन्य' है। अव-यवों की सघनता रूप सादृश्य सम्बन्ध है। मनोहरता सूचन करना व्यङ्ग्य है।

(७) जघनस्थल को 'उद्धर' कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि यह चेतन का धर्म है। उद्धर का लक्ष्यार्थ है—रतियोग्य विलक्षण होना। भार को सहन करने रूप सादृश्य सम्बन्ध है। रमणीयता सूचन करना व्यंग्य है।

इनमें जहां जहां सादृश्य सम्बन्ध है वहां गौणी और जहां जहां अन्य सम्बन्ध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इनमें जो व्यङ्ग्य हैं वे सभी गूढ़ हैं, साधारण व्यक्ति द्वारा सहज में नहीं समझे जा सकते—इन्हें काव्यमर्मज्ञ ही समझ सकते हैं अतः गूढ़-व्यंग्या लक्षणा है।

अगूढ़-व्यङ्ग्या लक्षणा

जहाँ ऐसा व्यङ्ग्य हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ़ व्यङ्ग्या लक्षणा होती है।

उदाहरण—

श्रिय परिचय सों मूढ़हू जानहिं चतुर चरित्र।
जोवन-मद तरुनिन ललित सिखवत हाव विचित्र ॥१६॥

यहां 'सिखवत' पद लाक्षणिक है। सिखाने का मुख्यार्थ है उपदेश करना। यह चेतन का कार्य है। यौवन जड़ है। उसके द्वारा उपदेश[1] दिया जाना असम्भव है, अतः मुख्यार्थ का बाध है। 'सिखवत' का लक्ष्यार्थ है 'प्रकट करना'। प्रकट करना यह सामान्य वाक्य है, और 'सिखाना' यह विशेष वाक्य है, अतः यहां सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है। अनायास लालित्य का ज्ञान होना व्यङ्ग्य है। यह व्यङ्ग्य गूढ़ नहीं—सहज ही में समझा जा सकता है अतः अगूढ़ व्यङ्ग्या है। सिखवत ने अपना मुख्यार्थ छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अगूढ़ गुणीभूत व्यङ्ग्य—मध्यमकाव्य में यही लक्षणा होती है।

गूढ़ के समान अगूढ़ व्यङ्ग्य भी सभी लक्षणाओं के भेदों में हो सकता है। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिए हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लक्षणा का मूल लाक्षणिक शब्द है, अतः लाक्षणिक शब्द पर ही लक्षणा अवलम्बित है।

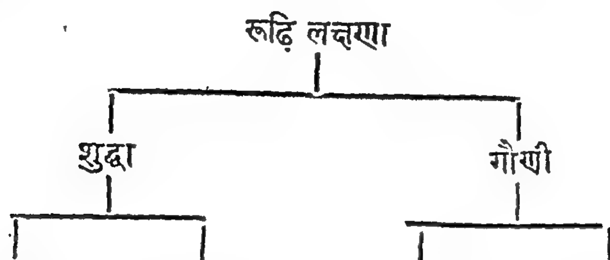
यहाँ तक काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षणा के भेद लिखे गये हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार लक्षणा के भेद

साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने शुद्धा लक्षणा के समान गौणी के भी उपादान और लक्षण-लक्षणा, दो भेद और अधिक लिखकर इन दोनों को सारोपा और साध्यवसाना में विभक्त करके गौणी के भी चार भेद माने हैं। गौणी के ये चार और शुद्धा के चार भेद और इन आठों के गूढ़-व्यङ्ग्य और अगूढ़-व्यङ्ग्य १६, भेद लिखे हैं। फिर ये सोलह भी पदगत और वाक्यगत भेद से ३२ और ये ३२ भी कहीं धर्म- गत और कहीं धर्मिगत भेद से प्रयोजनवती लक्षणा के इस प्रकार ६४ भेद लिखे

१ उपदेश का अर्थ है न जानी हुई बात को शब्द द्वारा कथन करके समझाना।

हैं और रूढ़ि लक्षणा के भी साहित्यदर्पण में निम्नलिखित १६ भेद लिखे हैं।



(१) उपादान (२) लक्षणलक्षणा (३) उपादान (४) लक्षणलक्षणा

ये चारों भेद सारोपा और साध्यवसाना दोनों प्रकार के होने पर आठ और ये आठों भी कहीं पदगत और कहीं वाक्यगत होने पर १६ होते हैं। इस प्रकार रूढ़ि के १६ और प्रयोजनवती के उपर्युक्त ६४ सब मिलाकर लक्षणा के ८० भेद विश्वनाथ ने लिखे हैं। इनमें जो भेद काव्यप्रकाश से अधिक बताये गए हैं वे सब महत्वपूर्ण न होने के कारण[1] यहाँ केवल पदगत और वाक्यगत एवं धर्मगत और धर्मिगत भेदों के उदाहरण ही लिखे जाते हैं—

पदगत और वाक्यगत लक्षणा

जहाँ एक ही पद लाक्षणिक हो वहाँ पदगत लक्षणा समझना चाहिये। जैसे, पूर्वोक्त 'गङ्गा पर गाँव' में 'गङ्गा' यह एक ही पद लाक्षणिक है। अतः ऐसे उदाहरण पदगत लक्षणा के होते हैं। जहाँ अनेक पदों के समूह से बना हुआ सारा वाक्य लाक्षणिक होता है, वहाँ वाक्यगत लक्षणा होती है। जैसे, पूर्वोक्त 'कीन्ह कैकई सब कर काजू।' में सारा वाक्य लाक्षणिक है।

१ 'काव्यप्रदीप' में साहित्यदर्पण के इस मत का खण्डन भी किया है। देखिये—काव्यप्रदीप में काव्यप्रकाश के 'शुद्धैव सा द्विधा' २।१० की व्याख्या

धर्मगत और धर्मिगत लक्षणा

यहाँ 'धर्मि' से लक्ष्यार्थ और 'धर्म' से लक्ष्यार्थ का धर्म समझना चाहिए। अर्थात् लक्षणा का प्रयोजन रूप (व्यंग्यार्थ) जहाँ लक्ष्यार्थ में हो वहाँ धर्मिगत लक्षणा और जहाँ लक्ष्यार्थ के धर्म में प्रयोजन हो, वहाँ धर्मगत लक्षणा होती है। जैसे—

चातक मोरन धुनि बढ़ी, रही घटा भुवि छाय।
सहिहौं सब हौं राम पै, किमि सहि है सिय हाय॥१७॥

वर्षाकालिक उद्दीपन विभावों को देखकर श्रीजनकनन्दिनी के वियोग में किष्किन्धा-स्थित श्रीरघुनाथजी चिन्ता कर रहे हैं कि मैं तो 'इस वर्षा-कालिक विरह-ताप को सर्व प्रकार सहन कर सकता हूँ। पर हाय! ऐसे समय में वैदेही की क्या दशा होगी!' यहाँ 'हौं राम' के मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि, जब श्रीराम स्वयं वक्ता हैं तब 'हौं राम' कहा जाना व्यर्थ है। अतः 'हौं राम' का उपादानलक्षणा द्वारा 'मैं वनवासादि अनेक दुःख सहन करनेवाला कठोर हृदय राम हूँ', यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। कठोरता के अतिशय रूप प्रयोजन को सूचन करने के लिये 'हौं राम' पद का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ इस लक्ष्यार्थ में प्रयोजन होने के कारण यह धर्मिगत लक्षणा है।

पूर्वोक्त 'गङ्गा पर घर' में गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ 'तट' है और तट का धर्म पवित्रता आदि है। वहाँ तट के धर्म पवित्रतादि का अतिशय सूचन करना प्रयोजन है। अतः वहाँ धर्मगत लक्षणा है।

तृतीय स्तवक

—:※:—

व्यञ्जना[1]

अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के विरत होजाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यञ्जना कहते हैं।

व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्यार्थ

जिस शब्द का व्यञ्जना शक्ति द्वारा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत होता है उसे 'व्यञ्जक' कहते हैं। व्यञ्जना से प्रतीत होनेवाले अर्थ को 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते हैं।

व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा नहीं करा सकतीं। क्योंकि शब्द, बुद्धि और क्रिया अपना-अपना एक-एक व्यापार करके विरत (शान्त) हो जाने पर फिर वे व्यापार नहीं कर सकते[2]। अभिप्राय यह कि एक बार उच्चारण किया गया शब्द एक ही बार अपना अर्थ बोध करा सकता है—अनेक

---

१ अप्रकट वस्तु को प्रकट करने वाले पदार्थ को अञ्जन (नेत्रों में लगाने का सुरमा) कहा जाता है। अंजन में 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यञ्जन' शब्द बनता है। इसका अर्थ है एक विशेष प्रकार का अञ्जन। साधारण अञ्जन दृष्टि-मालिन्य को नष्ट करके अप्रकट वस्तु को प्रकट करता है। 'व्यञ्जन' अभिधा और लक्षणा से जो अर्थ प्रकट न हो सके उस अप्रकट अर्थ को प्रकट करता है। अतएव इस शब्द-शक्ति का नाम 'व्यञ्जना' है।

२ "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।"

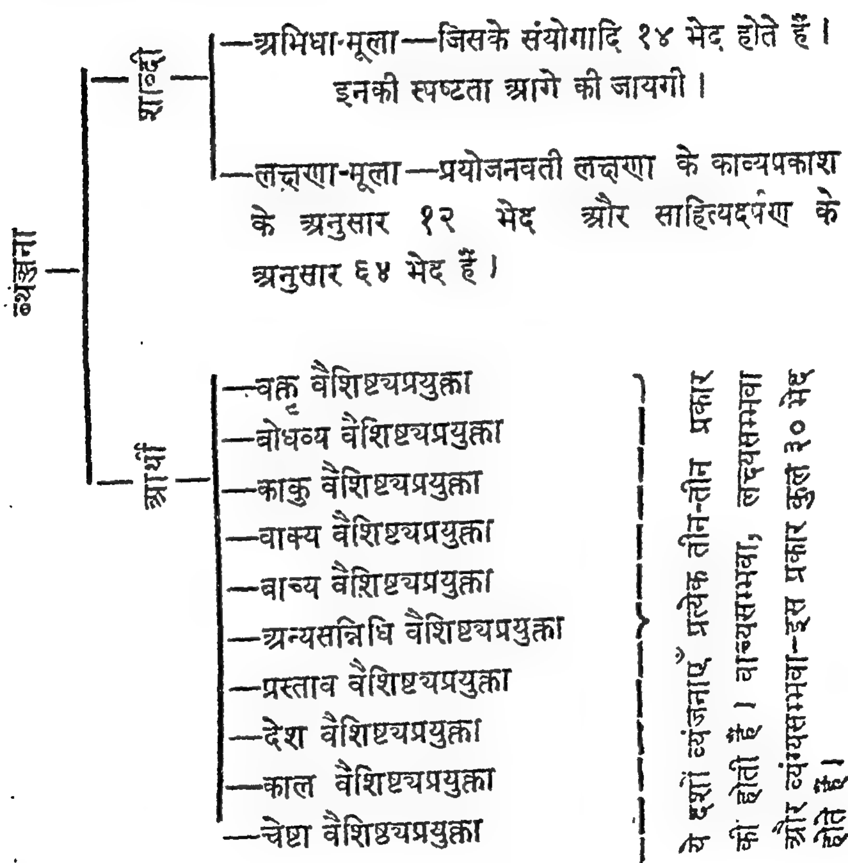
वार नहीं। बुद्धि (ज्ञान) उदय होकर एक ही वार प्रकाश करती है। अर्थात् 'घट' आकार से परिणित बुद्धि घट का ही ज्ञान करा सकती है, न कि पट का। क्रिया भी उत्पन्न होकर एक ही वार अपना कार्य करती है। जैसे बाण एक वार छोड़ा जाने से एक ही वार चलेगा, अनेक वार न चल सकेगा। ये तीनों ही शब्द, बुद्धि और क्रिया क्षणिक हैं—उत्पन्न हो कर अत्यन्त अल्प समय तक ही ठहरते हैं। इसी न्याय के अनुसार वाच्यार्थ का बोध कराना अभिधा और लक्ष्यार्थ का बोध कराना लक्षणा का व्यापार है। जब यह अपने-अपने व्यापार का अर्थात् अभिधा अपने वाच्यार्थ का और लक्षणा अपने लक्ष्यार्थ का बोध करा देती है, तब उनकी शक्ति क्षीण होजाने से वे शान्त हो जाती हैं—हट जाती हैं। उस के बाद किसी अन्य अर्थ का बोध कराने की उनमें सामर्थ्य नहीं रहती। ऐसी अवस्था में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अर्थ की यदि प्रतीति होती है तो वह व्यञ्जना शक्ति ही करा सकती है। जिस प्रकार अभिधा द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध न हो सकने पर लक्ष्यार्थ के लिए लक्षणा शक्ति का स्वीकार किया जाना अनिवार्य है, उसी प्रकार अभिधा और लक्षणा जिस अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं, उस अर्थ के बोध कराने के लिए किसी तीसरी शक्ति का स्वीकार किया जाना भी अनिवार्य है, और ऐसे अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को ही व्यञ्जना कहते हैं।

व्यंग्यार्थ को 'ध्वन्यार्थ', 'सूच्यार्थ', 'आक्षेपार्थ' और 'प्रतीयमानार्थ' आदि भी कहते हैं। यह वाच्यार्थ की तरह न तो कथित ही होता है, और न लक्ष्यार्थ की तरह लक्षित ही, किन्तु यह व्यंजित, ध्वनित, सूचित, आक्षिप्त और प्रतीत होता है।

अभिधा और लक्षणा का व्यापार (क्रिया) केवल शब्दों में ही होता है, किन्तु व्यञ्जना का व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में। अर्थात्, वाचक

ओर लाक्षणिक तो केवल शब्द होते हैं, । पर व्यञ्जक केवल शब्द ही नहीं, किन्तु वाच्य; लक्ष्य और व्यंग्य जो तीन प्रकार के अर्थ हैं वे भी व्यञ्जक होते हैं ।

व्यञ्जना के निम्नलिखित भेद हैं:—



इस तालिका के अनुसार व्यञ्जना के शाब्दी और आर्थी यह दो भेद होते हैं। इन दोनों भेदों के उपर्युक्त अवान्तर भेदों की स्पष्टता इस प्रकार है:—

अभिधा-मूला शाब्दी व्यञ्जना

अनेकार्थी शब्दों का 'संयोग' आदि द्वारा एक अर्थ नियन्त्रित होजाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा-मूला व्यञ्जना कहते हैं।

जिन शब्दों के एक से अधिक—अनेक—अर्थ होते हैं, वे अनेकार्थी शब्द कहे जाते हैं। अनेकार्थी शब्दों के वाच्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा की शक्ति को, 'संयोग' आदि (जिनकी स्पष्टता नीचे की जायगी) एक ही विशेष अर्थ में नियन्त्रित कर देते हैं। अतः उस विशेष अर्थ के सिवा अनेकार्थी शब्द के अन्य अर्थ अवाच्य होजाते हैं। अर्थात्, वे अन्य अर्थ अभिधा द्वारा न हो सकने के कारण वाच्यार्थ नहीं होते। ऐसी अवस्था में अनेकार्थी शब्द के वाच्यार्थ से भिन्न जिस किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा-मूला व्यञ्जना द्वारा हो सकती है। क्योंकि अभिधा की शक्ति तो 'संयोग आदि के कारण एक अर्थ का बोध कराके रुक ही जाती है, और पूर्वोक्त मुख्यार्थ के बाध आदि तीन कारणों के समूह के बिना लक्षणा उपस्थित हो नहीं सकती। यह व्यञ्जना अभिधा के आश्रित है, क्योंकि अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही इसे उपस्थित होने का अवसर मिलता है। इसीलिए अभिधा-मूला कही जाती है।

अनेकार्थी शब्दों के एक अर्थ (मुख्यार्थ) का बोध कराके अभिधा की शक्ति को नियन्त्रित करने वाले 'संयोग' आदि जिन कारणों का ऊपर उल्लेख हुआ है वे (१) संयोग, (२) वियोग, (३) साहचर्य, (४) विरोध, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिंग, (८) अन्यसन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११ देश, (१२) काल, (१३) व्यक्ति और (१४) स्वर आदि हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) संयोग ।

"शंख-चक्र-सहित हरि ।"

हरि-शब्द के इन्द्र, विष्णु, सिंह, वानर, सूर्य और चन्द्रमा आदि अनेक अर्थ हैं । शंख-चक्र का सम्बन्ध केवल भगवान् श्रीविष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः यहाँ 'शंख-चक्र' के संयोग ने—'शंख-चक्र-सहित' कहने से–'हरि' शब्द को केवल 'विष्णु' के अर्थ में ही नियन्त्रित कर दिया है । यहाँ हरि शब्द के इन्द्र आदि अन्य अर्थ बोध कराने में 'शंख-चक्र-सहित' कहने से अभिधा शक्ति रुक गई है । इसी प्रकार—

पुष्कर सोहत चंद सो वन पलास के फूल ।

पुष्कर और वन अनेकार्थी शब्द हैं—पुष्कर का अर्थ आकाश है और तालाब भी । वन का अर्थ जङ्गल है और जल भी । यहाँ चन्द्रमा के संयोग ने 'पुष्कर' को आकाश के अर्थ में और पलास के फूल के संयोग ने 'वन' को जङ्गल के अर्थ में ही नियन्त्रित कर दिया है । अतः यहाँ इनका क्रमशः आकाश और जङ्गल ही अर्थ हो सकता है, अभिधा द्वारा दूसरा अर्थ नहीं हो सकता ।

(२) वियोग ।

"शंख-चक्र-रहित हरि ।"

इसमें शंख-चक्र के वियोग ने 'हरि' शब्द को श्रीविष्णु के अर्थ में नियन्त्रित कर दिया है । 'हरि' शब्द का यहाँ विष्णु के सिवा दूसरा अर्थ बोध होने में शंख-चक्र के वियोग ने रुकावट कर दी है । इसी प्रकार—

सोहत नाग न मद विना, तान विना नहिं राग ।

'नाग' और 'राग' अनेकार्थी शब्द हैं । नाग का अर्थ हाथी है और सर्प भी । राग का अर्थ अनुराग, रङ्ग और गाने की रागिनी भी है । यहाँ

मद के वियोग ने 'नाग' का अर्थ केवल हाथी और तान के वियोग ने 'राग' का अर्थ केवल गाने की रागिनी बोध कराकर अन्य अर्थों में रुकावट कर दी है।

(३) साहचर्य[१]।

"राम-लक्ष्मण।"

राम और लक्ष्मण दोनों अनेकार्थी हैं। 'राम' का अर्थ दाशरथी श्रीराम, परशुराम और बलराम आदि हैं। लक्ष्मण का अर्थ दशरथ-पुत्र लक्ष्मण, सारस पक्षी और दुर्योधन का पुत्र, आदि हैं। यहाँ लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से–साथ होने से–'राम' शब्द का अर्थ श्रीदाशरथी राम ही बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में साहचर्य के कारण रुकावट होगई है। इसी प्रकार—

विजय तहाँ, वैभव तहाँ, हरि-अर्जुन जिहिं ओर।

हरि और अर्जुन दोनों शब्द अनेकार्थी हैं। इनके परस्पर के साहचर्य से हरि का श्रीकृष्ण और अर्जुन का पाण्डुनन्दन अर्जुन ही अर्थ हो सकता है।

(४) विरोध।

"राम-रावण"

---

१ 'संयोग' और साहचर्य में यह भेद है कि जहाँ 'प्रसिद्ध सामान्य-सम्बन्ध' शब्द द्वारा कथन हो वहां 'संयोग' होता है। जैसे, गाण्डीव सहित अर्जुन (सगाण्डीवोऽर्जुनः)। इसमें 'सहित' शब्द द्वारा प्रसिद्ध सम्बन्ध कहा गया है। जहाँ केवल सम्बन्धियों का कथन मात्र होता है वहाँ साहचर्य होता है। जैसे गाण्डीव अर्जुन (गान्डीवार्जुनो) इसमें 'सहित' आदि शब्द के बिना सम्बन्धी-मात्र का कथन है।

राम शब्द अनेकार्थी है। वह विरोधी 'रावण' शब्द के समीप होने के कारण 'राम' का दशरथ-नन्दन राम ही अर्थ हो सकता है। यहाँ विरोध ही प्रधान है, न कि साहचर्य।

(५) अर्थ।

भव-खेद-छेदन के लिये क्यों स्थाणु को भजते नहीं।

'स्थाणु' का अर्थ श्रीमहादेवजी और बिना शाखा-पत्र वाले वृक्ष का ठूँठ हैं। यहां संसार-नाश करने रूप अर्थ के बल से स्थाणु का अर्थ श्रीमहादेव ही हो सकता है। इसमें चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

(६) प्रकरण या प्रसङ्ग।

"सैंधव ले आओ।"

'सैंधव'का अर्थ सैंधा नमक और सिन्धु देश में उत्पन्न घोड़ा भी है। यह वाक्य भोजन के प्रकरण में कहा जायगा तो इसका अर्थ सैंधा नमक ही होगा। बाहर जाने के समय कहा जायगा तो घोड़ा अर्थ होगा। प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके दूसरे अर्थ के बोध कराने में अभिधा रुक जायगी।

(७) लिङ्ग।

लिङ्ग का अर्थ यहाँ लक्षण या विशेषता-सूचक चिह्न है

कुपित मकरध्वज हुआ, मर्याद सब जाती रही।

'मकरध्वज' का अर्थ समुद्र और कामदेव है। यहाँ कोप के चिह्न-(लिङ्ग) से मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही बोध होता हैं, क्योंकि समुद्र में कोप का होना वस्तुतः सम्भव नहीं है *।

---

* इसमें और पूर्वोक्त 'संयोग' में यह भेद है कि 'संयोग' में अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में प्रसिद्ध न होते हुये किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध होनेवाला सम्बन्ध होता है। और 'लिङ्ग' में अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में सर्वथा न रहने वाला चिह्न होता है।

(८) अन्यसन्निधि।

'कर सों सोहत नाग।'

'नाग' और 'कर' अनेकार्थी हैं। कर शब्द की समीपता से 'नाग' का अर्थ हाथी और नाग की समीपता से 'कर' का अर्थ हाथी की सूंड़ ही बोध होता है।

(६) सामर्थ्य।

मधुमत्त कोकिल।

'मधु' शब्द के मदिरा, मकरन्द, एक दैत्य, वसन्त-ऋतु आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु कोकिल को मतवाली बनाने की सामर्थ्य वसन्त-ऋतु में ही है, इसलिए 'मधु' का अर्थ यहाँ वसन्त ही हो सकता है।

(१०) औचित्य।

"रे मन, सबसों निरस रहु, सरस राम सों होहि।
इहै सिखावन देत है, तुलसी निसि-दिन तोहि॥" ८ (१७)

'निरस' का अर्थ न्यून और रस-हीन भी है। 'सरस' का अर्थ अधिक और रस-युक्त भी है। यहाँ जगत से न्यून और राम से अधिक यह अर्थ अनुचित है, इसलिये 'राम के विषय में सरस और जगत् से रस-हीन रहना' औचित्य से बोध होता है। क्योंकि यही अर्थ उचित है।

(११) देश।

'ज्यों विहरत घनश्याम नभ, त्यों विहरत व्रज राम।'

'घनश्याम' का अर्थ श्याममेघ और श्रीकृष्ण भी है। 'राम' शब्द भी अनेकार्थी है। 'नभ' और 'व्रज' शब्द देश-वाचक की समीपता से यहाँ घनश्याम का अर्थ मेघ और राम का अर्थ श्रीबलराम ही हो सकता है।

(१२) काल।

चित्रभानु निसि में लसत।

राम शब्द अनेकार्थी है। वह विरोधी 'रावण' शब्द के समीप होने के कारण 'राम' का दशरथ-नन्दन राम ही अर्थ हो सकता है। यहाँ विरोध ही प्रधान है, न कि साहचर्य।

(५) अर्थ।

भव-खेद-छेदन के लिये क्यों स्थाणु को भजते नहीं।

'स्थाणु' का अर्थ श्रीमहादेवजी और बिना शाखा-पत्र वाले वृक्ष का ठूँठ हैं। यहां संसार-नाश करने रूप अर्थ के बल से स्थाणु का अर्थ श्रीमहादेव ही हो सकता है। इसमें चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है।

(६) प्रकरण या प्रसङ्ग।

"सैंधव ले आओ।"

'सैंधव'का अर्थ सैंधा नमक और सिन्धु देश में उत्पन्न घोड़ा भी है। यह वाक्य भोजन के प्रकरण में कहा जायगा तो इसका अर्थ सैंधा नमक ही होगा। बाहर जाने के समय कहा जायगा तो घोड़ा अर्थ होगा। प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके दूसरे अर्थ के बोध कराने में अभिधा रुक जायगी।

(७) लिङ्ग।

लिङ्ग का अर्थ यहाँ लक्षण या विशेषता-सूचक चिह्न है

कुपित मकरध्वज हुआ, मर्याद सब जाती रही।

'मकरध्वज' का अर्थ समुद्र और कामदेव है। यहाँ कोप के चिह्न-(लिङ्ग) से मकरध्वज का अर्थ कामदेव ही बोध होता हैं, क्योंकि समुद्र में कोप का होना वस्तुतः सम्भव नहीं है*।

* इसमें और पूर्वोक्त 'संयोग' में यह भेद है कि 'संयोग' में अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में प्रसिद्ध न होते हुये किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध होनेवाला सम्बन्ध होता है। और 'लिङ्ग' में अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में सर्वथा न रहने वाला चिह्न होता है।

(८) अन्यसन्निधि।

'कर सों सोहत नाग।'

'नाग' और 'कर' अनेकार्थी हैं। कर शब्द की समीपता से 'नाग' का अर्थ हाथी और नाग की समीपता से 'कर' का अर्थ हाथी की सूंड़ ही बोध होता है।

(९) सामर्थ्य।

मधुमत्त कोकिल।

'मधु' शब्द के मदिरा, मकरन्द, एक दैत्य, वसन्त-ऋतु आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु कोकिल को मतवाली बनाने की सामर्थ्य वसन्त-ऋतु में ही है, इसलिए 'मधु' का अर्थ यहाँ वसन्त ही हो सकता है।

(१०) औचित्य।

"रे मन, सबसों निरस रहु, सरस राम सों होहि।
इहै सिखावन देत है, तुलसी निसि-दिन तोहि॥" ८ (१७)

'निरस' का अर्थ न्यून और रस-हीन भी है। 'सरस' का अर्थ अधिक और रस-युक्त भी है। यहाँ जगत से न्यून और राम से अधिक यह अर्थ अनुचित है, इसलिये 'राम के विषय में सरस और जगत् से रस-हीन रहना' औचित्य से बोध होता है। क्योंकि यही अर्थ उचित है।

(११) देश।

'ज्यों विहरत घनश्याम नभ, त्यों विहरत व्रज राम।'

'घनश्याम' का अर्थ श्याममेघ और श्रीकृष्ण भी है। 'राम' शब्द भी अनेकार्थी हैं। 'नभ' और 'व्रज' शब्द देश-वाचक की समीपता से यहाँ घनश्याम का अर्थ मेघ और राम का अर्थ श्रीबलराम ही हो सकता है।

(१२) काल।

चित्रभानु निसि में लसत।

'चित्रभानु' का अर्थ सूर्य और अग्नि भी है। किन्तु रात्रि में अग्नि का ही प्रकाश होता है, न कि सूर्य का। अतः काल-वाचक 'निसि' शब्द ने यहां चित्रभानु को अग्नि के अर्थ में ही नियन्त्रित कर दिया है।

(१३) व्यक्ति।

"काहे को सोचति सखी! काहे होत विहाल;
बुधि-छल-बल करि राखिहौं पति तेरी नव-बाल।" १६॥

यहां व्यक्ति का अर्थ स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्ग समझना चाहिये। 'पति' शब्द अनेकार्थी है। ये परकीया नायिका से दूती के वाक्य हैं—'तेरी पति मैं रख लूँगी'। 'तेरी' स्त्रीलिङ्ग होने से पति का अर्थ यहां लज्जा ही हो सकता है, न कि स्वामी।

(१४) स्वर।

आचार्यों का मत है कि स्वर का प्रायः वेदों में ही प्रयोग होता है। पर बातचीत में भी स्वर की विलक्षणता से वाक्य का एक विशेष अर्थ निर्णय किया जा सकता है।

ऊपर दिये हुये उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि इन 'संयोग' आदि कारणों से अनेकार्थी शब्दों का एक वाच्य अर्थ ही अभिधा द्वारा बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में अभिधा की शक्ति इन (संयोग आदि) के द्वारा रुक जाने के कारण अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में अन्य अर्थों के अवाच्य हो जानेपर जब किसी अनेकार्थी शब्द में किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है तो अभिधा मूला व्यञ्जना द्वारा ही हो सकती है। अभिधा-मूला व्यञ्जना का उदाहरण—

मद्रात्म है अति विशाल सु-वंश उच्च,
है पास में बहु शिलीमुख भी स-पक्ष;
जो है सदैव परवारण दर्शनीय
दानाम्बु-पूर्ण कर-शोभित है तदीय। २०॥

इसमें कवि द्वारा किसी राजाकी प्रसंशा की गई है। वह राजा भद्रात्म (शुद्ध अन्तःकरण वाला) है, विशाल वंश में (उच्चकुल में) उत्पन्न है, जिसके समीप स-पक्ष शिलीमुख (पंखदार बाणों) का समूह है, जो परवारण(शत्रुओं को निवारण) करने वाला है, और जिसका कर (हाथ) सदा ही दान देने को लिये हुए जल से भरा रहता है। यह वाच्यार्थ है, क्योंकि कवि द्वारा राजा की प्रशंसा किए जाने का प्रकरण है। इस प्राकरणिक वाच्यार्थ का बोध कराके अभिधा की शक्ति पूर्वोक्त 'प्रकरण' के द्वारा रुक जाती है--प्रकरणगत राजा की प्रशंसा के सिवा दूसरा अर्थ अभिधा द्वारा बोध नहीं हो सकता। इस पद्य में 'भद्रात्म' आदि बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो अनेकार्थी हैं। अतः इस वर्णन में एक दूसरा अर्थ--हाथी के वर्णन का—भी प्रतीत होता है। जैसे—परवारण= श्रेष्ठ हाथी, भद्रात्म=भद्र जाति का, विशालवंश=बड़े बाँस के समान ऊंचा अथवा जिसकी पीठ का बाँस ऊंचा है, और जिसके पास शिली-मुख=भौंरों के समूह रहते हैं, क्योंकि उसकी दानाम्बु पूर्ण कर है=सूंड़ मद के चूने से सदैव शोभित रहती है। यह दूसरा अर्थ वाच्यार्थ नहीं है, क्योंकि वाच्यार्थ तो उसे ही कहा जाता है, जिसका अभिधा शक्ति द्वारा बोध होता है। यहाँ अभिधा की शक्ति तो प्रकरण के कारण राजा के वर्णन का एक अर्थ बोध कराकर रुक जाती है—प्रकरण ने अभिधा की शक्ति को दूसरा अर्थ बोध कराने से रोक दिया है। और न यह लक्ष्यार्थ ही है, क्योंकि लक्ष्यार्थ तो वहीं ग्रहण किया जाता है जहाँ वाच्यार्थ का बाध होता है। यहाँ राजा के वर्णन का अर्थ, जो वाच्यार्थ है,वह असम्भव न होने से उसका बाध नहीं है। अतः हाथी के वर्णनवाला जो अर्थ है वह न तो वाच्यार्थ है और न लक्ष्यार्थ ही। इन दोनों से भिन्न व्यंग्यार्थ है, जो अभिधा-मूला व्यञ्जना का व्यापार है। क्योंकि इस व्यंग्यार्थ को यहां अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही उपस्थित होने का अवसर मिला है। यह व्यञ्जना शाब्दी इसलिए कही जाती है कि वह शब्द के आश्रित है।

क्योंकि, 'भद्रात्म' के और 'शिलीमुख' आदि के स्थान पर इन शब्दोंके 'कल्याणात्मक' और 'बाण' आदि पर्याय शब्द बदल देने पर हाथी के वर्णनवाले व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है।

इस प्रसङ्ग में एक महत्व-पूर्ण बात यह भी उल्लेखनीय है कि अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग में 'श्लेष'[1] अलङ्कार भी होता है। पर श्लेष में अनेकार्थी शब्दों के जो एक से अधिक अर्थ होते हैं, वे सभी अभिधा के वाच्यार्थ ही होते हैं, क्योंकि वे सब अर्थ प्रकरणगत होते हैं। अतः उन अर्थों का बोध एक साथ ही होता है। किन्तु अभिधा-मूला व्यञ्जना में अनेकार्थी शब्दों में जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह अभिधा की शक्ति अपने वाच्यार्थ का बोध कराने के बाद जब—'प्रकरण' आदि के कारण 'दूसरे अर्थ के बोध कराने में रुकजाती है, तब व्यञ्जना शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। श्लिष्ट-रूपक अलङ्कार में भी अनेकार्थी शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं। पर वहाँ विशेष्य-वाचक पद अनेकार्थी नहीं होता—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं। व्यञ्जना में विशेष्य-वाचक और विशेषण-वाचक सभी शब्द अनेकार्थी होते हैं, इनमें यही भेद है।

लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना

जिस प्रयोजन के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन की प्रतीति कराने वाली शक्ति को लक्षणा मूला व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणा प्रकरण में पहिले कह आये हैं कि प्रयोजनवती लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहाजाता है वह व्यङ्ग्यार्थ होता है। उस व्यंग्यार्थका ज्ञान

---

1 श्लेषअलङ्कार के विस्तृत विवेचन के लिए इस ग्रन्थ का दूसरा भाग अलङ्कारमञ्जरी देखिये।

लक्षणा-मूला व्यञ्जना ही करा सकती है, न कि अभिधा और लक्षणा। जैसे लक्षणा के 'गङ्गा पर गांव' इस पूर्वोक्त उदाहरण में लाक्षणिक शब्द 'गङ्गा' का प्रयोग तट में पवित्रता आदि धर्म सूचित करने रूप जिस प्रयोजन के लिये किया गया है, उस प्रयोजन का अर्थात् तट में पवित्र-तादि धर्मों का सूचन न तो अभिधा ही करा सकती है (क्योंकि अभिधा तो गङ्गा शब्द का संकेतित वाच्यार्थ, जो प्रवाह-धारा है उसी का बोध करा के रुक जाती है) और न लक्षणा ही पवित्रता आदि धर्मों का सूचन करा सकती है। क्योंकि जहाँ मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सम्बन्ध और प्रयोजन, ये तीन कारण होते हैं, वहीं लक्षणा हो सकती है। परन्तु 'तट' गङ्गा शब्द का लक्ष्यार्थ है, न कि मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ (तट) का बाध नहीं है, क्योंकि तट पर गाँव का होना सम्भव है। और न 'तट' का पवित्रादि धर्मों से सम्बन्ध ही है, क्योंकि पवित्रतादि धर्म गङ्गा के प्रवाह के हैं न कि तट के। एवं न पवित्रादि धर्मों का (जो स्वयं प्रयोजन हैं) बोध होने में कोई दूसरा प्रयोजन ही है। अर्थात्, पवि-त्रतादि धर्म 'तट' में सूचन करने के प्रयोजन के लिये तो लाक्षणिक शब्द 'गङ्गा' का प्रयोग ही किया गया है, फिर प्रयोजन में दूसरा प्रयोजन क्या हो सकता है? यदि एक प्रयोजन में दूसरा, दूसरे में तीसरा, तीसरे में चौथा प्रयोजन स्वीकार किया जाय, तो इस प्रयोजन-शृङ्खला का तो कहीं अन्त ही न हो सकेगा। फलतः अनवस्था[1] के कारण मूलभूत प्रयो-जन भी, जिसके लिये लक्षणा की जाती है निर्मूल हो जायगा।

निष्कर्ष यह है कि लक्षणा में जो प्रयोजन अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ होता है उसे अभिधा और लक्षणा दोनों ही प्रतीति नहीं करा सकतीं—केवल

---

१ 'अनवस्था' झूठे तर्क को कहते हैं, जो अप्रमाणिक, अन्त-रहित प्रवाह-मूलक है—'मूलक्षयकरीं चाहुरनवस्थां च दूषणम्'।

लक्षणा मूला व्यञ्जना द्वारा ही वह (व्यङ्ग्यार्थ) प्रतीत हो सकता है[1]।

उपर्युक्त अभिधा-मूला और लक्षणा-मूला व्यञ्जना शाब्दी इसलिये हैं कि ये शब्द के आश्रित हैं--अभिधा-मूला तो अनेकार्थी शब्दों पर निर्भर है, और लक्षणा-मूला लाक्षणिक शब्दों पर।

आर्थी व्यञ्जना

[१] वक्तृ, [२] बोधव्य, [३] काकु, [४] वाक्य, [५] वाच्य, [६] अन्यसन्निधि, [७] प्रस्ताव, [८] देश [९] काल और [१०] चेष्टा के वैशिष्ट्य[2] से जिस शक्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह आर्थी व्यञ्जना कही जाती है।

(१) वक्तृ-वैशिष्ट्य—वाक्य के कहनेवाले को वक्तृ (वक्ता) कहते हैं। वक्ता स्वयं कवि होता है या कवि-निबद्ध पात्र अर्थात् कवि द्वारा कल्पित व्यक्ति। वक्ता की उक्ति की विशेषता से जहाँ व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है, उसे वक्तृवैशिष्ट्य कहते हैं।

उदाहरण—

"प्रीतम की यह रीति सखि, मोपै कही न जाय;
झिझकत हू ढिँग ही रहत, पल न वियोग सुहाय।" २१॥

---

१ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते;
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा।
(काव्यप्रकाश, २। १४-१५)

२ विशेषता या विलक्षणता।

यहाँ कवि-कल्पित नायिका वक्ता है। उसकी इस उक्ति के वैशिष्ट्य से यह व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है कि "मैं अत्यन्त रूपवती हूँ" मेरा पति मुझ पर अत्यन्त आसक्त है"। यह आर्थी व्यञ्जना इसलिये है कि यहाँ 'झिझकत' के स्थान पर 'अनादर' आदि और 'ढिंग' के स्थान पर 'समीप' आदि पर्याय शब्द (उसी अर्थ के बोधक शब्द) बदल देने पर भी उक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो सकता है—शाब्दी व्यञ्जना की तरह शब्दों पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु अर्थ के आश्रित है। आर्थी व्यञ्जना के सभी भेदों के उदाहरणों में शब्द परिवर्तन करने पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती रहती है।

"मनरंजन अंजन कै, तन में अँगराग रचैं रति रंगन में ;
गृह के सिगरे नित काज करैं गुरु लोगन के सतसंगन में।
कहिए कहि कौन सों कौन सुनैं सु सहैं बनैं प्रेम प्रसंगन में;
धनि वे. धनि हैं तिनके लहने, पहिरैं गहने नित अंगन में।"२२॥

यहाँ प्रेम-गर्विता रूपवती नायिका वक्ता है। इसमें 'मेरे' पति का मुझपर इतना प्रेम है कि वह मुझे कहीं भी बाहर नहीं जाने देते, और अङ्गों का लावण्य ढक जाने के कारण वे मुझे आभूषण भी नहीं पहनने देते हैं। यह व्यङ्ग्य है, वह वक्ता की उक्ति वैशिष्ट्य से सूचित होता है।

(२) बोधव्य-वैशिष्ट्य—श्रोता को बोधव्य कहते हैं। जहां वाक्य को सुननेवाले की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ का सूचन होता हो।

कुच के तट चंदन छूट्यो सबै, अधरानहु पै न रही अरुनाई ;
दृग-कजन-कोर निरंजन भे तनु अंगन में पुलकावलि छाई।
नहिँ जानत पीर हितून की तू, अरी ! बोलिबो झूठ कहाँ पढ़ि आई;
इतसों गई न्हाइबे वापी ही तू, न गई तिहिँ पापीके पास तहाँई ! २३॥

अपने नायक को बुलाने के लिए भेजी हुई, किन्तु वहाँ जाकर उसके साथ रमण करके लौटी हुई, पर अपने को वापी (तालाब) पर

स्नान करके आई हुई, बतलानेवाली दूती से यह अन्यसम्भोगदुःखिता नायिका की उक्ति है। यहाँ दूती बोधव्य (सुननेवाली) है। नायिका के इन वाक्यों से "तू झूठ बोलती है वापी स्नान करने को कब गई थी? तुझे तो नायक के पास उसे बुलाने को भेजी थी, और तू उसके साथ रमण करके आई है[1]!" यह जो व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है, वह तभी सूचित हो सकता है, जब ऐसी दूती—श्रोता—के प्रति ये वाक्य कहे जायँ। यदि इस प्रकार की दूती के अतिरिक्त किसी दूसरे को कहे जायँ, तो उक्त व्यङ्ग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता। इसलिए बोधव्य की विशेषता से ही यहाँ व्यङ्ग्यार्थ सूचन होता है।

"घाम धरीक निवारिए कलित ललित अलि पुंज;
जमुना-तीर तमाल तरु मिलत मालती कुंज।"२४॥ (२६)

नायक के प्रति स्वयंदूतिका नायिका की इस उक्ति में सङ्केत स्थान का सूचित किया जाना व्यङ्ग्यार्थ है। यहाँ बोधव्य नायक होने से ही यह व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो सकता है।

---

१ इस पद्य में स्नान के कथन की पुष्टि करने के लिए जो वाक्य नायिका ने कहे हैं उनमें रति-चिह्न-सूचक व्यङ्ग्यार्थ है जैसे, कुचों के तटका चन्दन छुट गया' कहने में व्यङ्ग्य यह है कि स्नान करने से केवल ऊपरी भाग का चन्दन ही छुटता है, न कि सन्धि भाग का। सन्धि-भाग का चन्दन मर्दनाधिक्य से ही छुट सकता है। अधर (नीचे का होठ) की अरुणता छुट जाने में व्यङ्ग्य यह है कि स्नान से ऊपर के होठ का भी रंग धुले बिना नहीं रह सकता (काम शास्त्र में नीचे के अधर के चुम्बन का ही विधान है) नेत्रों के प्रान्त भाग का अञ्जन भी चुम्बनाधिक्य से ही छुटता है न कि स्नान-मात्र से। रोमाञ्च का होना स्नान और रति दोनों में समान है।

(३) काकु-वैशिष्ट्य—एक विशेष प्रकार की कण्ठ-ध्वनि से कहे हुए वाक्य को 'काकु' कहते हैं[1]। जहाँ केवल काकु-उक्ति मात्र से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ तो 'काकाक्षिप्त' गुणीभूतव्यंग्य होता है। जहाँ काकु उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य होता है।

उदाहरण—

"किती न गोकुल कुल-बधू ? काहि न किहिँ सिख दीन ?
कौने तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर-लीन ?"२५॥ (२६)

मुरली की ध्वनि सुनकर विवश हो श्रीनन्दनन्दन के समीप जाकर आई हुई किसी गोपी की अपनी उस सखी के प्रति यह उक्ति है जो उसे वहाँ न जाने की शिक्षा दे रही थी। इसमें तीन काकु उक्ति हैं—(१) 'किती न गोकुल कुल-बधू'—गोकुल में कितनी कुलाङ्गनाएँ नहीं हैं ? (इस काकु उक्ति से यह अर्थ खिंचकर आता है कि प्रायः सभी कुल-बधू ही तो हैं), (२) 'काहि न किहिँ सिख दीन'—किसको किसने शिक्षा नहीं दी ? (सभी का सब ऐसी शिक्षाएँ देती रहती हैं)। (३) 'कौने तजी न कुल-गली'—(पर यह बता कि वंशी की मनोहर ध्वनि को सुनकर किसने कुल की मर्यादा नहीं छोड़ी ? सभी ने तो छोड़ी है) इन काकु उक्तियों के व्यङ्ग्यार्थ जो काकु उक्तियों के आगे ऊपर कोष्टकों में बताए गए हैं, वे काकु-वैशिष्ट्य व्यङ्ग्य नहीं हैं, किन्तु इनके बाद इन काकु उक्तियों की सहायता से "तू जो अब मुझे उपदेश दे रही है, क्या कभी मुरलीमनोहर की मुरली की चेतोहारी ध्वनि सुनकर और मेरे जैसी दशा को प्राप्त होकर तथा उस अवसर पर तुझे भी ऐसी शिक्षा मिलने पर भी क्या तू श्रीनन्दकुमार के समीप न पहुँची थी ?

१ 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते'।

सच है, उपदेश दूसरों को ही देने के लिये हुआ करते हैं ।" यह व्यंग्यार्थ जो प्रतीत होता है, वही काकु-वैशिष्ट्य व्यङ्ग प्रधान है [1]।

(४) वाक्य-वैशिष्ट्य—जहाँ सारे वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है ।

मम कपोल तजि अनत तव दृग न कियो कित गौन ?
मैं हूँ वही, कपोल वह, पिय ! अब वह न चितौन ! २६।।

अपने प्रच्छन्न-कामुक नायक के प्रति यह नायिका की उक्ति है—'तब (जब मेरे समीप बैठी हुई तुम्हारी प्रेमिका का प्रतिबिम्ब मेरी कपोलस्थली पर पड़ रहा था) मेरे कपोलों को छोड़कर तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र कहीं भी नहीं जाती थी, किन्तु अब (जब कि वह आपकी प्रेमिका यहाँ से चली गई है, और उसका प्रतिबिम्ब मेरी कपोलस्थली पर नहीं रहा है) यद्यपि मैं वही हूँ, और मेरे कपोल भी वही हैं, पर आपकी दृष्टि वह नहीं—मेरे कपोल पर नहीं आती ।' इस सारे वाक्य की विशेषता से यह व्यङ्ग्य सूचित होता है कि 'आपका प्रेम मुझ पर नहीं, उसी युवती पर है, जो अभी यहाँ बैठी हुई थी । अतः यह वाक्य-वैशिष्ट्य है ।

---

१ पञ्चम स्तवक में (गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकरण में) गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद 'काक्वाक्षिप्त व्यंग्य' भी दिखाया जायगा । उसमें काकु उक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है । पर वहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रधान नहीं होता, किन्तु गौण होता है । क्योंकि वह काकु उक्ति के साथ तत्काल ही आक्षिप्त हो आता है—खिंचकर सूचित हो जाता है । जैसा कि ऊपर की तीनों काकु उक्तियों के आगे कोष्टक में लिखे हुए वाक्यों के व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के प्रश्न के साथ ही तत्काल आक्षिप्त हो जाते हैं । इसलिये वह काक्वाक्षिप्त से आक्षिप्त गौण व्यङ्ग्य माना गया है । किन्तु काकु-वैशिष्टय व्यङ्ग्य, काकुउक्ति के साथ तत्काल आक्षिप्त नहीं होता—वह तो काव्य मर्मज्ञों को ही प्रतीत हो सकता है । काकुवैशिष्ट्य व्यङ्ग्य में काकु-उक्ति केवल सहायक मात्र होती है ।

(५) वाच्य-वैशिष्ट्य—जहाँ उत्कृष्ट विशेषणोंवाले वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होता हो।

घन रंभन थंभन पाँतन सौं रु कदंबन सौं सरसावनो है;
अति मंजु लतानि के कुंजन में अलि-गुंजन सौं मनभावनो है।
मलयानिल सीतल मन्द बहै, हिय काम-उमंग बढ़ावनो है;
लखु चंदमुखी! जमुना-तट तू सहजैं यह कैसो लुभावनो है।२७॥

यहाँ श्रेणी-वद्ध सघन कदली और कदम्ब-वृक्ष, लता-कुञ्जों में भ्रमरों का गुञ्जार और मलय-मारुत आदि कामोद्दीपक विशेषणोंवाले वाक्यार्थकी विशेषता द्वारा रमणोत्सुक नायक की नायिका के प्रति रति-प्रार्थना-रूप व्यङ्ग्यार्थ सूचन होता है।

(६) अन्य-सन्निधि—जहाँ वक्ता और सम्बोध्य (जिसको कहा जाय) के अतिरिक्त तीसरे पुरुष की समीपता के कारण व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता हो।

सौंप्यो सब गृह-काज मुहि अहो निरदई सास!
साँझ समय में छिनक अलि! मिलत कबहुँ अवकास।२८॥

अपने प्रेम-पात्र को सुनाकर अपने समीप बैठी हुई सखी के प्रति यह परकीया नायिका की उक्ति है। यहाँ वक्ता नायिका है और सम्बोध्य उसकी सखी है, क्योंकि सखी के प्रति ही उसने यह वाक्य कहा है। यहाँ तीसरे व्यक्ति (अपने प्रेम-पात्र) को सूचन किये हुए इस वाक्य के व्यङ्ग्यार्थ में नायिका ने सन्ध्या समय में मिलने के लिए सूचन किया है।

(७) प्रकरण-वैशिष्ट्य—जहाँ विशेष प्रकरण होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता हो।

सुनियत आवतु है सखी, तेरो पिय अब आज,
बैठी क्यों तू चुप अरी, वेगहि मंगल साज।

यह उप-नायक के समीप अभिसार को जाने के लिये उद्यत नायिका के प्रति उसकी अन्तरङ्ग सखी की उक्ति है। यहाँ अभिसार को रोकना व्यंग्यार्थ है। यह व्यङ्ग्य अभिसार को जाने का प्रकरण होने के कारण ही सूचित होता है।

(८) देश-वैशिष्ट्य—स्थान की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ का सूचित होना।

चित्रकूट-गिरि है वही, जहँ सिय-लछमन साथ—
मंदाकिनी सरिता निकट बास कियो रघुनाथ ।३०॥

यहाँ श्रीरघुनाथजी के निवास के कारण चित्रकूट के स्थल की विशेषता से उसकी परम पावनता सूचित होती है।

"बेलिन सो लपटाय रही हैं तमालन की अवली अति कारी;
कोकिल, केकी, कपोतन के कुल केलि करैं जहँ आनँद भारी।
सोच करौ जिन, होहु सुखी, 'मतिराम' प्रवीन सबै नर-नारी;
मंजुल वंजुल कुंजन में घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी।"३१॥
(३६)

अनुशयाना नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में जो वंजुल, कुंज आदि का होना कहा गया है, उसके द्वारा नायिका को उसकी ससुरार में संकेत-स्थान का होना सूचन किया गया है।

(९) काल-वैशिष्ट्य—समय की विशेषता के कारण व्यङ्ग्यार्थ का सूचित होना।

गुरु जन परबस तुम पिया ! गमन करत मधुकाल;
हतभागिनि हौं, का कहौं, सुनि हो सब मो हाल ।३७॥

यहाँ वसन्त-काल के कारण यह व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है कि 'वसन्त का समय घर पर आने का है, न कि विदेश गमन का। आप भले ही जाइए, पर मेरी दशा आप वहीं सुनेंगे (वह जीवित नहीं है, यह व्यंग्य)'।

(१०) चेष्टा-वैशिष्ट्य—चेष्टा द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का सूचित होना।

"न्हाय पहरि पट उठि कियो बेंदी मिस परनाम ;
दृग चलाय घर को चली, बिदा किए घनस्याम।"३३॥ (२६)

कोई गोपाङ्गना यमुना-तट पर स्नान कर रही थी। वहाँ श्रीनन्दनन्दन को आए देखकर नेत्रों की चेष्टा से उसने संकेतस्थल पर अपना आना सूचित किया है।

ये सब उदाहरण एक-एक वैशिष्ट्य के हैं। कहीं वक्तृ, बोधव्य आदि अनेक वैशिष्ट्य एक ही पद्य में एकत्रित हो जाते हैं। जैसे—

यह काल रसाल वसंत अहो! कुसुमायुध बान चलावतु री ;
फिर धीर-समीर सुगंधित हू तरुनीन अधीर बनावतु री।
वन मंजुल-वंजुल-कुंज वनी सजनी ये घनी ललचावतु री ;
नहिं पास पिया, करिए जु कहा? अब तू ही तो क्यों न बतावतु री॥३४॥

अन्तरङ्ग सखी के प्रति यह किसी नायिका की उक्ति है। वसन्त के कथन से काल-वैशिष्ट्य और वंजुल-कुंज के कथन से देश-वैशिष्ट्य है। नायिका वक्ता है, अतः वक्तृ-वैशिष्ट्य है। सम्पूर्ण वाक्यार्थ में सखी को प्रच्छन्न कामुक को बुलाने के लिये कहा जाना वाक्य-वैशिष्ट्य भी है। इसमें वक्तृ और वाक्य वैशिष्ट्य से पृथक्-पृथक् व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है।

कहीं अनेक वैशिष्ट्यों के संयोग से भी एक ही व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है। जैसे—

हौं इत सोवतु, सास उत, लखि लै अब दिन माँय ;
अरे पथिक! निसि-अंध तू गिरियो जिन कहुँ आय॥३५॥

यह कामुक-पथिक के प्रति स्वयंदूतिका नायिका की उक्ति है। 'मैं यहाँ सोती हूँ, और मेरी सास वहाँ। तू अब दिन में यह स्थान देख ले। तुझे

रतौंध आती है। रात में कहीं हम लोगों के ऊपर आकर न गिर जाना।' इस उक्ति में वक्ता नायिका और बोधव्य पथिक दोनों के वैशिष्ट्य से नायिका द्वारा अपना शयन-स्थल सूचित किया जाना व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार दो से अधिक वैशिष्ट्य के मिलने पर भी व्यञ्जना होती है।

आर्थी व्यञ्जना का व्यंग्यार्थ कवि के इच्छानुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों अर्थों में हो सकता है। अतः उपर्युक्त वक्तृ आदि वैशिष्ट्यों द्वारा होनेवाली व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—

वाच्यसम्भवा, लक्ष्यसम्भवा और व्यंग्यसम्भवा।

वाच्यसम्भवा व्यञ्जना।

गृह-उपकरन जु आज कछु तू न बतावति मातु;
कहहु कहा करतव्य अब दिन अथयो अब जातु ॥३६॥

उपनायक से मिलने को उत्सुक तरुणी का अपनी माता के प्रति यह वाक्य है—'अरी मा! गृह-उपकरण—ईंधन, शाक आदि—आज तू घर में नहीं बतलाती है, क्या कुछ बाजार से लाना है? दिन छिपना चाहता है।' इस वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के वैशिष्ट्य से 'उस तरुणी की अपने प्रेम-पात्र के समीप जाने की इच्छा' व्यंग्यार्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है।

लक्ष्यसम्भवा व्यञ्जना।

तन स्वेद कढ़्यो, अति श्वास बढ़्यो छिन-ही-छिन आइवे-जाइवे में;
अरी मो हित तू बहु खिन्न भई, पिय मेरे को एतो मनाइवे में।
कछु दोस न हौं सिर तेरे मढ़ौं, अब का घनी बात बनाइवे में,
सब तेरे ही जोग कियो सखि, तू त्रुटि राखी न नेह निभाइवे में ॥३७॥

अपने नायक को बुलाने को भेजी हुई, पर उसके साथ रमण करके लौटी हुई दूती के प्रति अन्यसम्भोग-दुःखिता नायिका की यह उक्ति है।

वाच्यार्थ में दूती के कार्य की प्रशंसा है। पर जिस दूती के अङ्गों में थकावट आदि रति-चिह्न देखकर यह जान लेने पर कि यह मेरे प्रिय के साथ रमण करके आई है, उसको नायिका द्वारा प्रशंसात्मक वाक्य कहना असम्भव है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। उक्त वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का विपरीत लक्षणा द्वारा यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है कि 'तूने उचित कार्य नहीं किया। मेरे प्रियतम के साथ रमण कर के तूने मेरे साथ स्नेह नहीं, किन्तु विश्वासघात किया है'। इस लक्ष्यार्थ द्वारा बोधव्य (दूती) के वैशिष्ट्य से उस दूती का अपराध-प्रकाशन-रूप जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह तो लक्षणा का प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ है। इसके सिवा नायिका के इस वाक्य में अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचन करना व्यंग्यार्थ है, वह इस लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित होता है। अतः लक्ष्य-सम्भवा व्यंजना है। यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना होती है वहाँ लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना भी उसके अन्तर्गत लगी रहती है। क्योंकि जो व्यंग्य, लक्षणा का प्रयोजन-रूप होता है वह लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना का विषय है। दूसरा व्यंग्यार्थ जो लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है वह लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना का विषय है। जैसे यहाँ दूती के विषय में विश्वासघात सूचक व्यंग्य, जो लक्षणा का प्रयोजन रूप है, लक्षणा-मूला शाब्दी व्यञ्जना का विषय है। और अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचक व्यंग्यार्थ है, वह लक्ष्यसम्भवा आर्थी व्यञ्जना का विषय है। इसके द्वारा शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना का विषय विभाजन भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है।

व्यंग्यसम्भवा व्यञ्जना—

लखहु बलाका कमल-दल बैठी अचल सुहाय;
मरकत-भाजन मांहिं ज्यों संख-सीप बिलसाय ॥३८॥

उपनायक के प्रति किसी युवती की यह उक्ति है—'देखो, कमलिनी के पत्ते पर बैठी हुई बलाका बड़ी सुन्दर लगती है, जैसे नीलमणि के पात्र

में स्थित शङ्ख की सीप—शङ्ख के आकार की बनी कटोरी। इस वाच्यार्थ में व्यङ्ग्यार्थ बलाका (बक पक्षीकी मादा) की निर्भयता सूचित होती है। इस निर्भयता-सूचक व्यङ्ग्यार्थ द्वारा उस स्थान का एकान्त होना सूचित होनेके कारण रति-प्रार्थना-सूचक दूसरा व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है। अर्थात्, एक व्यङ्ग्यार्थ दूसरे व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक है अतः व्यंग्य-सम्भवा आर्थी व्यञ्जना है। पहले व्यङ्ग्य को प्रतीत करानेवाली वाच्य-सम्भवा और दूसरे व्यङ्ग्य को प्रतीत करानेवाली व्यंग्यसम्भवा है।

उक्त तीनों ही प्रकार की व्यञ्जनाओं के पूर्वोक्त 'वक्तृ', 'बोधव्य' आदि वैशिष्ट्यों से अनेक भेद होते हैं। उनकी वाच्यसम्भवा-वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता, लक्ष्यसम्भवा-वक्तृ-वैशिष्ट्यप्रयुक्ता, व्यंग्यसम्भवा-वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता इत्यादि संज्ञा होती हैं, जैसाकि व्यञ्जना की तालिकामें दिखाया जा चुका है।

शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना का विषय-विभाजन

शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना के विषय में प्रश्न होता है कि काव्य तो शब्द और अर्थ उभयरूप है, अर्थात् शब्द और अर्थ परस्परमें अन्योन्याश्रित हैं, फिर शाब्दी और आर्थी दो भेद क्यों किये गये? हां, काव्य अवश्य ही शब्दार्थ उभयरूप है। व्यञ्जना व्यापार में भी एक के कार्यमें दूसरे की सहकारिता अवश्य रहती है—शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ की और आर्थी व्यञ्जना में शब्द की सहायता रहती है। अर्थात्, केवल शब्द द्वारा या केवल अर्थ द्वारा व्यञ्जना व्यापार नहीं हो सकता। पर जहाँ शब्द की प्रधानता होती है वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ आर्थी व्यञ्जना मानी गई है। शाब्दीमें शब्द की प्रधानता और आर्थी में अर्थ की प्रधानता किस प्रकार होती है, इसकी स्पष्टता की जा चुकी है। जिसकी जहाँ प्रधानता होती है, उसको उसी नाम से कहा जाता है[1]।

---

१ 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों के सिवा एक वृत्ति 'तात्पर्याख्या' भी होती है। यह सर्वमान्य नहीं है। साहित्याचार्य मम्मट आदि ने इसको माना है।

तात्पर्याख्या वृत्ति

वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय[१] बोध करानेवाली शक्ति को तात्पर्या नामक वृत्ति कहते हैं।

इस वृत्ति को समझने के लिये पहिले यह समझ लेना आवश्यक है कि 'पद' किसको कहते हैं और 'वाक्य' किसको।

पद

पद उस वर्ण-समूह को कहते हैं जो प्रयोग करने के योग्य, अनन्वित अर्थात् किसी दूसरे पद के अर्थ से असम्बद्ध (न जुडा हुआ), एक, और अर्थबोधक होता है। जैसे, 'घट' यह दो वर्णों का समूह 'पद' है। व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण इसका प्रयोग हो सकता है। यह किसी दूसरे पद के अर्थ से सम्बद्ध भी नहीं है, एक है, तथा घट अर्थ का बोधक भी है। 'पद' को अनन्वित इसलिये कहा गया है कि यह वाक्य की तरह दूसरे पद के अर्थ से जुड़ा हुआ नहीं होता। 'एक' इसलिये कहा गया है कि 'पद' आकांक्षा-रहित होता है—वाक्य की तरह दूसरे पदों की आकांक्षावाला नहीं होता। अर्थ-बोधक कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका अर्थ हो सके वही 'पद' कहा जाता है। क, च, ट, प, इत्यादि निरर्थक वर्ण प्रयोग के योग्य होने पर भी पद नहीं कहे जा सकते। यदि सार्थक हो तो एक वर्ण भी पद कहा जा सकता है।

---

१ एक पद के अर्थ का दूसरे पद के अर्थ के साथ सम्बन्ध।

वाक्य

वाक्य उस पद-समूह को कहते हैं जो योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त होता है।

योग्यता—एक पद के अर्थ का अन्य पदों के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होना 'योग्यता' है। जैसे, 'पानी से सींचता है'। इस वाक्य में योग्यता है। 'अग्नि से सींचता है' इसमें योग्यता नहीं है, क्योंकि अग्नि जलानेका साधन है, न कि सींचने का। अतः अग्नि का 'सींचने' पद के अर्थ के साथ विपरीत सम्बन्ध होने के कारण बाधा उपस्थित होती है। जहाँ ऐसी 'बाधा' न हो, वह 'योग्यता' है।

आकाँक्षा—किसी ज्ञान की समाप्ति (पूर्त्ति) का न होना अर्थात् वाक्यार्थ को पूरा करने के लिये किसी दूसरे पद की अपेक्षा—जिज्ञासा—का रहना 'आकांक्षा' है। जैसे, 'देवदत्त घर को' इतना कहने पर 'जा रहा है' क्रिया अपेक्षित है। क्योंकि, 'जा रहा है' के बिना वाक्यार्थ के ज्ञान की पूर्णता नहीं होती है। अतः, गाय, घोड़ा, पुरुष इत्यादि निराकांक्ष (एक पद दूसरे पद से सम्बन्ध न रखनेवाला) स्वतन्त्र पद-समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे निराकांक्ष स्वतंत्र पद है। पद ही निराकांक्ष होता है, वाक्य नहीं।

सन्निधि—एक पद का उच्चारण करने के बाद दूसरे पद के उच्चारण में विलम्ब न होना (अर्थात्, जिस पद के साथ जिस अन्य पद के अर्थ एवं सम्बन्ध की अपेक्षा हो, उसके बीच में व्यवधान का न होना) 'सन्निधि' है। व्यवधान दो प्रकारका होता है। काल द्वारा और अनुपयुक्त शब्द द्वारा। एक पद के कहने के बाद दूसरे पद के कहे जाने में अधिक समय होना काल द्वारा व्यवधान है। जैसे, 'रामगोपाल'

यह तो अब कहा जाय और 'जा रहा है' यह घंटे-दो घंटे के बाद या दूसरे दिन कहा जाय, तो विलम्ब हो जाने से किसी को 'रामगोपाल' और 'जा रहा है' इन पदों का सम्बन्ध मालूम नहीं होगा। यह हुआ काल द्वारा व्यवधान। अनुपयुक्त पद द्वारा व्यवधान तब होता है, जब प्रकरणोपयोगी पदों के बीच में प्रयोग के अयोग्य पद आ जाता है। जैसे, 'पर्वत भोजन किया ऊँचा है देवदत्त ने'। इसमें दो वाक्य हैं—'पर्वत ऊँचा है' और देवदत्त ने भोजन किया' पर्वत का सम्बन्ध 'ऊँचा है' के साथ है, पर बीच में 'भोजन किया' यह पद अनुपयुक्त आ पड़ा है। और 'देवदत्त ने' के पहले 'ऊँचा है' पद अनुपयुक्त आ पड़ा है। इस व्यवधान के कारण सन्निधि के नष्ट हो जाने से इन पदोंका सम्बन्ध ज्ञात नहीं हो सकता है। इसलिये वाक्य वही कहा जा सकता है, जिनके पदों के बीच में व्यवधान न हो।

निष्कर्ष यह कि 'वाक्य' में योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि का होना आवश्यक है। वाक्य अनेक पदोंसे युक्त होता है। वाक्य में जो पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पद होते हैं, उनके पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराना, अर्थात् सम्बन्ध-रहित पदों का अर्थ बतलाना, अभिधा का कार्य है। जब अभिधा एक-एक पद का अर्थ बोध करा के विरत हो जाती है, तब उन बिखरे हुए पदों के अर्थों को परस्पर—एक को दूसरे के साथ—जोड़कर जो वाक्य बनता है उस वाक्य के अर्थ का जो शक्ति बोध कराती है उसे तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। इस-वृत्ति-का बोधक वाक्य होता है।

इस वृत्ति का स्थान अभिधा के बाद है। किन्तु, जहाँ अभिधा के वाच्यार्थ के तात्पर्य का बाध होने पर लक्षणा की जाती है, वहाँ अभिधा के बाद लक्षणा और लक्षणा के बाद तात्पर्याख्या वृत्ति आती है

चतुर्थ-स्तवक

—:○:—

प्रथम पुष्प

ध्वनि

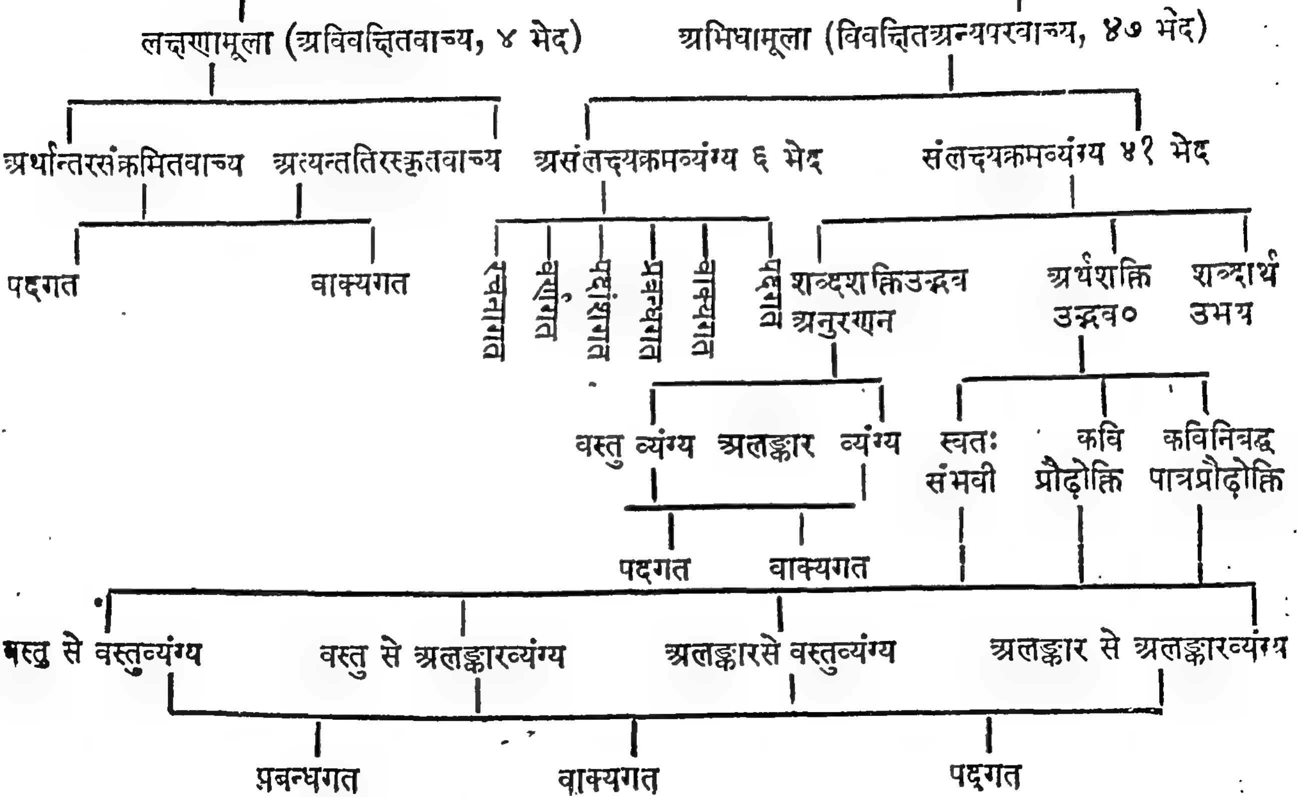
वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होता है वह ध्वनि होती है[1]। ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। प्रधान का अर्थ है अधिक चमत्कारक होना। चमत्कार के उत्कर्ष पर ही वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता निर्भर है—जहाँ वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार होता है वहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता, और जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होता है वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता समझी जाती है[2]।

वाच्यार्थ, शब्द द्वारा कथन किया जाता है। व्यंग्यार्थ, शब्द द्वारा स्पष्ट कथन नहीं किया जा सकता—व्यंग्यार्थ की तो ध्वनि ही निकलती है। जैसे, घड़ावल (झालर) पर चोट लगाने पर पहले टङ्कार होता है, फिर उसमें से मीठी-मीठी झङ्कार—ध्वनि—निकलती है। इसी प्रकार वाच्यार्थ को टङ्कार और व्यंग्यार्थ को झङ्कार समझना चाहिये। ध्वनि के भेद नीचे की तालिका के अनुसार होते हैं—

१—'व्याच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः।' —ध्वन्यालोक।

२—'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।' —ध्वन्यालोक।



ध्वनि के ५१ भेद
लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य, ४ भेद)
अभिधामूला (विवक्षितअन्यपरवाच्य, ४७ भेद)
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
पदगत
वाक्यगत
असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ६ भेद
रचनागत
वर्णगत
पदांशगत
प्रबन्धगत
वाक्यगत
पदगत
संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ४१ भेद
शब्दशक्तिउद्भव अनुरणन
अर्थशक्ति उद्भव०
शब्दार्थ उभय
वस्तु व्यंग्य
अलङ्कार व्यंग्य
पदगत
वाक्यगत
स्वतः संभवी
कवि प्रौढ़ोक्ति
कविनिबद्ध पात्रप्रौढ़ोक्ति
वस्तु से वस्तुव्यंग्य
वस्तु से अलङ्कारव्यंग्य
अलङ्कारसे वस्तुव्यंग्य
अलङ्कार से अलङ्कारव्यंग्य
प्रबन्धगत
वाक्यगत
पदगत

इस तालिका के अनुसार ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) लक्षणा-मूला और (२) अभिधा मूला।

लक्षणा-मूला ध्वनि

लक्षणा-मूला ध्वनि को अविवक्षित ध्वनि कहते हैं।

अविवक्षितवाच्य का अर्थ है—वाच्यार्थ की विवक्षा का नहीं रहना—वाच्यार्थ का अनुपयुक्त होना। अर्थात् इस ध्वनि के मूल में लक्षणा रहती है, अतः लक्षणा की भाँति इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बाध[1] होने के कारण वह (वाच्यार्थ) उपयोग में नहीं लाया जाता—ग्रहण नहीं किया जाता, जैसा कि पहिले लक्षणा प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इसमें प्रयोजनवती गूढ़-व्यंग्या लक्षणा रहती है, न कि रूढ़ि लक्षणा। क्योंकि रूढ़ि लक्षणा में व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) नहीं होता, और ध्वनि तो व्यंग्यार्थ रूप ही है। ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है, अतः अगूढ़-व्यंग्य भी ध्वनि का विषय नहीं, किन्तु वह (अगूढ़ व्यंग्य) गुणीभूति व्यंग्य के अन्तर्गत है[2]।

लक्षणा के मुख्य दो भेदों (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) के अनुसार लक्षणा-मूला ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—

(१) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर में संक्रमण करता है—बदल जाता है—वहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होती है।

---

१ 'बाध' का स्पष्टीकरण लक्षणा प्रकरण पृष्ठ ५७ में देखिये।

२ गुणीभूत व्यंग्य का स्पष्टीकरण आगे पंचम स्तवक में किया जायगा।

इस ध्वनि के मूल में उपादान लक्षणा रहती है। उपादान लक्षणा में जिस प्रकार वाच्यार्थ का बाध होने पर वह लक्ष्यार्थ में बदल जाता है, उसी प्रकार इस ध्वनि में वाच्यार्थ बाधित अर्थात् अनुपयुक्त (उपयोग में लाने के अयोग्य) होने से अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है, अर्थात् दूसरे अर्थ में बदल जाता है। इसी कारण इसको अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि कहते हैं। वाच्यार्थ दो प्रकार से अनुपयुक्त हो सकता है—पुनरुक्ति से, या जब वह किसी विशेष अर्थ को न बतलाता हो, अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के कहने का तात्पर्य न निकलता हो। यह ध्वनि पदगत (एक ही पद में) और वाक्यगत (कई पदों के बने हुए वाक्य में) होती है।

पुनरुक्ति से वाच्यार्थ के अनुपयोगी होने का उदाहरण—

कदली कदली ही तथा करभ हु करभ लखाय ;
मृगनैनी के उरुन की समता कितहु न पाय ।३६

उरुओं को कदली (केले के वृक्ष) के स्तम्भ की अथवा करभ[1] की उपमा दी जाती है। यहाँ कहा गया है—'कदली कदली ही है' अर्थात् केला केला ही है, और करभ करभ ही। मृगनयनी के उरुओं (जंघाओं) का सादृश्य तीनों लोक में कहीं भी नहीं मिलता। दुबारा कहे हुए 'कदली' और 'करभ' शब्दों का वाच्यार्थ यद्यपि कदली और करभ ही है। किन्तु इस वाच्यार्थ को ग्रहण किया जाय तो पुनरुक्ति दोष[2] हो जाता है। अतः यहाँ वाच्यार्थ का बाध है—अनुपयोगी होने के कारण यह ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये दुबारा कहे हुए कदली और करभ का जो वाच्यार्थ है वह,—'कदली कदली ही है, अर्थात् जड़ है; और करभ करभ ही है, अर्थात् हथेली के एक तरफ

१ हाथ की छोटी उँगली से पहुँचे तक हथेली के बाहरी भाग का नाम करभ है—'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्यकरभोबहिः।

२ एक अर्थ वाले शब्द को दोबार कहने में पुनरुक्तिदोष माना जाता है।

का भाग मात्र है'—इस दूसरे अर्थ में (जो कि वाच्यार्थ का ही विशेष रूप है) बदल जाता है, यही अर्थान्तर में संक्रमण है। यह अर्थान्तर वही व्यंग्यार्थ है, जिसको उपादान लक्षणा में प्रयोजन कहते हैं। किसी के गुण या अवगुण को सूचन करने के लिये ही एक शब्द को प्रायः दो बार कहा जाता है। जैसे, 'कौआ कौआ ही है; और कोकिल कोकिल ही'। इस वाक्य में भी दूसरी बार कहे हुए कौआ और कोकिल का वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु दूसरी बार कहे हुए कौआ का 'कर्ण कटु शब्द करनेवाला' और कोकिल का 'मधुर ध्वनि करनेवाली' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। यह लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ का विशेष रूप है—वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं। उपादान लक्षणा के प्रकरण में इस विषय का विवेचन किया जा चुका है। यहां ध्वनि अनेक पदों के सारे वाक्य द्वारा निकलती है, अतः यह वाक्य ध्वनि है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'व्यंग्यार्थ' शब्द द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसकी वाच्यार्थ से ध्वनि ही निकलती है। 'जैसे कदली कदली' आदि के वाच्यार्थ में दूसरे अर्थ की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की सर्वत्र ध्वनि ही निकलती है।

तब ही गुन सोभा लहहिं, सहृदय जबहिं सराहिँ;
कमल कमल हैं तबहि जब रवि-कर सों बिकसाहिँ ४०

यहाँ दूसरी बार प्रयुक्त कमल शब्द का यदि 'कमल' अर्थ ग्रहण किया जाय तो पुनरुक्ति दोष आ जाता है। अतः यह वाच्यार्थ अनुपयोगी है। दूसरी बार के 'कमल' शब्द का वाच्यार्थ 'सौरभ और सौन्दर्य-युक्त विकसित कमल' इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। यहाँ केवल 'कमल' पद में ध्वनि है अतः यह पद-गत ध्वनि है।

श्याम घटा घन घोर भलैं उमड़ैं यह जोरन सों चहुँ ओरन,
सीतल धीर समीर चलै भलैं होहु घनी धुनि चातक मोरन;

राम हौं, मेरो कठोर हियो हौं, सहौं जौ सबै दुख ऐसे करोरन,
हा ! हा ! विदेह-सुता अब ये सहि है किमि पावस के झकझोरन।
४१

वर्षाकालिक उद्दीपक सामग्रियों को देखकर जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। इसमें 'राम हौं' इस पद के मुख्यार्थ का यहाँ कुछ उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि, इस वाक्य के वक्ता जब स्वयं श्रीराम ही हैं, तब 'राम हौं' कहना अनावश्यक है। केवल 'हौं सहौंगो' कहनेमात्र ही से वाक्य पूरा हो जाता है। अतः 'राम हौं' का वाच्यार्थ बाधित है। इसलिये 'राम हौं' पद राज्यभ्रष्ट, गहन वन में गमन, जटा-वल्कल धारण और प्राणप्रिया जानकी के हरण आदि के असह्य दुःखों को सहन करनेवाला क्रूर-हृदय 'मैं राम हूँ', इस अर्थान्तर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमण करता है।

सुन्दर श्वेत पटंबर कौं कसि कै झट स्रोनि पै बाँधि सँवारिए,
भाल में बाल-मयंक-किरीट हु पन्नग के गन साज सुधारिए,
पापी हजारन तारन की-सी सधारन बात न याहि निहारिए,
मोहि उधारन को है समौ यह, भागीरथी ! जिय क्यों न विचारिए।
४२

यह भगवती गङ्गा के प्रति पण्डितराज जगन्नाथ की प्रार्थना है। 'मोहि उधारन को है समौ यह', इस वाक्य के प्रकरणगत अर्थ में 'यह' शब्द का वाच्यार्थ अनुपयोगी है। क्योंकि, 'मोहि उधारन को है समौ' यह है ही, फिर 'यह' पद के वाच्यार्थ की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। अतः यहाँ 'यह' शब्द का वाच्यार्थ "मैं निरन्तर पाप करनेवाला हूँ, ऐसे घोर पातकी के उद्धार करने का 'यह' समय है," इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। इसमें व्यंग्य यह है कि 'मेरे पाप अनिर्वाच्य हैं, कहे नहीं जा सकते, ऐसे घोर पापी के उद्धार करने का यह समय है'। यहाँ पुनरुक्ति नहीं, किन्तु जब तक 'यह' शब्द का लक्ष्यार्थ ग्रहण नहीं किया

जाता, वाच्यार्थ अनुपयोगी रहता है। इन दोनों उदाहरणों में पदगत ध्वनि है। पहले उदाहरण में 'राम हौं' में और इस उदाहरण में 'यह' पद में।

अत्यंततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि

जहां वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार किया जाता है, वहां अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि होती है।

इस ध्वनि में प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा रहती है। इसमें वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार किया जाता है। अर्थात् लक्षण-लक्षणा की भांति वाच्य अर्थ को सर्वथा छोड़ दिया जाता है। इसी से इसे अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं। यह भी पदगत और वाक्यगत दोनों प्रकार की होती है। वाक्यगत का उदाहरण—

कनक-पुष्प-पुष्पित धरा जोरत हैं. नर तीन—
सूर और विद्या-निपुन सेवा में जु प्रवीन।४३

इसका वाच्यार्थ सुवर्ण के फूलों की पृथ्वी को इकट्ठा करना है। पर न तो सुवर्ण के फूलों की कहीं पृथिवी ही होती है, और न पृथिवी इकट्ठी ही की जा सकती है। अतः वाच्यार्थ का बाध होने के कारण वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़ कर लक्षणा से 'शूर आदि तीनों प्रकार के पुरुष अपने बल, अभ्यास और क्रिया-कौशल से अतुल समृद्धि को अनायास प्राप्त करते हैं' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। यहां शूर-वीरों की, विद्वानों की तथा सेवा में प्रवीण सेवकों की प्रशंसा व्यंग्य से ध्वनित होती है। यह ध्वनि अनेक पदों के समूहरूप सारे वाक्य से निकलती है, अतः वाक्यगत ध्वनि है।

पदगत का उदाहरण—

लगि मुख के निःस्वास अन्ध भये आदर्स सम,
लखत न चंद्र-प्रकास चहुँधा कुहरे सौं घिर्‌यो।४४

यह हेमन्त ऋतु का वर्णन है। वाच्यार्थ तो यह है कि मुख के निःश्वास से अन्धे (मलीन हुए) आदर्श—दर्पण के समान तुषारावृत—कुहरे से घिरा हुआ—चन्द्रमा प्रकाशित नहीं हो रहा है। किन्तु अन्धा तो वही कहा जा सकता है, जिसके पहले नेत्र रहे हों या जिसमें नेत्रों की योग्यता हो। दर्पण के न तो कभी नेत्र थे, और न उसमें नेत्रों की योग्यता ही है तब उसे अन्धा कैसे कह सकते हैं! अतः यहाँ 'अन्ध' शब्द के मुख्य अर्थ का बाध होने के कारण सर्वथा छोड़ कर इसका लक्ष्यार्थ 'प्रकाश-हीन' ग्रहण किया जाता है। यहाँ प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा है। 'अन्ध' पद में ध्वनि है, अतः पदगत ध्वनि है।

इस ध्वनि का विपरीत लक्षणा के रूप में भी उदाहरण हो सकता है। जैसे—

कहि न सकों तव सुजनता कीन्हों अति उपकार,
सखे! करत यों ही सदा जीवहु बरस हजार।४५

यह अपकार करने वाले के प्रति उसके कार्यों से दुखित किसी व्यक्ति की उक्ति है। वाच्यार्थ में उसकी प्रशंसा है। किन्तु अपकारी के प्रति प्रशंसात्मक वचन नहीं कहे जा सकते, अतः वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर विपरीत लक्षणा से उपकार का 'अपकार', सुजनता का 'दुर्जनता' और सखे का 'शत्रु' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसमें अत्यन्त अपकार करना व्यंग्यार्थ है।

"हमको तुम एक, अनेक तुम्हें, उनहीं के विवेक बनाय वहौ,
इत चाह तिहारी बिहारी, उतै सरसाय कै नेह सदा बिनहौ;
अब कीबो 'मुबारक' सोई करौ अनुराग-लता जिन बोय दहौ,
घनस्याम ! सुखी रहौ आनँद सौं तुम नीके रहौ, उनहां कै रहौ।"
(३६)

अन्यासक्त नायक के प्रति नायिका के वाक्य हैं। वाच्यार्थ में तो "सुखी रहौ', 'उनहो कै रहो" कहा गया है, किन्तु लम्पट नायक के प्रति नायिका द्वारा ऐसा कथन असम्भव है। अतः वाच्यार्थ का बाध है। वाच्यार्थ के विपरीत 'उसके पास न रहौ' इत्यादि लक्ष्यार्थ समझना चाहिये।

वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत होने पर भी जहाँ वाच्यार्थ का बाध नहीं होता है, वहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि नहीं होती है। जैसे—

इत न स्वान वह आज, अहो भगत ! निधरक विचर;
हत्यौ ताहि मृगराज, जो या सरिता-तट रहतु।४७

किसी कुलटा स्त्री के सङ्केत कुञ्ज के समीप कोई भक्त पुरुष पुष्प लेने के लिये आने-जाने लगा था। कुलटा अपने कुत्ते को उसके पीछे लगा दिया करती थी, जिससे वह तंग आकर वहाँ आना छोड़ दे, और उसके एकान्त स्थल में विघ्न न हो। इस पर भी वह आता ही रहा तो एक दिन उस कुलटा ने कहा—"भक्तजी, अब आप यहाँ निःशङ्क आया करें, क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था, उसे इसी नदी-तट के निवासी सिंह ने मार डाला है"। यहाँ 'निधरक विचर' के कथन से वाच्यार्थ में उसे आने के लिये कहा गया है, किन्तु कुत्ते से डरने-वाले उस पुरुष को उस कुलटा के कहने का अभिप्राय यह है कि 'जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था वह तो मारा गया, पर जिसने उसे मारा है वह सिंह इसी नदी-तट के वन में ही रहता है, कभी उसकी

झपेट में आ गए, तो मारे जाओगे' निष्कर्ष यह है कि वाच्यार्थ में तो आने को कहा गया है, पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है। अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत है। किन्तु यहाँ विपरीतलक्षणा या लक्षणा-मूला अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि नहीं है। विपरीत लक्षणा तो वहीं हो सकती है जहाँ वाच्यार्थ के अन्वय का या वक्ता के तात्पर्य का बाध होने के कारण वाक्य कहने के साथ ही वाच्यार्थ विपरीत अर्थ में अर्थात् लक्ष्यार्थ में बदल जाता है। जैसे, उपरोक्त 'हमको तुम एक..........' इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है। किन्तु यहाँ 'इत न स्वान वह—' इस उदाहरण में मुख्यार्थ का बाध नहीं है, क्योंकि वाच्यार्थ असम्भव नहीं है। यहाँ तो प्रकरणादि का विचार करने पर वाच्यार्थ विपरीत अर्थ में परिणत होता है। अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा-मूला ध्वनि नहीं होती, किन्तु अभिधा-मूला ध्वनि हुआ करती है।

अभिधा-मूला ध्वनि

अभिधा-मूला ध्वनि को 'विवक्षितअन्यपरवाच्य' ध्वनि कहते हैं।

इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है। अर्थात् वाच्यार्थ भी वाञ्छनीय रहता है, पर वह अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यार्थ का सहायक होता है। इसीलिये यह विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि कही जाती है।

इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बोध होने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है। जैसे, दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम कहीं तो स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है और कहीं स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिये इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि, और (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि। ये दोनों भेद पूर्वोक्त

लक्षणा-मूला ध्वनि के इसलिये नहीं हो सकते हैं कि उसमें (लक्षणा-मूला ध्वनि में) वाच्यार्थ का बाध होने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती—वाच्यार्थ उपयोग के योग्य ही नहीं रहता, अतः वाच्य अर्थ के साथ व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित या अलक्षित होने का वहां प्रश्न ही नहीं है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम असंलक्ष्य हो[1] वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है।

जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पौर्वापर्य—पहले-पीछे का—क्रम संलक्ष्य होता है—भले प्रकार प्रतीत होता है, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है, वहाँ तो संलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है। और इस असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पहले पीछे का क्रम प्रतीत नहीं होता है। इस ध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि व्यंग्यार्थ होते हैं। ये रस भावादि जो व्यंग्यार्थ हैं, विभाव अनुभावादि (जो वाच्यार्थ होते हैं) के द्वारा ध्वनित होते हैं। विभावादि और रस-भावादि का पौर्वापर्य क्रम भले प्रकार प्रतीत नहीं हो सकता है। यद्यपि विभाव, अनुभाव आदि कारणों के वाच्यार्थ का बोध होने के बाद ही रस-भावादि की प्रतीत होती है। अतः कारण-कार्य रूप पौर्वापर्य-क्रम तो इस असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी रहता है, किन्तु वह अल्पकालिक होने के कारण 'शतपत्र-पत्र-भेदन'[2] न्याय के अनुसार वह (क्रम) लक्ष्य में नहीं आ सकता।

१ भली प्रकार से प्रतीत न हो।

२ शतपत्र-पत्रभेदन न्याय यह है कि जब शतपत्र (कमल) के सैकड़ों पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर उनमें सुई की नोक से छेद किया जाता है, तब यद्यपि उन पत्तों का छेदन एक के बाद दूसरे का क्रमशः ही होता है, पर वह कार्य इतना अल्पकालिक शीघ्र होता है,

इसलिये इसे 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' कहा जाता है। यदि इसमें क्रम का सर्वथा ही अभाव होता तो इसे अक्रम व्यंग्य कहा जाता न कि असंलक्ष्य क्रम। 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग का यहाँ यही तात्पर्य है कि इस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का क्रम भले प्रकार नहीं जाना जाता है।

"हरि-सुत[1]-श्रौन हर-श्रौन[2] हरि[3] दै हैं कर,
घरी घरी घोर घनु-घंट घननाटे ते;
भूरि रव भूरि भट-भीर भार भूमि-भार,
भूधर भरंगे भिंदिपाल भननाटे तें।
खप्पर खनक ह्वै न खेटक के खप्पर ह्वाँ,
खेटकी[4] खिसकि जैहैं खग्ग[5] खननाटे तें;
भूलि जैहैं जानधर[6] जान[7] को चलान, बान—
बानधर[8] मेरे पान[9] बान सननाटे तें।"४८ (१०)

कर्णार्जुन युद्ध के समय ये कर्ण के वाक्य हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन आलम्बन हैं। भीष्मादि के पतन का स्मरण उद्दीपन है। कर्ण के ये वाक्य अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव[10] हैं। इनके द्वारा

जिससे सब पत्तों में सुई एक साथ ही छेद करती हुई-सी मालूम होती है अतः वह अल्पकालिक क्रम जाना नहीं जा सकता।

१ इन्द्र के सुत अर्जुन के कानों पर। २ रथ के घोड़ों के कानों पर। ३ श्रीकृष्ण। ४ ढालों को धारण करनेवाले। ५ तलवार। ६ रथ को धारण करनेवाले सारथी—श्रीकृष्ण। ७ रथ। ८ बाणों को धारण करनेवाला अर्थात् अर्जुन। ६ हाथ। १० आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारि भावों का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

यहाँ वीररस की व्यंजना है। यद्यपि यहाँ वीररस, जो कि व्यंग्यार्थ है, आलम्बन विभावादि के ज्ञान के बाद ही ध्वनित होता है, अर्थात् विभावादि का और रस का पौर्वापर्य क्रम तो अवश्य है, किन्तु रस के आनंदानुभव में वह अल्पकालिक क्रम प्रतीत नहीं होता है।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य आठ प्रकार का होता है—(१) रस, (२) भाव, (३) रसाभास, (४) भावाभास, (५) भावशान्ति, (६) भावोदय, (७) भावसन्धि और (८) भावशबलता। अब इनकी क्रमशः स्पष्टता की जाती है—

रस

काव्य में रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कारक आस्वादनीय पदार्थ है। रस के स्वरूप का ज्ञान और इसका आस्वादन ही काव्य के अध्ययन का सर्वोपरि फल है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है[1]।

लोक-व्यवहार में रति आदि चित्तवृत्तियों के—मनोविकारों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही नाटक और काव्य में रति आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं, और

---

१ "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

—भरत-नाट्यशास्त्र, अ० ६

उन विभावादिकों द्वारा स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है[1]। स्थायीभाव क्या है, इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। रस के स्वरूप-ज्ञान के लिये प्रथम विभावादिकों का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

(१) विभाव

'विभाव' 'कारण' 'निमित्त' और 'हेतु' ये पर्याय शब्द हैं—एक ही अर्थ के बोधक हैं[2]। 'रति' आदि जो एक विशेष प्रकार के मनो-विकार हैं, और जो काव्य-नाटकों में स्थायी भाव कहे जाते हैं, उन रति आदि स्थायी भावों के उत्पन्न होने के जो कारण होते हैं, उन्हें 'विभाव' कहते हैं। इनको विभाव इसलिये कहते हैं कि इनके द्वारा वाणी और अङ्गों के अभिनय आदि के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन होता है, अर्थात् विशेषतया ज्ञान होता है[3]।

निष्कर्ष यह है कि रति आदि स्थायी एवं व्यभिचारि भाव सामाजिकों[4] के हृदय में वासना-रूप में अत्यन्त सूक्ष्मता से स्थित रहते हैं। उन

---

१ "कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च;
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावअनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः;
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसस्मृतः।"

—काव्यप्रकाश ४।२७-२८

२ 'विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः'—भरत-नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३४७।

३ "बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः;
अनेन यस्मात्तेनायं विभावइति कथ्यते।"

—नाट्यशास्त्र, ७।६

४ काव्य के पढ़ने वाले और नाटकादि को देखने वाले।

भावों को ये विभावन करते हैं—आस्वाद के योग्य बनाते हैं, अतः रस के उत्पादक (कारण) होने से इनको विभाव कहते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव।

आलम्बन विभाव।

जिनका आलम्बन करके स्थायी भाव (रति आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव कहे जाते हैं। जैसे, शृङ्गार-रस में रति स्थायी भाव के नायक-नायिका आलम्बन होते हैं। आलम्बन विभाव प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं।

उद्दीपन विभाव।

रति आदि मनोविकारों को जो अतिशय उद्दीपन करते हैं—बढ़ाते हैं—वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। जैसे, शृङ्गार-रस में सुन्दर वेष-भूषणादि की रचना, पुष्प-वाटिका, एकान्त स्थान, सुन्दर केलि-कुञ्ज, कोकिलादि का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, और शीतल धीर समीर, आदि रति के बढ़ाने वाले होने से उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। उद्दीपक पदार्थ स्थायी भाव के उत्पादक कारण नहीं, केवल उद्दीपक हैं, किन्तु उत्पन्न स्थायी भाव को इनके द्वारा यदि उत्तेजना न मिले तो वह अनुत्पन्न के समान ही है, जैसे, उत्पन्न अंकुर को जल न मिलने से वह नष्ट हो जाता है। उद्दीपन विभाव भी प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं।

(२) अनुभाव

विभावों के बाद जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये उत्पन्न हुए स्थायी-भाव का अनुभव कराते हैं[1]। जैसे, शृङ्गार-रस में

---

१ "अनुभावयन्ति इति अनुभावाः"।

नायिका आलम्बन और चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक के हृदय में रति (मनोविकार) उत्पन्न और उद्दीपित होती है, किन्तु उसको प्रकट करने वाली कटाक्ष और भ्रू-क्षेप एवं हस्तसंचालनादि शारीरिक चेष्टाएँ जब तक न हों, तब तक उस अनुराग का परस्पर उनको या समीपस्थ अन्य जनों को कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। रति आदि स्थायी भाव काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलम्बन विभावों की चेष्टाओं द्वारा प्रकट होते हैं[1]। इन चेष्टाओं की ही अनुभाव संज्ञा है। अनुभाव असंख्य हैं। जिस-जिस रस में जो-जो अनुभाव होते हैं, उनका दिग्दर्शन रसोंके प्रकरण में कराया जायगा।

सात्विक भाव

सत्त्व से उत्पन्न भावों को सात्विक कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं--(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वर-भङ्ग (५) वेपथु (कम्प), (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय। इनकी सात्विक संज्ञा क्यों है, साहित्याचार्यों ने इसकी बहुत कुछ विवेचना की है। आचार्य मम्मट ने तो इनका पृथक् नामोल्लेख भी नहीं किया है--सम्भवतः उन्होंने इन्हें अनुभावों के अन्तर्गत माना है।

विश्वनाथ का मत है कि सात्विक भाव रस के प्रकाशक होने के कारण अनुभाव ही हैं। किन्तु, गोवर्द्धन

---

१ अनुभावो भावबोधकः।

न्याय[1] के अनुसार ये पृथक् भी कहे जा सकते हैं[2]। महाराजा भोज कहते हैं कि सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित 'मन' है। सत्त्व के योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं[3]। प्रश्न यह होता है कि क्या अन्य भाव सत्त्व के बिना ही उत्पन्न होते हैं? भरत मुनि कहते हैं—"हाँ, ऐसा ही है। सत्त्व मनःप्रभव है—समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति है। मनोविकार द्वारा उत्पन्न रोमांच, अश्रु और वैवर्ण्य आदि अन्य-मनस्क होने पर उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे, रोदनात्मक दुःख और हर्षात्मक सुख, दुःख और सुख के बिना कैसे उत्पन्न हो सकते हैं[4]"? हेमचन्द्राचार्य कहते हैं—"प्राण ही सत्त्व है। उससे उत्पन्न भाव सात्विक हैं। प्राण में जब पृथ्वी का भाग प्रधान होता है, तब स्तम्भ; जल का भाग प्रधान होता है, तब बाष्प (अश्रु); तेज का भाग तीव्रता से प्रधान होता है, तब स्वेद (पसीना), और जब वह तीव्रता रहित प्रधान होता है, तब वैवर्ण्य; आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय; और वायु का स्वातन्त्र्य होता है, तब उसके मन्द, मध्य और

१—जैसे, 'गायें आ गईं, बैल भी आ गया'। यद्यपि गाएँ कहने मात्र से ही बैल का आना भी जान लिया जाता है, पर गायों की अपेक्षा बैल की प्रधानता सूचन करने के लिये बैल का पृथक् कथन किया जाता है। इसी को 'गोवलीवर्द' न्याय कहते हैं। इसी प्रकार सात्विक भाव अनुभावों के अन्तर्गत होने पर भी इनकी उत्कृष्टता सूचन करने के लिये इनको सात्विक भाव कहते हैं।

२ साहित्यदर्पण, परिच्छेद ३।१३४-३५।

३ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते। निवृत्तयेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्विकाः।' सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।२०।४।

४ नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण, पृष्ठ ३७६।

उत्कृष्ट आवेश से रोमाञ्च, कम्प एवं स्वर-भेद होता है। और शरीर के धर्म जो स्तम्भादिक बाह्य अनुभाव हैं, वे इन आन्तरिक स्तम्भादिक भावों की व्यञ्जना करते हैं[1]"। इनके लक्षण नाट्यशास्त्र के अनुसार[2] इस प्रकार हैं—

(१) स्तम्भ—यह हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद और रोषादि से उत्पन्न होता है। इसमें निस्संज्ञ, निष्कम्प, खड़ा रह जाना, शून्यता और जड़ता आदि अनुभाव होते हैं।

(२) स्वेद (पसीना)—यह क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, उपघात और व्यायाम आदि से उत्पन्न होता है। इसमें शरीर के पसीने आना आदि अनुभाव होते हैं।

(३) रोमाञ्च—यह स्पर्श, श्रम, शीत, हर्ष, क्रोध और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें शरीर का कण्टकित होना, पुलकित होना और रोमाञ्चित होना अनुभाव होते हैं।

(४) स्वर-भङ्ग—यह भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादि से उत्पन्न होता है। उसमें स्वर का गद्गद् होना, आदि अनुभाव होते हैं।

(५) वेपथु (कम्प)—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें कम्पादि अनुभाव होते हैं।

(६) वैवर्ण्य—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें मुख का वर्ण बदल जाना, आदि अनुभाव होते हैं।

(७) अश्रु—यह आनन्द, अमर्ष, धुआँ, जँभाई, भय, शोक, अनिमेष-प्रेक्षण (बिना पलक लगाये देखना), शीत और रोगादि से

---

१ काव्यानुशासन, अध्याय २, पृष्ठ १०० ।

२ नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३८१-३८२ ।

उत्पन्न होता है। इसमें नेत्रों से अश्रुओं का गिरना और उनका पोंछना आदि अनुभाव होते हैं।

(८) प्रलय—यह श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, अभिघात और मोहादि से उत्पन्न होता है। इसमें निश्चेष्ट हो जाना, निष्प्रकम्प हो जाना, श्वास का रुक जाना और पृथ्वी पर गिर जाना, आदि अनुभाव होते हैं।

स्तम्भ और प्रलय में यह भेद है कि स्तम्भ में चेष्टा करने का ज्ञान रहता है, किन्तु 'प्रलय' में शरीर जड़ हो जाने के कारण चेष्टा नहीं हो सकती। जैसे—

स्तम्भ।

"पाय कुंज एकांत में भरी अङ्क वृजनाथ;
रोकन को तिय करत पै कह्यो करत नहिं हाथ।" ४९ (३६)

प्रलय।

"दै चख-चोट अँगोट मग तजी जुवति बन माहिं;
खरी विकल कब की परी, सुधि सरीर को नाहिं।"५०

(३) सञ्चारी या व्यभिचारी भाव

चिन्ता आदि चित्त की वृत्तियों को व्यभिचारी या सञ्चारी भाव कहते हैं।

ये स्थायी भाव (रस) के सहकारी कारण हैं। ये सभी रसों में यथासम्भव संचार करते हैं। इसी से इनकी संचारी या व्यभिचारी संज्ञा है[1]। स्थायी भाव की तरह ये रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते।

---

१ 'विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।'—नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण। पृष्ठ ३५६।

अर्थात् ये अवस्था विशेष में उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर स्थायी भाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं[१]।

निष्कर्ष यह है कि ये जल के झाग या बुद्बुदों की भाँति प्रकट हो-होकर शीघ्र लुप्त हो जाते हैं—बिजली की चमक की भाँति दिखलाई देकर अदृश्य हो जाते हैं। इनकी संख्या ३३ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि सञ्चारी भावों की भी, स्थायी भाव और रस के समान, व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनि ही निकलती है, और वही आस्वादनीय होती है। इनका शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना दोष माना गया है[२]। इनके नाम, लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) निर्वेद—वैराग्य के कारण या इष्ट वस्तु के वियोगादि के या दारिद्रय, व्याधि, अपमान एवं आक्षेप आदि के कारण अपने आप के धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। जहाँ निर्वेद वैराग्य से उत्पन्न होता है वहाँ निर्वेद शान्त रस का व्यञ्जक होकर शान्त रस का स्थायी भाव होता है, न कि व्यभिचारी। वैराग्य या तत्वज्ञान के विना जहाँ इष्ट-वियोगादि-जन्य उपर्युक्त कारणोंसे निर्वेद उत्पन्न होता है वहाँ यह शान्तरस के अतिरिक्त अन्य रसोंमें व्यभिचारी रहता है। क्योंकि, जहाँ इष्ट-वियोगादि से निर्वेद उत्पन्न होता है, वहाँ शान्त रस की व्यञ्जना नहीं हो सकती। निर्वेद व्यभिचारी में दीनता, चिन्ता, अश्रुपात, दीर्घोच्छ्वास एवं विवर्णतादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

---

१ "ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्;
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।"

२ इस विषय का विवेचन सप्तम स्तवक में, आगे रसों के दोष-विवेचन के प्रसङ्ग में, विस्तार से किया जायगा।

"अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुनु री सखी ! स्यामसुंदर बिन बाँटि विषम-विष पीजै।
कै गिरिए गिरि चढ़िकै सजनी ! स्वकर सीस सिव दीजै;
कै दहिए दारुन दावानल जाय जमुन धसि लीजै।
दुसह बियोग बिरह माधवके कौन दिनहि दिन छीजै;
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि-सोचि मन खीजै।"५१
(५२)

यहाँ व्रजराज श्रीकृष्ण के वियोग में श्रीराधिकाजी द्वारा अपने जीवन के तिरस्कार किए जाने में निर्वेद की व्यञ्जना है।

कबहूँ नहिं साधी समाधि इकंत न काम कलान की जोति जगी;
न सुनी भगवंत कथा न तथा रस की बतियाँ मृदु प्रेम पगी।
सहि कष्ट न जोग की आँच तयो न वियोग की आग हिए सुलगी;
यह वादि ही बैस वितीत भई गल सेली लगी न नवेली लगी।५२

यहाँ व्यर्थ जीवन व्यतीत होने से उत्पन्न निर्वेद की व्यञ्जना है।

(२) ग्लानि—आधि (मानसिक ताप) या व्याधि (शारीरिक कष्ट) के कारण शरीर का वैवर्ण्य (मुख आदि अङ्गों की कान्ति हीन—फीकी पड़ जाना) और कार्य में अनुत्साह आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाले दुःखों को ग्लानि कहते हैं। उदाहरण—

"सूती किसलय-सयन पै जिमि नव ससि की रेख;
आयो पिय आदर कियो केवल मधुरहि देख*" ५३

यहाँ विरह-जनित सन्ताप से तापित नायिका द्वारा विदेश से आए हुए अपने पति का केवल मधुर कटाक्षसे सम्मान किए जाने में ग्लानि भाव की व्यञ्जना है।

यों कहि अरजुन अति विकल समुझि महा कुलहान,
बैठ्यो रथ रन-विमुख ह्वै छाड़ि दिये धनुवान। ५४

यहाँ अर्जुनके रण-विमुख होकर धनुषबान छोड़ कर बैठ जाने में ग्लानि की व्यञ्जना है।

(३) शङ्का—मेरा क्या अनिष्ट होनेवाला है! इस प्रकार की चित्तवृत्ति को 'शङ्का' कहते हैं। इसमें मुख वैवर्ण्य, स्वर-भङ्ग, कम्प, ओष्ठ और कण्ठ का सूखना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"हे मित्र, मेरा मन न-जाने हो रहा क्यों व्यस्त है;
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज-समीप रथको शीघ्रता से ले चलो;
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ दलो।"
॥५५॥ (४०)

महाभारत में संसप्तकगणों के युद्ध से लौटने समय श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन के ये वाक्य हैं। इसमें 'शङ्का' की व्यञ्जना है। 'शङ्का' में भय आदि से उत्पन्न कम्प होता है[1]। चिन्ता में भय नहीं होता है। जैसे—

"अब ह्वै है कहा अरविंद सो आनन इंदु के हाथ हवाले पर्यो,
इक मीन बिचारो बिंध्यो बनसी पुनि जाल के जाय दुमाले पर्यो;
'पद्माकर' भाषै न भाषै बनै जिय कैसो कछूक कसाले पर्यो,
मन तो मनमोहन के सँग गो, तन लाज-मनोज के पाले पर्यो।"
॥५६॥ (२४)

यहाँ चिन्ता है। इन दोनों में यही भेद है।

(४) असूया—दूसरे का सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या आदि का उत्कर्ष देखने से या सुनने से उत्पन्न चित्तवृत्ति अर्थात् जलन को असूया

---

१ शङ्का की स्पष्टता में कहा है—"इयं तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादि-कारिणी, नतु चिन्ता।"—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ८०

कहते हैं। इसमें अवज्ञा, भ्रुकुटी चढ़ाना, ईर्ष्या के वाक्य कहना, दूसरे के दोषोंको प्रकट करना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

अलि ! कितव सखे ! क्यों पाद छूता हमारे ;
विरह-विकलिता हैं, मानिनी हैं न प्यारे !
अनुनय यह तेरा है सुहाता न, जा रे ;
प्रिय-प्रणयिनि हैं वो, तू उसे ही रिझा रे ।५७।

भ्रमर के प्रति विरहिणी ब्रजाङ्गनाओं के इन वाक्यों में कुब्जा के विषय में असूया की व्यञ्जना है।

"सुघर सलोने स्यामसुंदर सुजान कान्ह,
करुनानिधान के वसीठ बन आये हो।
प्रेम पन धारी गिरधारी को सँदेसौ नाहीं,
होत है अँदेसौ झूठ बोलत बनाये हो ॥
ज्ञान-गुन-गौरव-गुमान भरे फूले फिरौ,
वंचक के काज पै न रंचक बराये हो।
रसिक-सिरोमनि को नाम बदनाम करौ,
मेरी जान ऊधो कूर कूबरी पठाये हो ॥"५८
(१४)

गोपी जनों की उद्धव के प्रति इस उक्ति में कुब्जा के विषय में असूया की व्यञ्जना है।

हैं वे वृद्ध विचार-शील न, वृथा कैसी बढ़ा दी कथा,
गाते हैं वह ताड़का-बध अहो ! स्त्री-लक्ष्य ही जो न था;
वीरों को खरदूषणादि,बध भी क्या गण्य युद्धत्व है ?
बाली का बध कृत्य,सत्य कहना, क्या हम्र वीरत्व है ?५६

अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में चन्द्रकेतु आदि के साथ युद्ध के समय ये रघुकुलकुमार लव के वाक्य हैं। इनमें श्रीरघुनाथजी की अवज्ञा के कथन में असूया की व्यञ्जना है।

(५) मद—मद्यपानादिसे उत्पन्न अङ्ग एवं वचनों की स्खलद्गति आदि अनुभावों की उत्पादक चित्तवृत्ति मद है। उदाहरण—

डगमगात पग परत मग सिथलित तन दृग लाल ;
कहन चहतु कछु कहतु कछु कीन्ह सुरा यह हाल।६०

(६) श्रम—मार्ग चलने और व्यायाम आदि से थक जाना श्रम है। मुख सूख जाना, अँगड़ाई एवं जँभाई लेना और निःश्वास आदि इसके अनुभाव हैं। उदाहरण—

"पुर ते निकसी रघुवीर-वधू धरि धीर दिए मग में डग द्वै ,
झलकीं भरि भाल कनी जल की पटु सूखि गए अधराधर वै ;
फिर बूझति है चलिबोब कितो ? पिय, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ,
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै।"
६१ (१७)

यहाँ वनवास के समय श्रीजनकनन्दिनीके थक जाने में श्रम की व्यञ्जना है।

"घट वहन से स्कंध नत थे और करतल लाल ;
उठ रहा था स्वास गति से वक्ष-देश विशाल।
श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद सीकर-जाल ;
एक कर से थी सँभाले मुक्त काले बाल॥"
६२ (४७)

यहाँ घटवहन से शकुन्तला के थक जाने में श्रम की व्यञ्जना है।

ग्लानि प्रधानतः मानसिक आधि और शारीरिक व्याधि के कारण होती है, और श्रम में परिश्रम से उत्पन्न थकावट होती है।

(७) आलस्य—श्रम, गर्भ, व्याधि, जागरण आदि के कारण कार्य करने से विमुख होना आलस्य है। इसमें जँभुआई आना, एक ही स्थान पर स्थिर रहना आदि अनुभव होते हैं। उदाहरण—

"नीठि-नीठि उठि बैठिहू, प्यो प्यारी परभात;
दोऊ नींद-भरे खरैं गरैं लागि गिरि जात।"६३(२६)

यहाँ निद्रान्त आलस्य की व्यंजना है।

(८) दैन्य—दुःख, दारिद्र्य, मनके सन्ताप और दुर्गति आदि से उत्पन्न अपने अपकर्ष (दुर्दशा) के वर्णन में दैन्य भाव होता है।

उदाहरण—

नँदनंदन के स्मित-आनन पास लगी रहै कान सदा भरजी।
अधरामृत को रस पान करै व्रजगोपिन सों न रहै बरजी।
कर जोरि निहोरि कै तोहि कहौं मुरली! सुनु एक यहै अरजी;
मुरलीधर सों यह मेरी दसा कहियो, फिर है उनकी मरजी।६४

यहाँ भगवान् श्रीनन्दनन्दन के मुँहलगी वंशी के प्रति संसारताप से सन्तापित इस दीन की इस प्रार्थना में 'यह मेरी दशा' इन शब्दों द्वारा दैन्य की व्यंजना है।

"पांडू की पतोहू भरी स्वजन सभा में जब,
आई एक चीर सों तो धीर सब ख्वै चुकी।
कहै 'रत्नाकर' जो रोइबो हुतो सो तबै,
धार मारि बिलख गुहारि सब रवै चुकी।
झटकत सोऊ पट विकट दुसासन है,
अब तो तिहारी हू कृपा की बाट ज्वै चुकी।
पांच-पांच नाथ होत नाथनि के नाथ होत,
हाय! हौं अनाथ होति नाथ! अब ह्वै चुकी।६५(१४)

द्रौपदी की इस उक्ति में दैन्य भाव की व्यंजना है।

कुछ सेष रह्यो घर में न, पर्यो पति खाट पै, वृद्ध है अन्ध भयो।
सुत को नहिं हाल मिल्यो कितसों जब सौं वह हाय! विदेस गयो।
ऋतु-पावस बासन हू गयो फूटि जो तेल परोसिन पास लयो;
लखि आरत गर्भिनि पुत्र-वधू-दुख सों भरि सास को आयो हियो।६६

यहाँ दारिद्रय-दशा-जनित दैन्य की व्यंजना है।

"उदर भरे की जो पै गोत की गुजर होती,
घर की गरीबी माँहिं गालिब गठौती ना।
रावरे चरन अरविंद अनुरागत हौं,
माँगत हौं दूध, दही, माखन, मठौती ना।
याहू ते कहौ तो और होतो अनहोतो कहा,
साबुत दिखात कंत! काठ की कठौती ना।
छुधा छीन दीन बाल-बालिका बसन-हीन,
हेरत न होती देव! द्वारिका पठौती ना।"
६७ (४३)

सुदामाजी की पत्नी के इन वाक्यों में दारिद्रय-जन्य दैन्य की व्यंजना है।

(६) चिन्ता—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति या अनिष्ट की प्राप्ति, आदि से उत्पन्न चित्तवृत्ति ही चिन्ता है। सन्ताप, चित्त की शून्यता, कृशता, अधोमुख आदि अनुभवों द्वारा इसका वर्णन होता है। उदाहरण—

परम पुनीत न जाइ तजि, किये प्रेम बड़ पाप।
प्रकटि न कहत महेस कछु, हृदय अधिक संताप।६८(१६)

यहाँ रामचरित मानस में पार्वतीजी को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के ईश्वरत्व में सन्देह होने पर उनके समीप सीताजी का रूप धारण करके गई जानकर शिवजी के इस कथन में चिन्ता की व्यञ्जना है।

"दृगन मूँदि भौंहन जुरैं करतिय राखि कपोल;
अवधि बिती आए न पिय सोचत भई अडोल।" ६९

प्रोषितपतिका नायिका की इस दशा के वर्णन में चिन्ता की व्यंजना है।

(१०) मोह—प्रिय-वियोग, भय, व्याधि और शत्रु के प्रतिकार में असमर्थ होने आदि से चित्त का विक्षिप्त होजाना अर्थात् वस्तु का यथार्थ ज्ञान न रहना ही मोह है। इसका वर्णन चित्त-भ्रम, चेतना हीन होना आदि अनुभावों से होता है। उदाहरण—

"कहती हुई बहु भाँति यों ही भारती करुणामई;
फिर भी हुई मूर्च्छित अहो! वह दुःखिनी विधवा नई।
कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ;
हृतचेत होना भी विपद् में लाभदाई है महा।"
७० (४०)

इसमें अपने पति अभिमन्यु के शोक में उत्तरा के हत-चेतना हो जाने में मोह की व्यंजना है। सुख-जन्य भी मोह होता है[1]। जैसे—

"दूलह श्रीरघुवीर बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माँहीं;
गावत गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाँहीं।
राम को रूप निहारत जानकी कंकन के नग की परिछाँहीं;
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाँहीं।"
७१ (१७)

यहाँ श्रीरघुनाथजीका प्रतिबिम्ब अपने कङ्कण के रत्न में गिरने पर जनकनन्दिनी के सुधि भूल जाने में सुख से उत्पन्न मोह की व्यंजना है।

१ 'सुखजन्यापि मोहो भवति'—हेमचन्द्र का काव्यानुशासन।

(११) स्मृति--पहले के अनुभव किये हुए सुख एवं दुःख आदि विषयों का स्मरण ही स्मृति है।

"है विदित, जिसकी लपट से सुरलोक संतापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन का छोर था जिसने छुआ,
उस प्रबल जतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं—
हे तात! संधि-विचार करते तुम भुला देना नहीं।"
७२ (४०)

दुर्योधन से सन्धि करने को जाते हुए श्रीकृष्ण के प्रति द्रौपदी के इन वाक्यों में अपने अपमान की स्मृति की व्यंजना है।

हे सरसीरुहलोचनि, मोहि बताओ प्रिये! कबौं आवतु है चित ;
वा गिरि-कानन के बहुरंग बिहंग कुरंगन सों अति सोभित—
कुञ्जन के रज-रंजित नीर सु तीर गुदावरि के निकटैं जित,
मंजुल वंजुल कुञ्जन में मनरंजन मंजु बिहार किए नित।
॥७३॥

जनकनन्दिनी के प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्र की इस उक्ति में चित्रकूट-विषयक स्मृति की व्यंजना है।

"बालम के बिछुरे बढ़ी बालके व्याकुलता विरहा दुख दान तें,
चौपरि आनि रची 'नृप शंभु' सहेलिनी साहबिनी सुखदान तें।
'तू जुग फूटै न मेरी भटू' यह काहू कही सखियाँ सखियान तें;
कंज-से पानि से पासे गिरे, अँसुवा गिरे खंजन-सी अँखियान तें।"
॥७४॥ (४६)

चौपड़ के खेल में सखी के मुख से 'जुग न फूटे' सुनकर वियोगिनी को अपनो वियोग-दशा का स्मरण हो आने में दुःख-जन्य स्मृति भाव है। पहले उदाहरण में सादृश्य वस्तु देखने पर और इसमें श्रवण से, स्मृति की व्यंजना है।

"पल्लव-पलंग पै प्रभात में मलिन्द वृन्द,
गाता महा मोद से तराना[1] कुसुमों का था।
दौड़ पड़ता था कलियों क खुलते ही वह,
क्षण में ही लुटता खजाना कुसुमों का था।
साँझ को विलम्ब मुरझाने में न होता कभी,
एक ही दिवस का फिसाना[2] कुसुमों का था।
आन में बदलती हवा थी कुसुमाकर की,
बात में बदलता जमाना कुसुमों का था।"
७५ [१]

यहाँ कवि द्वारा अपने ग्राम की पूर्वकालिक अवस्था के वर्णन में स्मृति भाव की व्यंजना है।

"गोकुल की गैल गैल गैल गैल ग्वालिन की,
गोरस कै काज लाज-वस कै बहाइबो।
कहै 'रतनाकर' रिझाइबौ नवेलिनि कौ,
गाइबौ गवाइबौ औ नाचिबौ नचाइबौ।
कीबौ स्रमहार मनुहार कै विविध विधि,
मोहिनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबौ।
ऊधौ सुख-सम्पति-समाज वृजमण्डल के,
भूलैं हूं न भूलै भूलैं हमको भुलाइबौ।"
७६ (१४)

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति में स्मृति भाव की व्यंजना है।

(१२) धृति—लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को दूर करने वाली चित्त-वृत्ति धृति है। इसमें प्राप्त, अप्राप्त और नष्ट वस्तुओं का शोक न करना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

---

१ गीत। २ कहानी।

क्यों संतापित हिय करौं भगि-भगि धनिकन द्वार;
मो सिर पर राजत सदा प्रभु श्रीनन्दकुमार। ७७

यहाँ चित्त की चञ्चलता का दूर होना धृति है।

हो तुम वित्त सौं तुष्ट रु त्यों हम वल्कल चीर सों तुष्ट सदा हैं;
है परितोष समान जबै, कहु तो इहि में तब भेद कहा है।
है जिनको तृसनाकुल चित्त, वही जग माँहि दरिद्र महा है;
जो मन होय सँतोषित तो फिर को धनवान दरिद्र यहाँ है।
॥७८॥

सन्तोष होने पर धनवान् और दरिद्री दोनों की समान अवस्था के वर्णन में यहाँ 'धृति' भाव की व्यंजना है।

(१३) व्रीडा—स्त्रियों को पुरुष के देखने आदि से और पुरुषों को प्रतिज्ञा-भङ्ग, पराभव एवं निन्दित कार्य करने आदि से वैवर्ण्य और अधोमुख आदि करनेवाली लज्जा ही व्रीडा है। उदाहरण—

"सुनि सुंदर बैन सुधा-रस-साने सयानि हैं जानकी जान भली;
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली।
'तुलसी' तिहिं औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन-लाहु अली;
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै विकसी मनो मंजुल कंज-कली।"
॥७९॥ (१७)

यहाँ ग्राम-वधुओं द्वारा श्रीरघुनाथजी के विषय में यह पूछने पर कि 'यह आपके कौन हैं?' श्रीजानकीजी द्वारा नेत्रों की चेष्टा से उनको अपना प्राणनाथ बतलाने में व्रीड़ा की व्यंजना है।

नँदलाल के प्रेम तू बाल! पगी, उनके बिन तोहि कछु न सुहातहै;
तन औ' मन सौंप चुकी सब ही चरचा उनही की सदा मन भातु है।
फिर काहे को नाहक मेरी भटू! दृग-दानके हेत उन्हें तरसातु है।
सखि, बेचि गयंदहि अंकुस लौं झगरो करिबो कहा जोग कहातु है।
॥ ८० ॥

यहाँ प्रेम-कटाक्ष के दान देने को सखी द्वारा दी गई शिक्षा में नायिका-निष्ठ लज्जा-भाव की व्यंजना है।

"मानी न मनावतो भयो भोर, सु सोवते सोइ गयो मनभावन;
तेही ते सास कह्यो दुलही ! भई बार कुमार को जाहु जगावन।
हाँस मनाइवे को जु गयो उड़ि, पै न गई हिय की अनखावन;
चंदमुखी पलका ढिंग जाय लगी पग-नूपर पाटी बजावन।"८१॥

यहाँ मानिनी नायिका द्वारा नायक को जगाने के लिये पर्यंक की पाटी को नूपर से बजाने में स्त्री-स्वभाव-सुलभ अपमान की शङ्का-जनित व्रीड़ा की व्यञ्जना है।

(१४) चपलता--मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और अनुराग आदि से चित्त का अस्थिर होना ही चपलता है। चपलता में दूसरोंको धमकी देना, कठोर शब्द बोलना और अविचार पूर्वक उच्छृङ्खल आचरण करना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

उत्फुल्ल मंजुल अनेक लता बनी हैं।
जो प्रौढ और उपमर्दन योग्य भी हैं।
मुग्धा विहीन-रज है इस मालती को;
रे भृङ्ग क्यों व्यथित है करता कली को॥८२॥

यहाँ भृङ्ग के प्रति इस अन्योक्ति में चपलता की व्यंजना है।

(१५) हर्ष--इष्ट की प्राप्ति, अभीष्ट-जनके समागम आदि से उत्पन्न सुख हर्ष है। इसमें मनकी प्रसन्नता, प्रिय भाषण, रोमांच, गद्गद होना और स्वेदादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"मृगनैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल;
बिन-ही पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल।" ८३ (२६)

इसमें वाम नेत्र का फड़कना प्रिय आगम सूचक समझकर, उत्साह से पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करने में नायिका के हर्ष की व्यंजना है।

"नव गयंद रघुबीर-मन, राजु अलान-समान ;
छूटजानि बन-गमन सुनि उर अनंद अधिकान।"८४
(१७)

यहाँ बनवास की आज्ञा को सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रके मन की अवस्था के वर्णन में हर्ष भाव की व्यंजना है।

(१६) आवेग—भयङ्कर उत्पात एवं प्रिय और अप्रिय बात के सुनने आदि से उत्पन्न चित्त की घबराहट आवेग है। इसमें विस्मय, स्तम्भ, स्वेद, शीघ्र गमन, वैवर्ण्य, कम्प आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"सुनत श्रवन बारिधि-बंधाना, दसमुख बोलि उठा अकुलाना।
बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस,
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस।"८५ (१७)

समुद्र पर सेतु बाँधने का समाचार सुनकर रावण के चित्त में व्याकुलता होने में यहां आवेग की व्यञ्जना है। यह अप्रिय श्रवण-जनित आवेग है।

(१७) जड़ता—इष्ट तथा अनिष्ट के देखने और सुनने से किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाना जड़ता है। इसमें अनिमिष होकर (पलक न लगाकर) देखना और चुप रहना इत्यादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि
सोहत सुहाई सीस ईंडुरी सु पट की ;
कहै 'पद्माकर' गँभीर जमुना के तीर
लागी घट भरन नवेली नई अटकी।

ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर वंशीवट की ;
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की।" ८४ (२४)

यहाँ वंशी की ध्वनि को सुनकर व्रजाङ्गना की दशा के वर्णन में जड़ता की व्यंजना है।

"कर-सरोज जयमाल सुहाई, विश्व-बिजय-सोभा जनु पाई।
तन सँकोच मन परम उछाहू, गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू।
जाइ समीप राम-छवि देखी, रहि जनु कुँवरि चित्र-अवरेखी।"
८५ (१७)

यहाँ जयमाला धारण कराने को श्रीरघुनाथजी के समीप गई हुई सीताजी की दशा के वर्णन में 'जड़ता' की व्यञ्जना है। यह इष्ट-दर्शन-जन्य जड़ता है। अनिष्ट-दर्शन-जन्य जड़ता का उदाहरण—

गर्व भरे आए प्रथम, थकित रहे ढिँग तीर ;
अनिमिष-दृग देखन लगे वारिधि वानर वीर ॥८६॥

यहाँ सीताजी की खोज में गए हुए वानर वीरों द्वारा अगाध समुद्र को देखकर और उसको पार करना दुःसाध्य समझकर उनकी—दृष्टि के स्थगित हो जाने में जड़ता की व्यञ्जना है।

(१८) गर्व—रूप, धन, बल और विद्यादि के कारण उत्पन्न अभिमान ही गर्व है। जहाँ उत्साह-प्रधान गूढ़-गर्व होता है, वहाँ वीर-रस की ध्वनि होती है। उदाहरण—

समुझैं मम नैनन नील सरोज उरोजन कंजकली अनुमानहिँ ;
भ्रम बंधुक-फूलन के अधरान रु पानन पद्मस-नाल सु जानहिँ।

मनि-मोतिन चारु गुही कबरी लखि बंधुन की अवली मन ठानहिँ ;
अतिमंद मिलिंद के वृंद सखी ! दुरबार घनो दुख देत न मानहिँ ।
॥८७॥

रूप-गर्विता नायिका की अपनी सखी के प्रति इस उक्ति में रूप-जनित गर्व की व्यञ्जना है ।

"भीषम भयानक पुकार्यो रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी।
कहै 'रतनाकर' रुधिर सौं रुँधैगी धरा,
लोथिन पै लोथिन की भाँति उठि जायगी ॥
जीति उठिजाइगी अर्जुन पांडुपूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी ।
कैतौ प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-पन की प्रतीति उठि जाइगी" ॥
८८ (१४)

(१६) विषाद—अभीष्ट कार्य की असिद्धि, पराजय, भय एवं राजादि के अपराध आदि से उत्साह-भङ्ग और अनुताप होना विषाद है । इसमें दीर्घोच्छ्वास, सन्ताप आदि अनुभाव होते हैं । उदाहरण—

"निज शक्ति-भर मैं आपकी सेवा सदा करता रहा ,
त्रुटि हो न कोई भी कभी, इस बात से डरता रहा ।
सम्मान्य ! मैंने आपका अपराध ऐसा क्या किया ,
जो सामने से आपने उसको निकल जाने दिया ।
मैं जानता जो पांडवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी वेला विकट संताप की ।"
८९ (४०)

भारत युद्ध में शकटाकार व्यूहमें अर्जुन के प्रवेश करने पर उत्साह भङ्ग होकर द्रोणाचार्य से कहे हुए दुर्योधन के इन वाक्यों में विषाद की व्यञ्जना है।

"ठाढ़े भए कर जोरिकै आगे, अधीन ह्वै पाँयन सीस नवायो;
केती करी विनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठतें मन भायो।
देखत ही सिगरी सजनी तुम, मेरो तो मान महामद छायो,
रूठि गयो उठि प्रानपियारो, कहा कहिए तुमहूँ न मनायो।"
९० (३६)

कलहान्तरिता नायिका की इस उक्ति में नायक के रूठकर चले जाने पर यहाँ भी विषाद की व्यंजना है।

"ऐसेहु बचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान,
तो प्रभु विषम-वियोग-दुख सहिहहिं पाँवर प्रान।"९१
(१७)

वन-गमन के समय अपने साथ न ले जाने के श्री रघुनाथजी के वाक्य सुनकर जानकीजी के इन वाक्यों में विषाद की व्यंजना है।

(२०) औत्सुक्य—अमुक वस्तु का अभी लाभ हो, ऐसी इच्छा होना औत्सुक्य है। इसमें वाञ्छित वस्तु के न मिलने के विलम्ब का असहन, मन को सन्ताप, शीघ्रता, पसीना और निःश्वास आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

दृग-कंजन अंजन आँजि तथा तन भूषन साजि कहा करि है;
मेहँदी एक हाथ लगीन लगी रहिवे दे सखी! न कछू डरि है।
अरी! बावरी का नहिँ जानत तू, मोहिँ देखिवे की जु उतावरि है;
व्रजगोपिन के धन प्रान वही अब आइ रहे मथुरा हरि हैं।९२

यहाँ मथुरा की पौराङ्गना के इस वाक्य में श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा-जन्य औत्सुक्य की व्यञ्जना है।

"मानुष हौंहु वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन ;
जो पसु हौंहु कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौंहु वही गिरि को जो कियो व्रज छत्र पुरंधर कारन ;
जो खग हौंहु बसेरो करौं वहिं कालिंदी-कूल कदंब की डारन।"
९३ (४१)

यहाँ व्रजवास की इच्छा में औत्सुक्य की व्यञ्जना है।

(२१) निद्रा—परिश्रम आदि के कारण बाह्य विषयों से निवृत्त होना निद्रा है। इसमें जँभाई आना, आँख मिचना, उच्छ्वास और अँगड़ाई आदि चेष्टाएँ होती हैं। उदाहरण—

कल कालिंदी-कूल कदंबन फूल सुगंधित केलि के कुंजन में ;
थकि झूलन के झकझोरन सों बिखरी अलकैं कच-पुंजन में।
कब देखहुँगी पिय-अंक में पौढ़त लाड़िली को मुख रंजन मैं ;
कहियो यह हंस ! वहाँ जब तू नँदनंदन लै कर-कंजन में।
॥९४॥

ललिताजी की हंस के प्रति इस उक्ति में राधिकाजी की निद्रावस्था को व्यञ्जना है।

आयो विदेश तें प्रानपिया, अभिलाष समात नहीं तिय-गात में,
बीत गईं रतियाँ जगि कै रस की बतियाँ न बिती बतरात में ;
आनन-कंज पै गंध-प्रलुब्ध लगे करिवे अलि गुंज प्रभात में ;
ताहू पै कंजमुखी न जगी वह सीतल मंद सुगंधित वात में।
९५

यहाँ रात्रि का जागरण विभाव और मुख पर भ्रमरावली के गुञ्जन करने पर भी न जगना अनुभाव है, इसमें निद्राभाव की व्यञ्जना है।

(२२) अपस्मार—वियोग, शोक, भय एवं जुगुप्सा आदिके आधिक्य से और भूतादि बाधा से उत्पन्न एकव्याधि को अपस्मार

(मृगी रोग) कहते हैं। अपस्मार एक व्याधि है, पर वीभत्स और भयानक रस में यह सञ्चारी होता है। उदाहरण—

सुनिके आए मधुपुरी हरि जदुकुल-अवतंस ;
बढ़्यो स्वास भूतल पर्यो अति कंपित ह्वै कंस।९६

यहाँ राजा कंस की दशा के वर्णन में अपस्मार को व्यञ्जना है। वियोग-शृङ्गार में भी अपस्मार की व्यञ्जना देखी जाती है। जैसे—

"उघरि परे हैं नील पल्लव अधर तैसे,
फैलि रहे साखा बाहु वेसक बहरि परी ;
'उजियारे' कलिका-कपोल फैन फूलि रहे,
अलकावलि भारी भौंर भीर-सी भहरि परी।
चारौं ओर छोर कोर-कोर ब्रजवाल ठाढ़ी,
चित्र की-सी काढ़ी बाढ़ी सोचति सिहरि परी ;
अधिक अधीर ताती तीर की समीर लागैं,
बनिता लता-सी छीन छिति पै छहरि परी।"
९७ (४)

यहाँ वंशी की ध्वनि से उत्कण्ठित होकर शारदीय रासलीला के लिये आई हुई गोपीजनों को जब श्रीकृष्ण ने घर लौट जाने की आज्ञा दी, उस समय की गोपीजनों की दशा के वर्णन में अपस्मार भाव की व्यञ्जना है। यह प्रिय-वियोग-जनित है।

(२३) सुप्त—स्वप्न ही सुप्त कहा जाता है। उदाहरण—

सुनु लक्ष्मण ! हा ! बिन जानकी के तन दाहक भे नभ में घन ही ;
पुनि धीर समीर कदंबन की अति पीर करै धँसिकै तन ही।
हरि के मुख सोवत में निकसी पिछली यह बात अचानक ही ;
वृषभानुसुता सुनि संकित ह्वै लगी बंक बिलोकिबे ता छिन ही।
९८

इसमें श्रीकृष्ण की स्वप्नावस्था की व्यञ्जना है।

साँचे हौ; बोलौ न झूठ कबौं, बस छाड़ौ हमारो पिया ! अब आँचर;
प्रेम तिहारो भली विधिसौं हम जानतो, यों करतो जु निरादर—
ढारत आँखन सों अँसुआ, हौं लखी वह कंजमुखी पलका पर।
तेरे बिना निँदिया ! हमें कौन करावै प्रिया सँग भेट इहाँ पर। ९९

पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ के अनुसार कथन करती हुई अपनी मानवती प्रिया को स्वप्न में देखकर किसी प्रवासी का निद्रा के प्रति कथन है। इसमें स्वप्न की व्यञ्जना है।

(२४) विबोध—निद्रा दूर होने के बाद या अविद्या के नाश होने के बाद चैतन्य-लाभ होना विबोध है। उदाहरण—

तव प्रसाद सब मोह मिटि भो स्वरूप को ज्ञान ;
गत-संसय गोविंद ! तव करिहौं वचन प्रमान। १००

यहाँ मोह-जन्य अविद्या के नष्ट होकर ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अर्जुन के इस वाक्य में विबोध की व्यञ्जना है।

"विषया पर-नारि निसा तरुनाइ सुनाइ पर्यो अनुरागहि रे ;
जम के पहरू दुख, रोग, वियोग बिलोकत हू न विरागहि रे।
ममता-बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोर महाभय भागहि रे ;
जरठाइ-दिसा रवि-काल उयो, अजहूँ जड़ जीव ! न जागहि रे।"
— १०१ (१७)

(२५) अमर्ष—दूसरेके द्वारा की गई निन्दा, आक्षेप और अपमान आदि से उत्पन्न चित्त वृति ही अमर्ष है। इसमें नेत्रोंका रक्त होना, शिरःकम्प, भ्रू-भङ्ग, तर्जन क्रूरवाक्य और प्रतिकार के उपाय, आदि चेष्टाएँ होती हैं।

उदाहरण—

"त्रिया-मात्र ताड़का, दीन द्विजराम बिना दल ;
मृग सभीत, मारीच बधसु तिहिं कहौं कहा बल।
सप्त ताल जड़ जोनि ढुंढ सो मृतक देह डगि ;
बाली साखामृग वराक हति गर्व जु तिहिं लगि।
को जयौ वीर तैं जुद्ध करि, मिथ्या अहंमिति वहत मन ;
कोदंड-बान संधान कर, रे काकुस्थ ! सँभारि रन।"
१०२ (२२)

भगवान् श्रीरामचन्द्र के प्रति रावण का यह तर्जन है। इसमें अमर्ष की व्यञ्जना है।

"खुले केस रजस्वला सभा बीच दुःसासन,
लायो सो पुकार रही सारे सभाचारी कौं।
आदि आपौ हारयो किधौं आदि मोकौं हारयो नृप,
करन बिगारी बात विकरन सुधारी कौं।
भीम कहै ऐंच्यो चीर तेई भुज ऐंचै जैहैं,
दिखावै है जंघा सो दिखै हौं तोरि डारी कौं ;
द्रुपददुलारी ! खुली लटैं कर देहौं सारी,
एक नृप-नारी ना अनेक नृप-नारी कौं।"
१०३ (५५)

दुःशासन द्वारा द्रौपदी के चीर-हरण के समय द्रौपदी के प्रति भीमसेन के इन वाक्यों में अमर्ष की व्यञ्जना है।

क्रोध भाव (जो रौद्र रस का स्थायी भाव है) और इस अमर्ष भाव में यह भिन्नता है कि क्रोध की कोमलावस्था (पूर्वावस्था) अमर्ष है, और उसकी उत्कट अवस्था क्रोध।

(२६) अवहित्था[1]—लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावों का छिपाया जाना अवहित्था है। किसी बहाने से दूसरे कार्य में संलग्न हो जाना, मुख नीचा कर लेना आदि इसके अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

सुनि नारद की बात तात निकट ह्वै नमित मुख ;
उमा कमल के पात कर उठाय गिनवे लगी।१०४

नारदजी द्वारा भगवान् शङ्कर के गुण सुनकर जो हर्ष हुआ, उसे पिता के सम्मुख लज्जा के कारण नम्रमुखी होकर पार्वतीजी द्वारा कमल के पत्रों की गणना के बहाने से छिपाए जाने में अवहित्था की व्यञ्जना है।

पग मेरे में काँटो चुभ्यो कहि यों सखियानसौं बात बनाइ बिथाकी ,
चलिकै कछुही डग औचक ही वह बैठिगई मुरिकै झुकि झांकी।
उरभयो कहुं वल्कल-चीर न पै सुरझाइवे के मिस ओट लता की ,
फिरहू अभिलाषसौं मेरी ही ओर लजीली चितौन लगी सुप्रियाकी।

यहां राजा दुष्यन्त को बार-बार देखने के कार्य को शकुन्तला द्वारा पैर में कांटा लगजाने और वृक्षकी डाल से वल्कल वस्त्र के उलझने के बहानेसे छिपाया जाने में अवहित्था भाव की व्यञ्जना है।

(२७) उग्रता—अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली निर्दयता ही उग्रता कही जाती है। इसमें बध, बन्ध, भर्त्सन और ताड़न आदि अनुभाव होते हैं। अमर्ष और उग्रता में यह भेद है कि अमर्ष निर्दयता रूप नहीं है, पर उग्रता निर्दयता रूप है। क्रोध और उग्रता में यह भिन्नता है कि क्रोध स्थायी भाव है, और उग्रता संचारी भाव; अर्थात्

---

१ 'न-वहिस्थं चित्तं येन'। अर्थात्, जिससे चित्त बहिस्थ न हो, उसे अवहित्थ कहते हैं—हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, पृष्ठ ६०।

जहाँ यह भाव स्थायी रूप से हो वहाँ क्रोध और जहाँ सञ्चारी रूप से हो वहाँ उग्रता कही जाती है[1]। उदाहरण—

"मातु-पितहि जिन सोच वस करसि महीपकिशोर,
गरभन के अरभक दलन परसु मोर अति घोर।"
१०६ (१७)

यहाँ लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के वाक्य में उग्रता भाव की व्यञ्जना है। किन्तु—

"तब सप्त रथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में;
मिलकर किया आरंभ उसको विद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि सुत-युत द्रोण भी,
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुविधि सभी।"
१०७ (४०)

अभिमन्यु पर सात महारथियों का एक साथ प्रहार करने में यहाँ क्रोध स्थायी रूप से होने से रौद्र रसकी व्यञ्जना है—न कि उग्रता सञ्चारी।

"भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥
जो सुनि सर अस लागु तुम्हारे। काहे न बोलेहु बचन बिचारे॥
देहु उतर अरु कहहु कि नाहीं। सत्यसिंधु तुम रघुकुल माहीं॥
सत्य सराहि कहेहु बर देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धनु तजेउ बचनपन राखा।"
१०८ (१७)

यहाँ दशरथजी के प्रति कैकेयी द्वारा की गई भर्त्सना में उग्रता की व्यञ्जना है।

(२८) मति—शास्त्रादि के विचार एवं तर्कादि से किसी बातका

---

१ 'तस्य स्थायित्वेनास्याः संचारिणीत्वेनैव भेदात्।'—रसगङ्गाधर पृष्ठ ६०।

निर्णय कर लेना ही मति है। इसमें निश्चित वस्तु का संशय-रहित स्वयं अनुष्ठान या उपदेश और सन्तोष आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"श्रीनिमि के कुल दासिन हू की निमेष कुपंथ न है समुझाती,
तापर हौं हिय मेरो सुभाव विचार यहै निहचै ठहराती।
'दासजू' भावी स्वयंवर मेरे को बीस-बिसै इनके रँगराती;
नातरु साँवरी मूरति राम की मो अँखियान में क्यों गड़ि जाती।"
१०९ (३४)

यहाँ श्रीजनकनन्दिनीजी के वाक्यों में 'मति' की व्यञ्जना है।

"व्याल कराल महाविष पावक मत्त गयंदन के रद तोरे,
सासति संकि चली डरपैहुते किंकर ते करनी मुख मोरे।
नेक बिषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि के बल हो रे;
कौन की त्रास करै 'तुलसी' जोपै राखि हैं राम तो मारि है को रे।"
११० (१७)

प्रहलादजी की रक्षा विभाव है।। 'जोपै राखि है राम, तो मारि है को रे' अनुभाव है। इनके द्वारा 'मति' की व्यञ्जना है।

"सुनती हो कहा, भजि जाहु घरै; बिध जाओगी कामके बानन में;
यह बंसी 'निवाज' भरी विष सौं विष-सो भर देत है प्रानन में।
अब ही सुधि भूलि हौ भोरी भटू! बिरमौ जिन मीठी-सी तानन में;
कुल-कान जो आपुनी राख्यो चहौ, अँगुरी दै रहौ दुउ कानन में।"
१११ (२३)

मुग्धा नायिका को सखी के इस उपदेश में 'मति' की व्यञ्जना है।

जाइबो चाहतु है जमुना तट तो सुनु बात कहौं हितकारी;
मंजुल वंजुल कुंजन में सखि! भूलिहू तू जइयो न वहाँ री।
जो कतहूँ कबौं जा निकसै रखियो यह याद कही जु हमारी;
वा मनमोहन की मधुरी मुरली-धुनि तू सुनियो न तहाँ री।११२

यहाँ भी किसी गोपाङ्गना को उसकी सखी द्वारा दिए गए उपदेश में 'मति' की व्यञ्जना है।

(२६) व्याधि—रोग और वियोग आदि से उत्पन्न मन का सन्ताप ही व्याधि है। इसमें प्रस्वेद, कम्प, ताप आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"पलन प्रकट बरुनीन बढ़ि नहिं कपोल ठहराइ ;
ते अँसुवा छतियाँ परैं छनछनाइ छिप जाइ।"११३

वियोगिनी की इस दशा के वर्णन में व्याधि की व्यञ्जना है।

(३०) उन्माद—काम, शोक, और भय आदि से चित्त का भ्रमित होना उन्माद है। इसमें अकारण हंसना, रोना और गाना तथा विचार-शून्य वाक्य कहना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"आके जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली—
मेरी बातें तनक न सुनीं पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है ;
जूही! तू है बिकच-वदना, शान्ति तू ही मुझे दे।"११४(२)

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग में जुही लता के प्रति राधिकाजी के इस वाक्य में उन्माद की व्यञ्जना है।

"नाहिनै नंद को मंदिर ये, वृषभानु को भौन, कहा जकती हौ ;
हौं ही अकेली तहाँ कवि 'देवजू' घूँघट कै किहिं कौं तकती हौ ?
भेटती मोहि भटू किहिं कारन, कौन-सी धौं छवि सों छकती हौ ;
काह भयो है, कहा कहौ, कैसो हौ, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ ?"
११५ (२०)

श्रीकृष्ण के वियोग में वृषभानुनन्दिनी की इस दशा में 'उन्माद' की व्यञ्जना है।

(३१) मरण—मरण तो प्रसिद्ध ही है। रौद्रादि रसों में नायक

के वीरत्व के लिये शत्रु के मरण का भी वर्णन हो सकता है[1]। शृङ्गार-रस में साक्षात् मरण की व्यञ्जना अमाङ्गलिक होने के कारण मरण के प्रथम की अवस्था (अर्थात् वियोग-शृङ्गार में शरीर-त्याग करने की चेष्टा) का ही वर्णन किया जाता है[2]। अथवा मरण का वर्णन ऐसे ढंग से किया जाना चाहिये, जिससे शोक उत्पन्न न हो[3]। उदाहरण—

मलयानिल ! यह सुना गया है तेरी गति रुकती न कहीं ;
प्राण-पखेरू उड़ा, साथ ले चल राधा को शीघ्र वहीं।
सब सखियों से कह देना बस सविनय यही वियोग-कथा ;
जीवतेश के धाम गई वह सह न अधिक मधु-विरह-व्यथा। ११६

यहाँ मलय-मारुत के प्रति विरहिणी राधिकाजी के इस कथन में मरण की प्रथम अवस्था के वर्णन में मरण की व्यञ्जना है।

"पूछत हौं पछिताने कहा फिरि पीछे ते पावक ही को पिलौगे ;
काल की हाल में बूड़ति बाल विलोकि हलाहल ही को हिलौगे।
लीजिए ज्याय सुधा-मधु प्याय कै न्याय नहीं विष-गोली गिलौगे ;
पंचनि[4] पंच मिले परपंच में वाहि मिले तुम काहि मिलौगे।" ११७

यहाँ भी मरण की पूर्वावस्था के वर्णन में मरण भाव की व्यञ्जना है।

१ 'किन्तु नायकवीर्यार्थं शत्रो मरणमुच्यते।'—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु।

२ शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्'—दशरूपक ४। २१।

३ 'मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यं येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते।'—नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, पृष्ठ ३०८।

४ पञ्चभूतों में पञ्चभूत मिल जाने के बाद अर्थात् प्राणान्त हो जाने के बाद।

वह भागीरथी-सरजू-जल-संगम-तीरथ में तन त्यागन सौं,
झट देवन की गिनती में गिनाय स-मोद सिधाय विमानन सौं।
तहँ पूरब रूपहु सों अधिकी रमनी सँग मंजु विहारन सौं;
बन-नंदन में करिबे जु विलास लग्यो नृप पुन्य प्रभावन सौं।
११८

इसमें साक्षात् मरण की व्यञ्जना होने पर भी महाकवि कालिदासने रघुवंश में महाराजा अज के स्वर्ग गमन का शृङ्गार-मिश्रित वर्णन ऐसे ढङ्ग से किया है कि जिससे शोक का आभास भी नहीं होता है।

(३२) त्रास— वज्र-निर्घात, उल्का-पात आदि उत्पातों से और अपने से प्रबल का अपराध करने पर उत्पन्न चित्त की व्यग्रता त्रास है। 'त्रास' सञ्चारी और 'भय' स्थायी में यह भेद है[1] कि त्रास में सहसा कम्प होता है, किन्तु भय पूर्वापर के विचार से उत्पन्न होता है।

उदाहरण—

"चहुँ ओर मरोर सौं मेह परै घनघोर-घटा घनो छाइ गई सी;
तरराय परी बिजुरी कितहूँ दसहू दिसि मानहु ज्वाल वई सी।
कवि 'ग्वाल' चमंक अचानक की लखतैं ललना मुरझाय गई सी;
थहराइ गई, हहराइ गई, पुलकाय गई, पल न्हाय गई सी।"
११९ (११)

यहाँ वज्रनिर्घात-जन्य त्रास की व्यञ्जना है।

"भागे मीरजादे, पीरजादे औ अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै;
भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं परैं,
गोलन पै गोल सूर सहमि सकाय कै।

---

१ 'गात्रोत्कम्पो मनः कम्पः सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथक् भवेत्'—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु।

भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि, वेगि—
बिलत बितुंड पै बिराजि बिलखाय कै;
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि चलैं,
भागि मृग महिष बराह बिलखाय कै।"
१२० (३५)

यहाँ मीरज़ादे आदि के भागने में प्रधानतया त्रास की व्यञ्जना है।

(३३) वितर्क—सन्देह के कारण विचार उत्पन्न होना ही वितर्क है। इसमें भ्रू-भङ्ग, शिरःकम्प और उँगली उठाना आदि चेष्टाओं का वर्णन होता है। उदाहरण—

"कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं ए दई;
कैधौं पिक-चातक, महीप काहू मार डारे,
कैधौं बगपाँत उत अंत गति ह्वै गई।
'आलम' कहै हो आली अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीति विपरीतै विधि ने ठई;
मदन-महीप की दुहाई फिरिवे ते रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई।"
१२१ (३)

यहाँ विरहिणी नायिका के इस कथन में वितर्क की व्यञ्जना है।

किन्तु—

प्रेम-निकुंज में रोके कहा ललिता सखि बंक-विलोकन डारि कै;
कोपित कैधौं विसाखा किए हरि कौं समुझावत मैं न विचारि कै।
सोचत यों वृषभान-लली चिर लौं मग कुंज गली को निहारि कै;
लै कर सों झटकी पटकी भुवि में गल फूल की माल उतारि कै।
१२२

यहाँ राधिकाजी की उत्कण्ठितावस्था में वितर्क की व्यञ्जना होने पर भी चौथे चरण में जो विषाद व्यञ्जित होता है वही प्रधान है, अतः यहाँ वितर्क नहीं।

एक मत यह भी है कि वितर्क निर्णयान्त होता है, अर्थात् अन्त में निश्चय हो जाता है[1]।

मुख्य सञ्चारी भाव तो उपर्युक्त ये ३३ ही हैं। इनके सिवा और भी चित्तवृत्तियों की अर्थात् मनो भावों की प्रायः व्यञ्जना होती है। जैसे, उद्वेग, मात्सर्य, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा और माधुर्य आदि। किन्तु ये सभी भाव उक्त ३३ भावों के अन्तर्गत मान लिए गए हैं। जैसे, मात्सर्य को असूया में, उद्वेग को त्रास में, दम्भ को अवहित्था में, ईर्ष्या को अमर्ष में, क्षमा को धृति में, उत्कण्ठा को औत्सुक्य में और धार्ष्ट्य को चपलता के अन्तर्गत माना गया है। इनके सिवा स्थायी भाव भी अवस्था विशेष में अपने नियत रस से अन्यत्र सञ्चारी हो जाते हैं। यह आगे स्पष्ट किया जायगा।

स्थायी भाव

जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से सम्बन्ध होने पर रस-रूप में व्यक्त होता है, उस आनन्द के मूल-भूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव नो हैं—(१) रति, (२) हास, (३) शोक,

---

१ 'विनिर्णयान्तएवायंतर्कइत्यूचिरे परैः'—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पृष्ठ २५४।

(४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय और (९) निर्वेद या शम।

सञ्चारी भाव अपने विरोधी[1] या अनुकूल[2] भाव से घटते-बढ़ते एवं उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। किन्तु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, इसीलिये ये 'स्थायी' कहे जाते हैं। सञ्चारी भाव, स्थायी भावों के अनुचर हैं। रसकी परिपक्व अवस्था में ही रति आदि भावों की स्थायी और निर्वेद आदि भावों को सञ्चारी संज्ञा है—रस के बिना ये सभी 'भाव'[3] मात्र हैं। वास्तविक स्थायी भाव के उदाहरण तो रस की परिपक्व अवस्था में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं। किन्तु जहां स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त नहीं होता वहाँ वह भाव तो रहता ही है, पर उसकी स्थायी संज्ञा न रहकर केवल वहाँ वह भाव मात्र रह जाता है। जो उदाहरण नीचे दिये गये हैं, वे रति आदि की भाव अवस्था के ही हैं।

(१) रति—रति का अर्थ है प्रीति, अनुराग या प्रेम। शृङ्गार-रस का रति स्थायी भाव है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्त्री और पुरुष की परस्पर रति ही शृङ्गार-रस में स्थायी मानी जाती है। गुरु, देवता और पुत्रादि में प्रेम होना भी रति है, पर वह रति शृङ्गार-रस का स्थायी नहीं, उसकी केवल भाव संज्ञा है।

रति भाव।

निकसित ही ससि उदधि जिमि धीरज कछुइक छौरि;
गंगाधर देखन लगे बिंबाधर-मुख-गौरि ।१२३॥

---

१ विरोधी भाव दूसरे भाव को इस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार अग्नि को जल।

२ अनुकूल भाव दूसरे भाव को इस प्रकार छिपा या दबा देता है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्य प्रकाश को।

३ भावों की अधिक स्पष्टता आगे भाव प्रकरण में की जाएगी।

यहाँ श्रीशङ्कर द्वारा पार्वतीजी के मुख के सम्मुख कुछ ही सामिलाष निरीक्षण है, और सञ्चारी भावों से इसकी पुष्टि नहीं की गई है, अतः शृङ्गार-रस का परिपाक नहीं हुआ है, केवल रति-भाव है।

"सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिँगारनि कौं,
तजन लगी है कछु वेस बसवारी की;
चखन लगी है कछु चाह 'पद्माकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी की।
सुंदर गुविंद-गुन गुनन लगी है कछु,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की;
पगन लगी है लगि लगन हिए सौं नेकु,
लगनु लगी है कछु पी की प्रानप्यारी की।"
१२४ (२४)

यहाँ नायक में विश्रब्ध नवोढा नायिका की रति, भाव मात्र है, शृङ्गार का परिपाक नहीं हुआ है।

(२) हास—वचन, अङ्ग आदि की विकृतता देखकर चित्त का विकसित होना हास है। उदाहरण—

"यह मैं तोही में लखी भगति अपूरब बाल;
लहि प्रसाद-माला जु भो तन कदंब की माल।"
१२५ (२६)

प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई माला के धारण करने से नायिका के रोमाञ्चित हो जाने पर नायिका के प्रति सखी के इस विनोद में 'हास' भाव की व्यञ्जना है।

"कबहूँ नहिं कान सुने हमने यह कौतुक मंत्र विचार के हैं;
कहि कैसे भए करि कौन दप सिखए कोउ साधु अपार के हैं।

कवि 'ग्वाल' कपोल तिहारे अली ! दुहुँ ओर में बाग बहार के हैं ;
चमकैं ये चुनी-सी चुनी इतमें, उतमें पके दाने अनार के हैं।"
१२६ (११)

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में हास के अङ्कुर-मात्र की व्यञ्जना है। हास का परिपाक नहीं है।

(३) शोक—इष्ट जन एवं विभव के विनाश आदि कारणों से चित्त का व्याकुल होना शोक है। जहाँ स्त्री और पुरुष के पारस्परिक वियोग में जीवित अवस्था का ज्ञान रहते हुए चित्त की व्याकुलता होती है, वहाँ शोक स्थायी भाव नहीं रहता है, किन्तु वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार में सञ्चारी भाव हो जाता है। उदाहरण—

"राम के राज-सिँहासन बैठत आनँद की सरिता उमही है ;
त्यों 'नँदरामजू' राजसिरी सियराम के आनन राजि रही है।
भूषन हार भँडार लुटावत कौसिला कामद बानि गही है ;
कैकई के पछितावं यहै इहिँ औसर औध-भुवाल नहीं है।"
१२७ (२१)

यहाँ श्रीरामराज्याभिषेक के आनन्दोत्सव में दशरथजी के न होने का कैकेई को पश्चाताप होने में शोक उद्बुद्ध मात्र है।

"भौंरन को लैकै दच्छिन समीर धीर,
डोलति है मंद अब तुम धौं कितै रहे ;
कहै कवि 'श्रीपति' हो प्रबल वसंत मति—
मंत मेरे कंत के सहायक जितै रहे।
लागत विरह-जुर जोर तैं पवन ह्वैकै,
परे घूमि भूमि पै सम्हारत नितै रहे ;

रति को विलाप देखि करुनाअगार कछु—
लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चितै रहे।" १२८

कामदेव के भस्म हो जाने पर रति का विलाप सुनकर श्रीशङ्कर के हृदय में करुणा उत्पन्न होने में शोक भाव है। 'कुछ' शब्द अपूर्णता-सूचक है, अतः करुण का परिपाक नहीं हुआ है।

(४) क्रोध—गुरु और बन्धुजनों के वध करने के अपराध आदि से एवं कलह, विवाद आदि से क्रोध उत्पन्न होता है। जहाँ साधारण अपराध के कारण क्रूर वाक्य कहे जाते हैं, वहाँ 'अमर्ष' सञ्चारी भाव होता है। उदाहरण—

भीषम-रन-कौसल निरखि मान न जिय कछु त्रास ;
भृगुनंदन के दृगन में भयौ अरुन आभास। १२६

यहाँ भीष्म जी के साथ युद्ध करते समय, परशुरामजी के नेत्रों में अरुणता के आभास में क्रोध भाव की व्यञ्जना है। रौद्ररसका परिपाक नहीं है।

(५) उत्साह—कार्य करने में आवेश होने को उत्साह कहते हैं। यह धैर्य और शौर्यादि से उत्पन्न होता है। उदाहरण—

भट-हीन मही मिथिलेस कही, सो सुनी सहि क्यों निज वंस लजाऊँ ;
यह जीरन चाप चढ़ाइबौ का, सिसु-छत्रक ज्यों छिन माँहि तुराऊँ।
भुवि-खंड कहा ब्रह्मंड अखंड, उठा कर-कंदुक लौं जु भ्रमाऊँ ;
रघुराज कौ हौं लघु डावरौ हू, प्रभु ! रावरौ जो अनुसासन पाऊँ।
१३०

यहाँ उत्साह भाव की व्यञ्जना है 'रावरौ जो अनुसासन पाऊँ' के कथन से वीर-रस की अभिव्यक्ति में अपूर्णता है।

"तेरी ही निगाह कौं निहारते सुरेश सेस,
गिनती कहा है और नृपति विचारे की ;

को हो तिहुँलोकन में राजा दुरजोधन ! जो,
करतो बिनै ना आन चर्नन तिहारे की;
'बेनी द्विज' रन में पुकारि कहै भीषम यों,
देखतो बहार बीर बानन हमारे को;
छाँह पांडु-दल की ना दिखाती या दुनी में कहूँ,
होती ना पनाह जो पै पीत पटवारे की।"
१३१ (३०)

भीष्म के इन वाक्यों में उत्साह-भाव की व्यञ्जना है। "होती न पनाह जोपै पीत पटवारे की" कथन से वीर रस का परिपाक रुक गया है।

(६) भय—सर्प, सिंह आदि हिंसक प्राणियों को देखने और प्रबल शत्रु आदि के कारण उत्पन्न चित्त की व्याकुलता भय है। उदाहरण—

काली-हृद काली लख्यौ वनमाली ढिंगु आतु;
मंद-मंद गति भीत ज्यों चलन लग्यौ विकलातु।१३२

यहाँ 'भीत ज्यों' के कथन से 'भय' भाव-मात्र की व्यञ्जना है। भयानक रस का परिपाक नहीं।

"निज चित्त में कर सूर्य साक्षी, द्रौपदी ने यों कहा—
अतिरिक्त पतियों के कभी कोई न इस मन में रहा।
भगवान् ! तुम्ह संतुष्ट हो जो जानकर इस मर्म को,
तो दुष्ट कीचक कर न पावै नष्ट मेरे धर्म को।"
१३३ (४४)

सुदेष्णा द्वारा प्रेषित कीचक के समीप जाती हुई द्रौपदी के इन वाक्यों में 'भय'-भाव की व्यञ्जना है, भयानक रस नहीं है।

(७) जुगुप्सा—घृणित वस्तु को देखने आदि से घृणा का उत्पन्न होना जुगुप्सा है। उदाहरण—

सूपनखा को रूप लखि स्रवत रुधिर विकराल,
तिय-सुभाव सिय हठि कछुक मुख फेर्यौ तिहिँ काल।१३४

यहाँ 'कछुक मुख फेर्यौ' के कथन से जुगप्सा भाव की व्यञ्जना है। वीभत्स रस का परिपाक नहीं हुआ है।

(८) बिस्मय—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से आश्चर्य का उत्पन्न होना विस्मय है। उदाहरण—

सुर नर सब सचकित रहे पारथ कौ रन देखि;
पै न गिन्यौ जदुनाथ अति करन-पराक्रम पेखि।१३५

यहाँ अर्जुन के रण-कौशल के विषय में विस्मय भाव-मात्र की व्यञ्जना है। 'पै न गिन्यो' के कथन से अद्‌भुत रस का परिपाक नहीं हो सका है।

(९) शम अथवा निर्वेद—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से विषयों में वैराग्य उत्पन्न होना 'शम' है। उदाहरण—

सबहि सुलभ नित विषय-सुख क्यों तू करतु प्रयास;
दुर्लभ यह नर-तन समुझि करहु न वृथा बिनास।१३६

वैराग्य का उपदेश होने से यहाँ निर्वेद भाव-मात्र है, शान्त रस नहीं है।

जहाँ इष्ट-वियोगादि से उत्पन्न निर्वेद होता है, वहाँ उस निर्वेद की सञ्चारी संज्ञा है। यह पहले कहा जा चुका है।

'रति' आदि भाव शृङ्गार आदि नवों रसों के स्थायी भाव हैं। जैसे, (१) शृङ्गार रस का रति, (२) हास्य का हास, (३) करुण का शोक, (४) रौद्र का क्रोध, (५) वीर का उत्साह, (६) भयानक का भय, (७) बीभत्स का जुगुप्सा, (८) अद्भुत का विस्मय और (९) शान्त रस का निर्वेद। इस प्रकार प्रत्येक रस का एक एक स्थायी भाव नियत है। ये नौ भाव अपने-अपने नियत रस में ही स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि इनकी अपने-अपने रस में ही अन्त तक

(रसानुभव होता रहे तब तक) स्थिति रहती है। यदि अपने नियत रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस में इनमें से कोई भाव उत्पन्न होता है तो वह वहाँ स्थायी न रहकर व्यभिचारी हो जाता है। क्योंकि उसकी स्थिति वहाँ स्थायी रूप में अन्त तक नहीं रहती, किन्तु वहाँ वह उत्पन्न और विलीन होता रहता है। जैसे, 'रति' शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है, वह शृङ्गार-रस में ही अन्त तक स्थित रहता है, किन्तु हास्य, करुण एवं शान्त रस में उत्पन्न और विलीन होता रहने के कारण व्यभिचारी हो जाता है। इसी प्रकार शृङ्गार और वीर रसमें 'हास'; वीर-रस में 'क्रोध'; शान्त और भयानक में 'जुगुप्सा'; रौद्र रस में 'उत्साह'; शृङ्गार-रस में 'भय'; सञ्चारी हो जाता है और 'विस्मय' भाव अद्भुत के सिवा अन्य सभी रसों में सञ्चारी हो जाता है[1]।

जब रति आदि भावों का नियत रस में प्रादुर्भाव होता है, तब ये विभावअनुभावादि द्वारा रस अवस्था को पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में इन स्थायी भावों एवं रसों में कोई भिन्नता नहीं रहती। रसों के जो लक्षण आगे दिखाये जायँगे वे इन स्थायी भावों के लक्षण भी हैं। ऊपर जो रति आदि भावों के उदाहरण दिखाये गए हैं, वे केवल इनकी अपरिपक्व अवस्था के—रस अवस्था को अप्राप्त भाव मात्र के ही हैं।

इस विषय में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब रति आदि भाव भी अपने नियत रस के सिवा अन्य रसों में सञ्चारी (व्यभिचारी) हो जाते हैं, फिर इन रति आदि को ही स्थायित्व का महत्त्व क्यों? निर्वेदादि अन्य सञ्चारी भावों को क्यों नहीं? भरत मुनि कहते हैं—"सभी मनुष्यों

---

१ 'रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः;
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः।'—अलङ्कार-रत्नाकर।
देखो उद्योग-सहित काव्यप्रदीप, आनन्दाश्रम-संस्करण, सन् १६११, पृष्ठ १२३-१२४ और ३८१।

के हाथ-पैर आदि समान होने पर भी कुल, विद्या और शील आदि के कारण कुछ ही मनुष्य राजत्व को प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार विशेष गुणशील होने के कारण—रस अवस्था को प्राप्त करने की सामर्थ्य होने के कारण— रति आदि जो भाव ही स्थायित्व की प्रतिष्ठा के योग्य हैं।"

स्थायी भाव अपने नियत रस से अन्यत्र-दूसरे किसी रस-में व्यभिचारी हो जाने पर भी अपने-अपने रस के स्थायित्व के विशेषाधिकार से च्युत नहीं होते। जैसे किसी विशेष प्रान्त के राजा के अन्यत्र जाने पर वहाँ उसकी शासन-शक्ति न रहने पर भी वह अपने प्रान्त का राजा तो बना रहता ही है।

स्थायी भावों की रस अवस्था

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है[1]। व्यक्त का अर्थ दूसरे रूप में परिणत हो जाना है, जैसे, दूध से दही। इसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जो सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना रूप से पहले से ही स्थित रहते हैं, उनके साथ जब विभावादि का संयोग होता है, तब वे ही रूपान्तरित होकर रस-रूप में व्यक्त होने लगते हैं। मिट्टी के नवीन पात्र में यद्यपि गन्ध पहले से ही विद्यमान रहती है, तथापि प्रतीत नहीं होती, किन्तु जल के संयोग से व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय जनों के हृदय में पूर्वानुभूत (पहले अनुभव किए हुए) रति आदि मनोविकार अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं, किन्तु काव्य के सुनने या पढ़ने से अथवा नाटक के देखने से उन रति आदि मनोविकारों में विभावादि का (शकुन्तला आदि के वर्णन या दृश्य का) संयोग होने से वे रति आदि भाव जाग्रत् हो जाते

१ 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्मृतः'।

—काव्यप्रकाश, ४।२८

है, और आनन्दानुभव होने लगता है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।

रस की अभिव्यक्ति

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को रति आदि स्थायी भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कारण रूप बतलाया गया है, किन्तु इनकी कारण, कार्य और सहकारी कारण के रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीति रस के उद्बोध होने के पूर्व ही होती है—रस के उद्बोध के समय इनकी पृथक्ता प्रतीत नहीं होती। उस समय विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा (जिसकी स्पष्टता आगे की जायगी) ये तीनों समूह-रूप में रस को व्यक्त करते हैं, अतएव उस समय ये तीनों समूह-रूप से कारण[1] हो जाते हैं—अर्थात् रसके आनन्दानुभव के समय ये तीनों अपनी पृथक्ता को छोड़कर, समूह-रूप से मिलकर, स्थायी भाव को, प्रपानक रस की तरह, अखण्ड रस-रूप में परिणत कर देते हैं। जल में डालने के प्रथम चीनी, मिरच, हींग, नमक और जीरे आदि का स्वाद भिन्न-भिन्न रहता है, किन्तु इन सबके मिलने पर उनका वह भिन्नत्व न रहकर जैसे प्रपानक रस (जीरे के जल जैसे पीये जानेवाले पदार्थ) का एक विलक्षण आस्वाद हो जाता है। उसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखण्ड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि विभावादि तीनों के सम्मिलित होने पर ही व्यञ्जनीय रस की व्यञ्जना हो सकती है। केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव स्वतन्त्र रूप से इकले किसी रस की व्यञ्जना नहीं कर सकते। क्योंकि, विभाव आदि स्वतन्त्र रूप से इकले किसी रस के नियत नहीं हैं। जैसे, सिंह आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के

१ कार्यकारणसंचारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येवतेमताः।

कारण होने से, भयानक रस में, आलम्बन विभाव होते हैं, किन्तु वे ही (सिंहादि) वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः वीर और रौद्र रस के भी ये आलम्बन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि प्रिय-वियोग में होते हैं, अतः ये विप्रलम्भ-शृङ्गार के अनुभाव है। भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, अतएव भयानक एवं करुण-रस के भी ये अनुभाव हैं। चिन्ता आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलम्भ-शृङ्गार के सञ्चारी हैं। भय और शोक में भी चिन्ता आदि भाव होते हैं, अतएव भयानक और करुण के भी ये सञ्चारी हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रहकर किसी विशेष रस के व्यञ्जक नहीं हो सकते। किन्तु जो विभाव, अनुभाव और सञ्चारी तीनों समूह रूप में एक साथ जिस विशेष रस में होते हैं, वे ज्यों-के-त्यों मिले हुए किसी भी दूसरे रस में नहीं हो सकते। निष्कर्ष यह कि विभावादि तीनों के समूह से ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इसीसे रस, विभावादि समूहालम्बनात्मक है।

यद्यपि किसी किसी वर्णन में कहीं अनुभाव और सञ्चारी के विना केवल विभाव, कहीं विभाव और सञ्चारी के विना केवल अनुभाव, और कहीं विभाव और अनुभाव के विना केवल संचारी ही दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ भी रस की व्यंजना होती है। इस अवस्था में यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि विभावादि तीनों के सम्मिलित होने से ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? बात यह है कि जहाँ केवल विभाव, या केवल अनुभाव अथवा संचारी ही होते हैं वहाँ भी रस की व्यंजना तो विभावादि तीनों के समूह द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस एक भाव की स्थिति होती है, वह व्यंजनीय रस का असाधारण सम्बन्धी होता है, और वह दूसरे किसी रस की व्यञ्जना नहीं होने देता। और उस एक भाव से अन्य दो भावों का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा

देता है। जैसे—

केवल विभाव के वर्णन का उदाहरण—

नभ में घनघोर ये स्याम घटा अति जोर भरी घहरान लगी,
पिक, चातक, मोरन को धुनिहू चहुँओरन धूम मचान लगी;
मलयानिल सीतल मंद अली! मदनानल कौं धधकान लगी,
निरखै किन पीतम पायँ परे? रहि है कबलौं अब मान-पगी?
१३७

मानिनी नायिका के प्रति सखी के ये वाक्य हैं। यहाँ यद्यपि 'नायिका' आलम्बन-विभाव और 'वर्षा-काल' उद्दीपन विभाव है, अनुभाव तथा संचारी भाव नहीं हैं, पर 'मानिनी नायिका' विप्रलम्भ-शृङ्गार का असाधारण आलम्बन-विभाव है—इसके द्वारा दूसरे किसी रस की व्यंजना नहीं हो सकती। अतः यहाँ केवल आलम्बन और उद्दीपन विभावों के बल से अङ्गों का वैवर्ण्य होना आदि अनुभाव और चिन्ता आदि सञ्चारी भावों की प्रतीति हो जाती है। क्योंकि वर्षाकालिक कामोद्दीपक विभावों द्वारा वियोगावस्था में चिन्ता आदि मनोविकार और विवर्णता आदि चेष्टाओं का होना अवश्यम्भावी है। अतएव विभावादि तीनों के समूह से ही यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल अनुभावों के वर्णन का उदाहरण—

कर-मर्दित मंजु मृनालिनि ज्यों दुति अंगन की मुरझाय रही,
सखियान ही के समुझावन सौं कछु काम में चित्त लगाय रही;
नव-खंडित दंतिन-दंतन-सी[1] त्यों कपोलन पीतता छाय रही,
निकलंक मयंक[2] कला-छवि की समता तनुता तन पाय रही।
१३८

१ तुरत के कटे हुए हाथी के दाँत के समान। २ चन्द्रमा।

कारण होने से, भयानक रस में, आलम्बन विभाव होते हैं, किन्तु वे ही (सिंहादि) वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः वीर और रौद्र रस के भी ये आलम्बन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि प्रिय-वियोग में होते हैं, अतः ये विप्रलम्भ-शृङ्गार के अनुभाव है। भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, अतएव भयानक एवं करुण-रस के भी ये अनुभाव हैं। चिन्ता आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलम्भ-शृङ्गार के सञ्चारी हैं। भय और शोक में भी चिन्ता आदि भाव होते हैं, अतएव भयानक और करुण के भी ये सञ्चारी हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रहकर किसी विशेष रस के व्यञ्जक नहीं हो सकते। किन्तु जो विभाव, अनुभाव और सञ्चारी तीनों समूह रूप में एक साथ जिस विशेष रस में होते हैं, वे ज्यों-के-त्यों मिले हुए किसी भी दूसरे रस में नही हो सकते। निष्कर्ष यह कि विभावादि तीनों के समूह से ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इसीसे रस, विभावादि समूहालम्बनात्मक है।

यद्यपि किसी किसी वर्णन में कहीं अनुभाव और सञ्चारी के विना केवल विभाव, कहीं विभाव और सञ्चारी के विना केवल अनुभाव, और कहीं विभाव और अनुभाव के विना केवल संचारी ही दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ भी रस की व्यंजना होती है। इस अवस्था में यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि विभावादि तीनों के सम्मिलित होने से ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? बात यह है कि जहाँ केवल विभाव, या केवल अनुभाव अथवा संचारी ही होते हैं वहाँ भी रस की व्यंजना तो विभावादि तीनों के समूह द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस एक भाव की स्थिति होती है, वह व्यंजनीय रस का असाधारण सम्बन्धी होता है, और वह दूसरे किसी रस की व्यञ्जना नहीं होने देता। और उस एक भाव से अन्य दो भावों का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा

कारण होने से, भयानक रस में, आलम्बन विभाव होते हैं, किन्तु वे ही (सिंहादि) वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः वीर और रौद्र रस के भी ये आलम्बन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि प्रिय-वियोग में होते हैं, अतः ये विप्रलम्भ-शृङ्गार के अनुभाव हैं। भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, अतएव भयानक एवं करुण-रस के भी ये अनुभाव हैं। चिन्ता आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलम्भ-शृङ्गार के सञ्चारी हैं। भय और शोक में भी चिन्ता आदि भाव होते हैं, अतएव भयानक और करुण के भी ये सञ्चारी हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रहकर किसी विशेष रस के व्यञ्जक नहीं हो सकते। किन्तु जो विभाव, अनुभाव और सञ्चारी तीनों समूह रूप में एक साथ जिस विशेष रस में होते हैं, वे ज्यों-के-त्यों मिले हुए किसी भी दूसरे रस में नहीं हो सकते। निष्कर्ष यह कि विभावादि तीनों के समूह से ही रस की अभिव्यक्ति होती है। इसीसे रस, विभावादि समूहालम्बनात्मक है।

यद्यपि किसी किसी वर्णन में कहीं अनुभाव और सञ्चारी के बिना केवल विभाव, कहीं विभाव और सञ्चारी के बिना केवल अनुभाव, और कहीं विभाव और अनुभाव के बिना केवल संचारी ही दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ भी रस की व्यंजना होती है। इस अवस्था में यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि विभावादि तीनों के सम्मिलित होने से ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? बात यह है कि जहाँ केवल विभाव, या केवल अनुभाव अथवा संचारी ही होते हैं वहाँ भी रस की व्यंजना तो विभावादि तीनों के समूह द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस एक भाव की स्थिति होती है, वह व्यंजनीय रस का असाधारण सम्बन्धी होता है, और वह दूसरे किसी रस की व्यञ्जना नहीं होने देता। और उस एक भाव से अन्य दो भावों का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा

देता है। जैसे—

केवल विभाव के वर्णन का उदाहरण—

नभ में घनघोर ये स्याम घटा अति जोर भरी घहरान लगी,
पिक, चातक, मोरन को धुनिहू चहुँओरन धूम मचान लगी;
मलयानिल सीतल मंद अली! मदनानल कौं धधकान लगी,
निरखै किन पीतम पायँ परे? रहि है कबलौं अब मान-पगी?
१३७

मानिनी नायिका के प्रति सखी के ये वाक्य हैं। यहाँ यद्यपि 'नायिका' आलम्बन-विभाव और 'वर्षा-काल' उद्दीपन विभाव है, अनुभाव तथा संचारी भाव नहीं हैं, पर 'मानिनी नायिका' विप्रलम्भ-शृङ्गार का असाधारण आलम्बन-विभाव है—इसके द्वारा दूसरे किसी रस की व्यंजना नहीं हो सकती। अतः यहाँ केवल आलम्बन और उद्दीपन विभावों के बल से अङ्गों का वैवर्ण्य होना आदि अनुभाव और चिन्ता आदि सञ्चारी भावों की प्रतीति हो जाती है। क्योंकि वर्षाकालिक कामोद्दीपक विभावों द्वारा वियोगावस्था में चिन्ता आदि मनोविकार और विवर्णता आदि चेष्टाओं का होना अवश्यम्भावी है। अतएव विभावादि तीनों के समूह से ही यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल अनुभावों के वर्णन का उदाहरण—

कर-मर्दित मंजु मृनालिनि ज्यों दुति अंगन की मुरझाय रही;
सखियान ही के समुझावन सौं कछु काम में चित्त लगाय रही;
नव-खंडित दंतिन-दंतन-सो[1] त्यों कपोलन पीतता छाय रही,
निकलंक मयंक[2] कला-छवि की समता तनुता तन पाय रही।
१३८

---

१ तुरत के कटे हुए हाथी के दाँत के समान। २ चन्द्रमा।

यह मालतीमाधव नाटक में मालती की विरहावस्था का वर्णन है। यहाँ अङ्गों का मुरझाना, अलसित होना, कपोल पीत हो जाना, आदि केवल वियोगावस्था के अनुभाव हैं—आलम्बन, उद्दीपन तथा संचारी भाव नहीं है। उक्त अनुभावों के बल से 'वियोगिनी नायिका' रूप आलम्बन विभाव का और चिन्ता आदि संचारी भावों का आक्षेप हो जाता है। क्योंकि अंगों का मुरझाना आदि चेष्टाएँ (जो कि अनुभाव हैं) वियोग-दशा में चिन्ता आदि से ही उत्पन्न होती हैं। अतएव यहाँ भी विभावादि तीनो के समूह से वियोग शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल व्यभिचारी भावों के वर्णन का उदाहरण—

दूर दिखराए उतकंठ सौं भराए घने,
आवत ही नेरे फेर वैसे सतराए हैं;
बोलैं विकसाए, अरुनाए हैं छुवातु गातु,
खैंचत दुकूल भौंह साथ कुटिलाए हैं।
विनै सौं मनाए तोहू क्यों हू समुहाए नाहिं,
चरन निपात भए आँसुन भराए हैं;
पीतम हतास ह्वै कै जात, फिरि आवत ही,
मानिनी के दृगन अनेक भाव छाए हैं।१३६

मानिनी नायिका को मानमोचन के उपायों से प्रसन्न करने में निराश होकर जाता हुआ नायक जब लौटकर आया, उस समय नायिका के अनेक भाव-गर्भित नेत्रों का यह वर्णन है। मानिनी नायिका को प्रसन्न करने में हतास होकर जाते हुए नायक के दूर रहने तक नायिका के नेत्र इस शङ्का से कि 'वह यहाँ लौट आता है या चला ही जाता है' उत्सुक हुए; उसके लौटकर समीप आने पर इस लज्जा से कि 'यह मेरी उत्सुकता को ताड़ गया' वे टेढ़े बन गये; जब वह सम्भाषण करने लगा, तब उसकी अपूर्व बातें सुनकर हर्ष से वे विकसित अर्थात् प्रफुल्लित दिखाई पड़ने

लगे ; जब वह स्पर्श करने लगा, तब इस अमर्ष से कि 'मुझे प्रसन्न किए बिना ही स्पर्श करना चाहता है' क्रोध से रक्त होगए; जब नायिका क्रुद्ध होकर जाने लगी, तब वह अपने वस्त्र को पकड़ता हुआ उसे देखकर असूया से भौंहों के साथ वे भी टेढ़े होगए; आखिर जब नायक उसके पैरों पर गिर पड़ा, तब इस भाव से कि 'तुम्हारे इन आचरणों से मैं तङ्ग होगई हूँ' नायिका के आंसू गिरने लगे। यहाँ उत्सुकता, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया और प्रसाद केवल व्यभिचारी भाव ही हैं—विभाव अनुभाव नहीं[1] हैं। इन व्यभिचारियों द्वारा ही सम्भोग-शृङ्गार के विभाव, अनुभावों का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् विभाव और अनुभावों की प्रतीति हो जाती है। और इन तीनों के समूह से सम्भोग-शृंगार व्यक्त होता है। श्री भरत मुनि ने भी नाट्य-शास्त्र में यही कहा है।

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से—तीनों के मिश्रण से—रस की निष्पत्ति होती है।

रस का आस्वाद

अच्छा, अब यह प्रश्न होता है कि 'रस' का आस्वाद—आनन्दानुभव किस व्यक्ति को होता है? अर्थात् 'रति' आदि स्थायी भाव (मनोविकार) नायक नायकादि आलम्बनों में उत्पन्न होते हैं और वे (रति आदि) विभावादि तीनों के संयोग से रस रूप हो जाते हैं। अतः रस का आनन्दानुभव भी उन्हीं (नायक नायिकादि) को होता है। सामाजिक जिन पूर्वकालीन दुष्यन्त शकुन्तलादि के चरित्र काव्य में

१ यद्यपि यहाँ 'नायक' आलम्बन-विभाव का वर्णन तो है, पर उसके अपराधी होने के कारण उसे सम्भोग-शृङ्गार का आलम्बन-विभाव नहीं माना जा सकता है।

पढ़ते हैं या नाटक में देखते हैं, उनका न तो कभी सामाजिकों[1] से साक्षात् हुआ है, न वे सामाजिकों के सामने ही रहते हैं, एवं न उनसे सामाजिकों का कुछ सम्बन्ध ही है, ऐसी परिस्थिति में दुष्यन्तादि की रति-जनित रस के अनुभव का आनन्द सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है ? अन्यदीय आनन्द का अनुभव अन्य व्यक्ति को किस प्रकार हो सकता है ? इस विषय पर श्री भरत मुनि के उपर्युक्त सूत्र को आधारभूत मान कर उनके परवर्ती संस्कृत के महान् साहित्याचार्यों ने बहुत गम्भीर विवेचन किया है--विभिन्न आचार्यों ने अपने अपने पृथक् पृथक् मत प्रदर्शित किये है। उनका दिग्दर्शन इस प्रकार है[2]—

(१) भट्ट लोल्लटादि का आरोपवाद—

भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याकार मीमांसक भट्ट लोल्लट आदि का मत है, कि शृङ्गारादि रसों के 'रति' आदि भाव नायकनायिकादि आलम्बन विभावों से और पुष्प-वाटिका आदि उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होते हैं, और आलम्बन विभावों के कटाक्ष एवं भुजाक्षेप (हस्तसंचालनादि) चेष्टात्मक अनुभावों से प्रतीति के योग्य होकर उत्कण्ठादि व्यभिचारी भावों से पुष्ट होते हैं, वह 'रस' है। और वह (रस) यद्यपि मुख्यतया, जिनका काव्य नाटकों में वर्णन या अभिनय किया जाता है उन्हीं दुष्यन्त-शकुन्तलादि में रहता है। अर्थात् उनकी रति आदि का वास्तविक रसानुभव उन्हीं को उपलब्ध है। किन्तु जब पूर्वकालिक व्यक्तियों का काव्य नाटकों में वर्णन या अभिनय किया जाता है, तब

१ काव्य के पाठक और श्रोता तथा नाटक के दर्शक ही सामाजिक कहे जाते हैं।

२ देखिए, नाट्यशास्त्र पर अभिनवगुप्ताचार्य की "अभिनव भारती" व्याख्या पृ० २७४ तथा काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास रस प्रकरण।

दुष्यन्तादि के रूप में नट को तदनुरूप चेष्टा करता हुआ देखकर सामाजिक (नाटक के दर्शक और काव्य के पाठक) नट में दुष्यन्तादि का आरोप[1] कर लेते हैं। अतः उनको (सामाजिकों को) नट में रस की प्रतीति होने लगती है।

(२) श्री शंकुक का अनुमान वाद—

भरत सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार नैय्यायिक श्री शंकुक हैं। भट्ट लोल्लटादि ने जो अपनी पूर्वोक्त व्याख्या में रस की वास्तविक स्थिति अनुकार्यों में (दुष्यन्तादिक में, जिनका काव्य नाटकों में वर्णन या अभिनय किया जाता है) बतलाई है। और उनका (दुष्यन्तादि का) आरोप अनुकर्ता में (अभिनय करने वाले नट में) सामाजिकों द्वारा किये जाने से नट में रस की प्रतीति होना बतलाया है। इस व्याख्या को श्री शंकुक ने युक्तियुक्त नहीं माना, क्योंकि दुष्यन्त आदि में रहने वाले रस का आनन्दानुभव सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है ! जबकि सामाजिक लोग दुष्यन्तादि से भी भिन्न हैं, और उनका अनुकरण वाले नट से भी भिन्न हैं। यदि आरोप करने मात्र से ही रसानुभव होना सम्भव हो तो शृङ्गारादि रसों के नाम सुन लेने एवं अर्थ समझ लेने मात्र से भी रसानुभव होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव श्री शंकुक ने सूत्र की व्याख्या न्याय शास्त्रानुसार यह की है, कि रस की निष्पत्ति विभावादिकों से अनुमाप्य-अनुमापक भाव के सम्बन्ध से होती है, अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव (आलम्बनों की चेष्टाएँ) और व्यभिचारि (औत्सुक्य आदि) ये तीनों रसके अनुमापक (अनुमान कराने वाले) हैं, और रस उनके द्वारा अनुमेय

---

१ किसी वस्तु को वस्तुतः न हुई दूसरी वस्तु मान लेने को आरोप कहते हैं। अर्थात् एक व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति मान लेना, जैसे, नट को दुष्यन्त न होने पर भी दुष्यन्त समझ लेना।

(अनुमान होने वाला) है जैसे धूँआ और अग्नि के अनुमापक अनुमेय (व्याप्य-व्यापक) सम्बन्ध से जहाँ धूँआ होता है, वहाँ अग्नि होने का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ विभाव आदि तीनों होते हैं, वहाँ रस होने का अनुमान अवश्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि रस मुख्यतया तो दुष्यन्तादि में ही रहता है, पर विभावादि द्वारा सामाजिकों को नट में उसका (रस का) अनुमान हो जाता है। अपने इस मत का स्पष्टीकरण श्री शंकुक ने इस प्रकार किया है—

संसार में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—

(१) सम्यक् (यथार्थ) जैसे—देवदत्त को देवदत्त ही समझना।

(२) मिथ्या ज्ञान। जैसे—कोई व्यक्ति पहिले देवदत्त मालूम पड़े बाद में यह जाना जाय कि यह देवदत्त नहीं है।

(३) संशय ज्ञान। जैसे—यह देवदत्त है या नहीं?

(४) सादृश्य ज्ञान। जैसे—किसी व्यक्ति को देवदत्त के जैसा समझना।

इन लोक-प्रसिद्ध चारों प्रकार के ज्ञानों के सिवा एक प्रकार का ज्ञान और भी है, वह है 'चित्र तुरग न्याय' अर्थात् चित्र में लिखे घोड़े को देखकर 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान। यह पूर्वोक्त चारों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है, क्योंकि (१) न तो सम्यक् ज्ञान की तरह चित्र-लिखित घोड़े को देखकर ऐसा कहा जा सकता है कि यह घोड़ा ही है। (२) न मिथ्या ज्ञान की तरह चित्राङ्कित घोड़े को पहिले घोड़ा जानकर, बाद में यह कहा जा सकता है कि 'यह घोड़ा नहीं है' (३) न संशय ज्ञान की तरह—'यह घोड़ा है या नहीं' ऐसा ही कहा जा सकता है और (४) न सादृश्य ज्ञान की तरह "यह घोड़ा जैसा है ऐसा ही कहा जा सकता है। बस इन चारों से विलक्षण इस 'चित्र तुरग' ज्ञान के अनुसार नट को दुष्यन्तादि के वेश में देखकर 'यह दुष्यन्त है' ऐसा समझ लेना। फिर उसमें (नट में) विभावादि तीनों, सामाजिकों के दृष्टि-पथ होने लगते हैं।

क्योंकि नाट्य-कला में शिक्षित नट दुष्यन्तादि के अनुकरण (अभिनय) करने में अत्यन्त अभ्यस्त होता है अतः अभिनय के समय उसे स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि मैं किसी का अनुकरण कर रहा हूँ, उस समय वह अपने को दुष्यन्तादि ही समझने लगता है, और उसकी सारी अवस्थाओं को भी अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास और—

"दृग चौंकत कोए चलैं चहुँधा अँग बारहि बार लगावत तू,
लगि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू,
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार उठावत तू,
हम खोजत जाति ही पांति मरे धनिरे धनि भौंर कहावत तू॥"

इत्यादि काव्य के अनुसन्धान[1] के बल से वह (नट) विभावादि को प्रकट करता है, जिससे नट की चेष्टाएँ कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होतीं। अर्थात् दुष्यन्त आदि के रति आदि भावों का सामाजिकों को अनुमान होने लगता है। यद्यपि वे (सामाजिक) नट में ही दुष्यन्त आदि की रति आदि का अनुमान करते हैं, तथापि काव्य-नाटकों के वस्तु-सौन्दर्य के प्रभाव से उसमें रसनीयता आ जाती है अतः वह रति आदि भाव अन्य अनुमेय से विलक्षण हो जाता है। सामाजिकों को यह ध्यान नहीं रहता कि हम दूसरों की रति आदि का अनुमान कर रहे हैं, अतः अपने में न रहता हुआ भी उनको (समाजिकों को) अपनी वासना से आस्वादित होता हुआ रसानुभव होने लगता है।

(४) भट्ट नायक का भोगवाद।

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता सांख्यमतानुयायी भट्ट नायक श्री शंकुक के मत को भी सन्तोष-प्रद नहीं मानते हैं। क्योंकि उनका कहना है कि अन्य व्यक्ति में उद्भूत होने वाले रस का अन्य व्यक्ति अनुमान

१—कवि के अभीष्ट को तत्साक्षा के समान अनुभव करना।

करके आस्वाद नहीं कर सकता, प्रत्यक्ष ज्ञान से ही रसास्वादन हो सकता है। अर्थात् अन्य के आत्मा में स्थित (दुष्यन्तादि में स्थित शकुन्तला विषयक) रति के आनन्द का अन्य के आत्मा में (अनुकरण करने वाले नटों और सामाजिकों के आत्माओं में) अनुमान करने से रसास्वाद कदापि नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि शकुन्तलादि विषयक दुष्यन्तादि के आत्मा में स्थित रति की प्रतीति सामाजिकों को आत्मगतत्वेन होती है, तो उसमें अनेक दोष हैं। कहाँ वे धर्मात्मा यशस्वी सम्राट् और कहाँ वर्तमान कालीन हम क्षुद्र जीव ? शकुन्तला-विषयक प्रेमका हमारे हृदय में उदय होना एक बार ही महान् पापवृत्ति है। क्योंकि जिसे हम अपना प्रेमपात्र बनाना चाहें उसमें हमारे प्रेम-पात्र होने का औचित्य होना भी परमावश्यक है। केवल स्त्री होना ही पर्याप्त नहीं। स्त्री तो भगिनी आदि भी होती है अतः सामाजिकों के प्रेम के शकुन्तलादि, आलम्बन कदापि नहीं हो सकते। और आलम्बन के बिना रति स्थायी का आविर्भाव होना असम्भव है, फिर रसास्वाद कहाँ ? इस प्रकार अनुमानज्ञानजन्यरसास्वाद की कल्पना निस्सार मानकर भट्ट नायक भरत सूत्र की व्याख्या यह करते हैं—

सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ भोज्य-भोजकभाव-सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति (भोग) है। अर्थात् उनका कहना है कि काव्य की क्रियाएं ही रस के उद्बोध का कारण है। काव्य शब्दात्मक है, शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावना और भोग—

(१) अभिधा द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है।

(२) भावना का व्यापार है साधारणीकरण। इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत 'रति' आदि स्थायीभाव, व्यक्तिगत सम्बन्ध छोड़कर साधारण (सामान्य) रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम का इन दोनों से (दुष्यन्त शकुन्तला से) व्यक्तिगत सम्बन्ध न रह कर सामान्य दाम्पत्य-प्रेम रूपसे प्रतीत होना। इस

'भावना' व्यापार द्वारा 'रति' आदि भाव साधारण हो जाने पर अगम्य होना आदि विरोधी ज्ञान हट जाता है, फल यह होता है कि यह भावना सब बातों को साधारण बना देती है, अतः उसमें किसी व्यक्ति विशेष या देश, काल आदि का सम्बन्ध प्रतीत न होकर रसास्वाद का प्रति-कूलावरण हट जाता है।

(३) भोग व्यापार द्वारा भावना के प्रभाव से अर्थात् अपनापन और परायापन दूर हो जाने पर साधारणीकृत विभावादि से सामाजिकों को निर्बाध रसास्वाद होने लगता है। 'भोग' का अर्थ है—

"सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दसंविद्विश्रान्तीः।" अर्थात् सत्वगुण के उद्रेक[1] से प्रादुर्भूत प्रकाश रूप आनन्द का अनुभव। वह आनन्दानुभव वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य है अर्थात् अन्यसम्बन्धी ज्ञान से रहित होता है अतः लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, बस इसी भोग व्यापार द्वारा, रस का आस्वाद सामाजिकों को होता है।

भट्ट नायक के मत का निष्कर्ष यह है कि काव्य-नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसकी (काव्य-नाटकों में देखे हुए और सुने हुए की) भावना अर्थात् चिन्तन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह अनु-भव नहीं कर पाते कि काव्य नाटकों में जो सुना और देखा जाता है, वह किसी दूसरे से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद

१—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक या प्राधान्य का अर्थ है अपने से भिन्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण, तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का प्रभाव आनन्द का प्रकाश करना है और उस आनन्द का अनुभव 'भोग' है।

सत्त्वगुण के उद्रेक और आत्मचैतन्य से प्रकाशित[1] साधारणीकृत रति आदि स्थायीभावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।

अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य का व्यक्तिवाद

अभिनव गुप्ताचार्य[2] और आचार्य मम्मट, भट्ट नायक के मत को भी युक्तियुक्त नहीं समझते। इनका मत है कि स्थायीभाव और विभावादि में वस्तुतः व्यंग्य-व्यंजक (प्रकाश्य और प्रकाशक) सम्बन्ध है, अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के अलौकिक विभावन व्यापार अर्थात् साधारणीकरण द्वारा सामाजिकों की वासना[3] जाग्रत् हो जाती है, वही रस की अभिव्यक्ति (निष्पत्ति) है।

१—'आत्मचैतन्य से प्रकाशित' कहने का भाव यह है कि आत्मा और अन्तःकरण दो दर्पण रूप हैं। उनमें आत्मारूप दर्पण चैतन्यमय आनन्द-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है और अन्तःकरणरूप दर्पण रजोगुण एवं तमोगुण के आवरण से मलिन रहता है। सत्वोद्रेक से, रजोगुण और तमोगुण दब जाने से, वह (अन्तःकरणरूप दर्पण) भी स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अन्तःकरण रूप दर्पण में जब आत्मचैतन्य आनन्द-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिम्ब या प्रकाश पड़ता है तो वह भी आनन्द स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में अभिमुख वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने से दर्पण का तदाकार हो जाना प्रत्यक्षसिद्ध ही है।

२—देखो नाट्यशास्त्र पर श्री अभिनवगुप्त आचार्य की व्याख्या अभिनव भारती, गायकवाड़ संस्करण, पृ० २७४–२८१ एवं ध्वन्यालोक, निर्णयसागर प्रेस संस्करण, पृ० ६७–७० एवं काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास रस प्रकरण।

३—पहले किसी समय की अपनी रति (प्रेम व्यापार) आदि के आनन्द के अनुभव का अपने अन्तःकरण में जो संस्कार हो जाता है, उसी संस्कार को वासना कहते हैं।

ये महानुभाव भट्ट नायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को तो मानते हैं, किन्तु इनका कहना है कि भावना और भोग को शब्द के व्यापार मानना निर्मूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दों द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही[1]। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यंजना द्वारा व्यंजित होकर ही हो सकती है, अर्थात् ये भी अन्ततः व्यञ्जना पर ही अवलम्बित है[2]। निष्कर्ष यह कि अभिनव-गुप्ताचार्य आदि उनके अनुसार साधारणीकरण भावना का व्यापार नहीं है, किन्तु व्यञ्जना का अलौकिक विभावन व्यापार है। इस विभावन व्यापार के अर्थात् साधारणीकरण के प्रभाव से सहृदय सामाजिक[3] विभावादिकों में—'अयं निजः परो वेति' अर्थात् 'ये मेरे ही हैं' या 'ये दूसरे के हैं' अथवा 'ये मेरे नहीं हैं' या 'ये दूसरे के नहीं हैं' इस प्रकार के किसी विशेष सम्बन्ध का अनुभव नहीं करते। फलतः अपने को और काव्य-नाटकों के दुष्यन्त-शकुन्तलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं, अर्थात् उनको 'मैं दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं रहता, और न यही ज्ञान रहता है कि 'मैं अपने प्रेम-व्यापार का आनन्दानुभव कर रहा हूँ' अर्थात् सामाजिक काव्य-

---

१—'न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्'·····'भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते'—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ७० ।

२—'अंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति ।'····· भोगकृतं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत् (ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ७०)

३—अभिनवगुप्त आचार्य और मम्मट के मतानुसार सहृदय 'सामाजिक' काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो नायक-नायिका की चेष्टा आदि से उनकी पारस्परिक रति आदि का अनुभव करने में दक्ष होते हैं और जिनको तत्काल ही नाटकादि में प्रदर्शित और वर्णित पात्रों की रति आदि का अनुभव हो जाता हो।

नाटकों के विभावों के प्रेम-व्यापार का आनन्दानुभव अभिन्नता से करते हैं। यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को काव्य-नाटकों के दुष्यन्तादि विभावों में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार आदि की प्रतीति होती है तो ऐसा होने में लज्जा और पापाचरण[1] आदि दोष आते हैं, और यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को दुष्यन्तादि के प्रेम-व्यापार का ही आनन्दानुभव होता है तो प्रथम तो साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण अन्यदीय प्रेम व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनन्दानुभव हो ही नहीं सकता, दूसरे अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निन्द्य है और ऐसी दशा में काव्य-नाटकों द्वारा आनन्दानुभव कहाँ? अतएव रस के व्यक्त करने वाले जो विभावादि हैं उनमें जो रस प्रकट करने की शक्ति है वही व्यक्तिगत विशेष सम्बन्ध को हटाकर रसास्वाद करानेवाला साधारणीकरण है। अभिनवगुप्त आचार्य और मम्मट आचार्य का कहना है कि जैसे मिट्टी के नवीन पात्र में गन्ध पहले से ही रहती है पर वह अव्यक्त (अप्रकट) होती है, प्रतीत नहीं होती, किन्तु जल का संयोग होते ही वह तत्काल व्यक्त (प्रकट) हो जाती है, उसी प्रकार समाजिकों के अन्तःकरण में रति आदि की वासना पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है और वह काव्य-नाटकों[2] के विभावादि व्यञ्जकों के संयोग से अभिव्यक्त (जाग्रत् या उत्तेजित) हो जाती है, अर्थात् रति आदि स्थायीभावों के आनन्द का अनुभव होने लगता है, वही रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति है।

१—शकुन्तला आदि सम्मान्य व्यक्तियों के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापाचरण है।

२—काव्य में केवल शब्दों द्वारा और दृश्य काव्य नाटकादि में शब्दों और पात्रों की शारीरिक चेष्टाओं द्वारा।

रस अलौकिक है

दुष्यन्त-शकुन्तलादि आलम्बन विभाव, चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि अनुभाव एवं व्रीड़ा आदि सञ्चारी यद्यपि लौकिक हैं, तथापि काव्यनाटकों के अन्तर्गत होने से उनमें विभावन आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिकों को अलौकिक कहते हैं। जब विभावादि अलौकिक हैं तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना ही चाहिये, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

यदि यह कहा जाय कि शृङ्गारादि रस तो लौकिक ही हैं, तो इस शङ्का का निवारण निम्नलिखित विवेचना से हो जाता है और यह सिद्ध हो जाता है कि रस का चमत्कार वास्तव में अलौकिक ही है।

(१) दुष्यन्त आदि के हृदय में जो शकुन्तला आदि के विषय में वास्तविक रति उत्पन्न हुई, वह साधारण दाम्पत्य रति थी—इसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने के कारण वह लौकिक अवश्य थी। यदि काव्य नाटकों में दुष्यन्त-शकुन्तलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने के कारण (पररहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण) रस-स्वाद के अयोग्य होगी। अतः वास्तव में काव्य-नाटकों में दुष्यन्त-शकुन्तलादि की रति, विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा अपने परायेपन के भेद से रहित होकर—लज्जास्पद न रहकर—रस का आस्वाद कराती है, अतएव रस अलौकिक है।

(२) दुष्यन्त शकुन्तला आदि में जो रति उत्पन्न हुई उसका आनन्द दुष्यन्त-शकुन्तलादि तक ही सीमित था। किन्तु काव्य-नाटकों में विभावादि द्वारा प्रदर्शित रति-स्थायी भाव, जो रस-रूप से व्यक्त होता है, दुष्यन्तादि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोता और द्रष्टाओं के द्वारा

एक ही साथ समान रूप से आस्वादनीय होता है। अतः वह अपरिमित होने के कारण अलौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ या तो ज्ञाप्य[1] होते हैं या कार्यरूप। किन्तु रस को न तो ज्ञाप्य ही कह सकते हैं और न कार्य ही, क्योंकि ज्ञाप्य वही हो सकता है, जो ज्ञापक हेतु के आने पर प्रत्यक्ष हो जाय, जैसे पहिले से विद्यमान 'घट' अपने ज्ञापक-हेतु-दीपक या प्रकाश के आने पर स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु रस पहिले से तो विद्यमान होता नहीं, उसका अनुभव तो तभी होता है, जब विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग होता है, अतः रस ज्ञाप्य नहीं। रसको कार्य भी किस प्रकार कह सकते हैं, प्रत्येक कार्य अपने कारण के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है, जैसे कुम्हार और चाक आदि के नष्ट हो जाने पर भी घट विद्यमान रहता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो रस भी अपने कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर स्थित रहना चाहिए पर वह (रस) अपने कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर उपलब्ध नहीं हो सकता अथवा कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। यदि विभावादिकों को कारण और रस को कार्य माना जाय तो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीत नहीं होनी चाहिये। किन्तु 'रस' और विभादि तो समूहालम्बनात्मक[2] हैं—रस की प्रतीत के समय विभावादि

१—जिस वस्तु का ज्ञान किसी दूसरी वस्तु के द्वारा होता है, उसे ज्ञाप्य कहते हैं। जिसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है, उसे ज्ञापक कहते हैं। जैसे, अन्धेरे में दीपक से घड़े आदि का ज्ञान होने में घड़ा ज्ञाप्य है और दीपक ज्ञापक।

२—अनेक पदार्थों का समूह रूप से एक ही साथ प्रतीत होना समूहालम्बन ज्ञान है। जैसे, घट, पट, लकुटादि बहुत से पदार्थों पर दृष्टि जाने पर वे एक ही साथ समूह-रूप से प्रतीत होते हैं। और जैसे

की प्रतीत भी होती रहती है। अतएव रस को कार्य नहीं कहा जा सकता।

यदि यह शङ्का की जाय कि 'रस' कार्य नहीं है, तो विभावादि 'रस' के कारण क्यों कहे गये हैं? इसका समाधान यह है कि रस की चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति के साथ रस उत्पन्न हुआ-सा और चर्वणा के नष्ट हो जाने पर नष्ट हुआ-सा ज्ञात होता है। वास्तव में चर्वणा की उत्पत्ति ही रस है। लोक-व्यवहार में रस को विभावादि का कार्य कहना केवल उपचार[1] मात्र है।

(४) लौकिक वस्तु की भाँति 'रस' को नित्य भी नहीं कह सकते हैं—नित्य वस्तु असंवेदन[2]-काल में नष्ट नहीं होती, पर रस असंवेदन-काल में नहीं होता। अर्थात् रस की विभावादि के ज्ञान के पूर्व स्थिति नहीं होती। अतएव रस अलौकिक है।

(५) लौकिक पदार्थ भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान होते हैं। रस न तो भविष्य में होने वाला है, और न भूतकालीन ही। यदि ऐसा होता तो उसका साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कल होनेवाली वस्तु का या जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज नहीं हो सकता;

दीपक के प्रकाश में घट-पटादि के साथ दीपक भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार रसास्वाद के समय भी, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव जो स्थायीभाव को व्यक्त (प्रकाश) करते हैं, स्थायीभाव के साथ प्रकाशित होते हैं।

१—किसी वस्तु के धर्म का, किसी विशेष सम्बन्ध के कारण, दूसरी वस्तु में प्रतीत होना उपचार है।

२—ज्ञान के अभावकाल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं होता, उस समय।

और न 'रस' को वर्तमान ही कह सकते, क्योंकि वर्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किन्तु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य।

(६) 'रस' निर्विकल्पक ज्ञान[1] का विषय भी नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान में नाम, रूप, जाति आदि किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध का भान नहीं होता है। किन्तु रस तो विशेष रूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति में शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रस विशेष रूप से विदित होते हैं। 'रस' सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक ज्ञान के विषय, घट-पटादि सभी शब्द द्वारा कहे जा सकते हैं। किन्तु 'रस' शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता। अर्थात्, 'रस-रस' पुकारने से रसानुभव नहीं हो सकता, जब वह विभावादि द्वारा व्यक्त होता है, अर्थात् व्यञ्जना द्वारा व्यञ्जित होता है, तभी आस्वादनीय हो सकता है अन्यथा नहीं। यह भी अलौकिकता है।

(७) रस का ज्ञान परोक्ष नहीं। परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु रस का साक्षात्कार होता है। 'रस' अपरोक्ष भी नहीं है। अपरोक्षपदार्थ का प्रत्यक्ष होना सम्भव है, किन्तु रस कदापि दृष्टिगत नहीं हो सकता। उसकी शब्दार्थ द्वारा केवल व्यञ्जना होती है।

कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, निर्विकल्पक ज्ञान का विषय, सविकल्पक ज्ञान का विषय और परोक्ष-अपरोक्ष आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं उन सभी का रस में अभाव है। प्रश्न यह होता है कि फिर वह है क्या वस्तु! और उसके अस्तित्व का प्रमाण ही क्या है? वस्तुतः रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिये रसास्वाद और 'ब्रह्मानन्द

१—घट-पट आदि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः 'कुछ है' ऐसा प्रतीत होना निर्विकल्पक ज्ञान है।

सहोदर[1]' कहा गया है। जैसे ब्रह्मानन्द का अनुभव विरले योगिराज ही कर सकते हैं उसी प्रकार रस का आस्वादन भी सहृदय जन ही कर सकते हैं[2]। और रस के अस्तित्व में सहृदय काव्य-मर्मज्ञों की चर्वणा अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है। चर्वणा से रस अभिन्न है।

यहाँ यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि आनन्दानुभव को ही 'रस' कहा जाता है तो करुण, बीभत्स और भयानक आदि द्वारा जब प्रत्यक्षतः दुःख, घृणा और भय आदि उत्पन्न होते हैं तब उन्हें रस क्यों माना जाता है? इसका उत्तर यह है कि शोकादि कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार में है—श्रीराम-वनगमनादि लोक में ही दुःख के कारण होते हैं। जब वे काव्य-रचना में निबद्ध हो जाते हैं, या नाटकाभिनय में दिखाए जाते हैं, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभावादि द्वारा उनसे आनन्द ही होता है, लोक में चाहे वे दुःख के ही कारण क्यों न हों। यदि करुण आदि रस दुःखोत्पादक होते तो करुणादि-प्रधान काव्य-नाटकों को कौन सुनता और देखता? पर ऐसे काव्य-नाटकों को भी, शृङ्गारात्मक काव्य-नाटकों के समान, सभी सहर्ष सुनते और देखते हैं। इस विषय में सहृदय जनों का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यद्यपि करुण-प्रधान

१—यहाँ 'ब्रह्मानन्द' से संप्रज्ञात (सविकल्पक) समाधि से तात्पर्य है। क्योंकि उसी में आनन्द और अस्मिता आदि आलम्बन रहते हैं। पातञ्जल सूत्र में कहा है—"वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।"—समाधिपाद, सू० १७। इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावादि आलम्बन रहते हैं अतएव संप्रज्ञात समाधि के आनन्द के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, न कि असम्प्रज्ञात समाधि के समान, क्योंकि वह तो निरालम्ब है।

२—"पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससंततिम्"।

हरिश्चन्द्रादि के चरित्रों द्वारा सामाजिकों के अश्रुपातादि अवश्य होते हैं, किन्तु वे चित्त के द्रवीभूत होने से होते हैं। चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं; आनन्द भी है। अतः आनन्द-जन्य अश्रुपात भी होते हैं[1]। —:x:—

चतुर्थ स्तवक का द्वितीय पुष्प

रसों के नाम, लक्षण और उदाहरण

रस नौ हैं—

(१) शृङ्गार। (२) हास्य। (३) करुण।
(४) रौद्र। (५) वीर। (६) भयानक।
(७) वीभत्स। (८) अद्भुत। (९) शान्त।

कुछ आचार्यों का मत है कि शान्त रस की व्यञ्जना केवल श्रव्य-काव्य में ही हो सकती है, दृश्य-काव्य—नाटकादिकों—में नहीं। किंतु नाट्य-शास्त्र में भरत मुनि ने नाटकादिकों में भी शान्त रस माना है[2]। कुछ साहित्याचार्यों ने उक्त नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, और भक्ति आदि और भी रस माने हैं[3]। पर साहित्य के प्रधानाचार्य भरत

१—"आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात्।
अनिमेषप्रेक्षणतःशीताद्रोगाद्भवेदास्रम्"
—नाट्यशास्त्र गायकवाड़ अध्याय ७। १५१

२—"एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः"—नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण, अ० ६। १०९।

३—रुद्रट ने प्रेयान् रस और महाराजा भोज एवं विश्वनाथ ने वात्सल्य रस माना है। काव्यप्रकाशादि के मतानुसार ये दोनों पुत्रादिविषयक रति भाव के अन्तर्गत हैं और भक्ति-रस, देव विषयक रति भाव के अन्तर्गत है। इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

मुनि इनको स्वतन्त्र रस नहीं मानते। ध्वनिकार, अभिनवगुप्ताचार्य और श्रीमम्मट आदि आचार्यों ने भी नौ ही रस माने हैं। और प्रेयान् आदि रसों को 'भाव' के अन्तर्गत बतलाया है।

(१) श्रृङ्गार-रस

'श्रृङ्गार' शब्द में 'श्रृङ्ग' और 'आर' दो अंश है। श्रृङ्ग का अर्थ कामोद्रेक (काम की वृद्धि) है। 'आर' शब्द 'ऋ' धातु से बना है। ऋ का अर्थ गमन है। गति का अर्थ यहाँ प्राप्ति है। अतः 'श्रृङ्गार' का अर्थ है काम-वृद्धि की प्राप्ति। कामी जनों के हृदय में रति स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त होकर काम की वृद्धि करता है, इसी से इसका नाम श्रृङ्गार है। श्रृङ्गार रस को साहित्याचार्यों ने सर्वोपरि स्थान दिया है[१]।

१—अग्निपुराण में अन्य सभी रसों का श्रृङ्गार से ही प्रादुर्भाव माना है—

'व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगारइति गीयते ;
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।

(अग्निपुराण, अ० ३४६।४,५)

महाराजा भोज ने श्रृङ्गार को ही एक मात्र रस स्वीकार किया है—

श्रृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ;
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ;
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।'

(श्रृङ्गारप्रकाश ६।७)

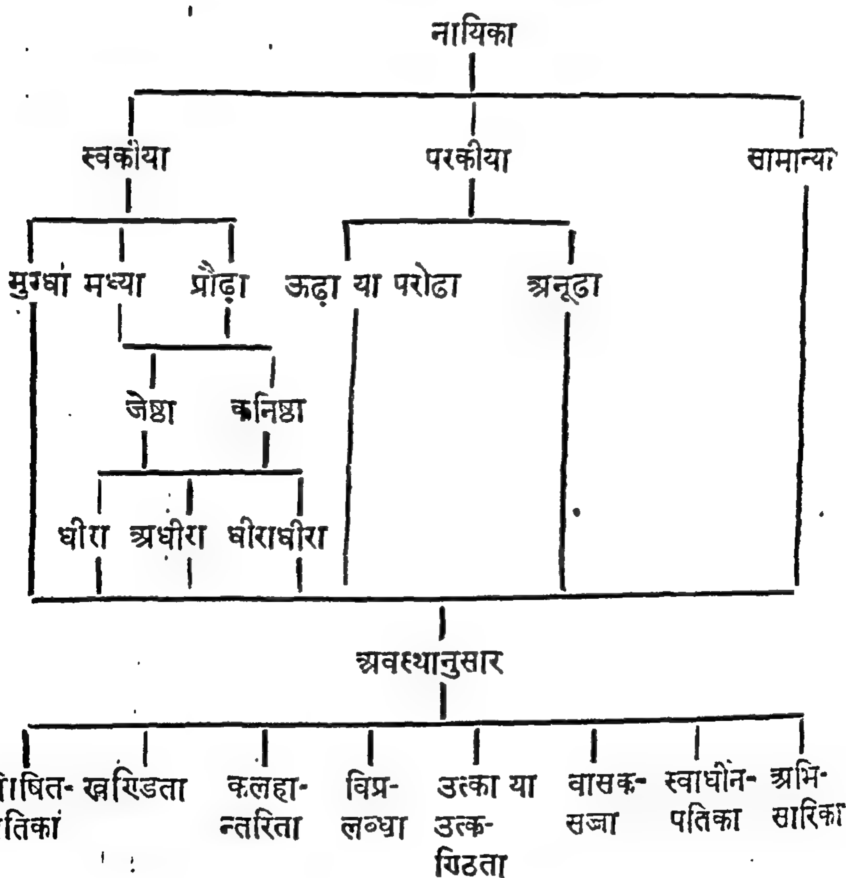
ध्वनिकार ने भी कहा है—

'श्रृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात्सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः' (ध्वन्यालोकवृत्ति, ३।३६ पृष्ट १७६)

शृङ्गार रस के विभावादि

आलम्बन विभाव।

नायिका और नायक। इनके निम्नलिखित भेद हैं।



उपर्युक्त नायिकाओं का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१३) स्वकीया[1] के भेद—

१ मुग्धा[2]

६ मध्या[3]—

३ ज्येष्ठा[4]—धीरा[5], अधीरा[6] और धीराधीरा[7] ।

३ कनिष्ठा[8]—धीरा, अधीरा और धीराधीरा ।

६ प्रौढ़ा[9]—

३ ज्येष्ठा—धीरा[10], अधीरा[11] और धीराधीरा[12] ।

३ कनिष्ठा—धीरा, अधीरा और धीराधीरा ।

(२) परकीया[13] के भेद—ऊढ़ा[14] (या परोढ़ा) और अनूढ़ा[15]

(१) सामान्या[16]

उपर्युक्त प्रत्येक सोलह नायिकाएँ, अवस्था-भेद से, प्रोषितपतिका[17],

---

१ पतिव्रता । २ अङ्कुरितयौवना । ३ जिसमें लज्जा और काम समान हो । ४ जिस पर पति का अधिक प्रेम हो । ५ अन्यासक्त नायक पर सपरिहास वक्रोक्ति द्वारा कोप प्रकट करनेवाली । ६ अन्यासक्त नायक को कठोर वाक्य कहनेवाली । ७ अन्यासक्त नायक के सम्मुख रुदन करके कोप सूचित करनेवाली । ८ जिस पर पति का न्यून प्रेम हो । ९ केलि-कलाप-प्रगल्भा । १० अन्यासक्त नायक का बहिरूप से आदर, किन्तु वास्तव में उदासीन । ११ अन्यासक्त नायक का ताड़न करनेवाली । १२ अन्यासक्त नायक को वक्रोक्ति द्वारा दुःखित करनेवाली । १३ प्रच्छन्न अन्यपुरुष आसक्ता । १४ अन्यपुरुष की विवाहिता । १५ अविवाहिता, पिता आदि के वशीभूत रहने से परकीया है । १६ वेश्या । १७ जिसका नायक प्रवासी हो ।

खण्डिता[१], कलहान्तरिता[२], विप्रलब्धा[३], उत्का[४], वासकसज्जा[५], स्वाधीनपतिका[६] और अभिसारिका[७], आठ प्रकार की होती हैं[८]। अतः इस प्रकार १२८ भेद होते हैं। इन १२८ के प्रकृति के अनुसार तीन तीन भेद—उत्तमा[९], मध्यमा[१०] और अधमा[११] होते हैं। इस प्रकार नायिकाओं के ३८४ भेद हैं।

उपर्युक्त प्रत्येक सोलह नायिकाओं के, अर्थात् तेरह प्रकार की स्वकीया, दो प्रकार की परकीया और एक सामान्या के, स्वभावानुसार

---

१ परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से चिह्नित नायक को देख ईर्ष्या-कलुषित।

२ प्रार्थी नायक का अनादर करके पश्चात्ताप करनेवाली।

३ नियुक्त स्थान पर नायक के न आने से अपमानिता।

४ संकेत करने पर भी नायक के कारण-वश न आने से चिन्तित।

५ नायक का आना निश्चयात्मक जान कर शृङ्गारादि से विभूषित होनेवाली।

६ गुणों से अनुरक्त होकर जिसके नायक आज्ञानुकारी हो।

७ कामार्त होकर नायक के समीप जानेवाली या उसको बुलानेवाली।

८ दो अवस्थाएँ और हैं—प्रवत्स्यत्प्रेयसि (जिसका नायक प्रवास के लिये उद्यत हो) और आगतपतिका (नायक के प्रवास से आने के समय हर्षित होनेवाली)। किन्तु ये अप्रधान हैं।

९ नायक के अन्यासक्त होने पर भी उसकी हितचिन्तका।

१० नायक के हितकारी या अनहितकारी होने पर तदनुसार।

११ सदैव हितकारी नायक के विषय में भी अहितकारिणी।

और भी तीन तीन भेद हैं—अन्यसम्भोग-दुःखिता[१], वक्रोक्तिगर्विता[२] और मानवती[3]।

मुग्धा के भी चार भेद और हैं—ज्ञातयौवना[४], अज्ञातयौवना[५], नवोढ़ा[६] और विश्रब्ध नवोढ़ा[७]।

प्रौढ़ा के क्रियानुसार दो भेद हैं—रतिप्रिया[८] और आनन्द-सम्मोहिता[९]।

नायिकाओं के ये सभी भेद भानुदत्त-कृत 'रसतरङ्गिणी' के अनुसार हैं। साहित्यदर्पण आदि में प्रायः ये ही भेद माने गये हैं।

---

१ अपने नायक के साथ रमण करके आई हुई अन्य नायिका को देखकर दुःखित होने वाली।

२ अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व रखने वाली।

३ अन्यासक्त नायक पर कुपित होने वाली।

४ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान हो।

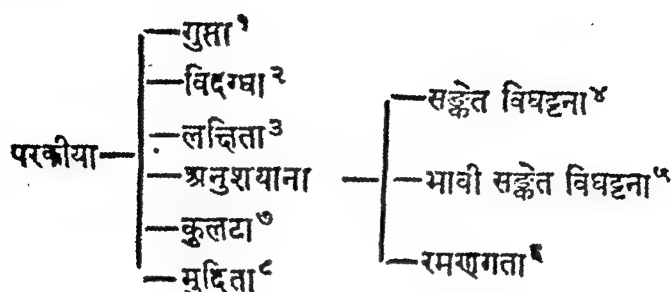
५ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान न हो।

६ लज्जा और भय के कारण जिसकी रति पराधीन हो।

७ नायक के विषय में जिसको कुछ विश्वास हो।

८ सम्भोग में प्रीति रखने वाली।

९ रति आनन्द से सम्मोहित होने वाली।



नायक तीन प्रकार के होते हैं—पति, उपपति[9] और वैशेषिक[10]। पति चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल[11], दक्षिण[12], धृष्ट[13], और शठ[14]। उपपति और वैशेषिक के कोई उपभेद नहीं होते हैं।

---

१ भूत, वर्तमान और भावी प्रेम-व्यापार को छुपानेवाली।

२ वचन और क्रिया के चातुर्य से नायक को सङ्केत करनेवाली।

३ जिसका प्रेम-व्यापार सखियों को प्रकट हो गया हो।

४ सङ्केत स्थान के नष्ट हो जाने से दुखित होने वाली।

५ भावी सङ्केत स्थान के लिये चिन्ता करनेवाली।

६ सङ्केत स्थान पर किसी कारण-वश न पहुँच सकनेवाली।

७ अनेक पुरुषों में आसक्त।

८ मनोवाञ्छित बातें सुनकर हर्षित होनेवाली।

९ अन्य नायिका में अनुरक्त।

१० व्यभिचारी।

११ अपनी पत्नी में सदा अनुरक्त रहनेवाला।

१२ अनेक नायिकाओं में स्वभावतः समान अनुराग रहनेवाला।

१३ अपराध करने पर अत्यन्त तिरस्कृत होकर भी नायिका से विनय करनेवाला।

१४ अपराधी होने पर भी नायिका को ठगने में चतुर।

उद्दीपन विभाव।

नायिका की सखी—इनके कार्य-मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास आदि।

नायक के सहायक सखा—इनके चार भेद हैं—पीठमर्द[1], विट[2], चेट[3] और विदूषक[4]।

दूती—इनके चार भेद हैं। उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयं दूतिका

देश और काल आदि—वन, उपवन, नदीतट, सरोवर, कमनीय केलि-कुञ्ज, षट् ऋतु, चन्द्र, चाँदनी, पुष्प, पराग, भ्रमर और कोकिलादि पक्षियों का गुञ्जार एवं निनाद, मधुर गान, वाद्य सङ्गीत आदि आदि चित्ताकर्षक सुन्दर वस्तुएँ।

अनुभाव।

अनुराग-पूर्ण पारस्परिक अवलोकन, भ्रू-भङ्ग, भुजाक्षेप (हस्त-सञ्चालन), आलिङ्गन, रोमाञ्च, स्वेद और चाटुता आदि असंख्य कायिक, वाचिक एवं मानसिक।

स्त्रियों की यौवनावस्था के निम्नलिखित अनुभाव रूप २८ अलङ्कार मुख्यतया माने गये हैं जिनमें ३ अङ्गज, ७ अयत्नज और १८ स्वभावज हैं।

(१) अङ्गज अलङ्कार—शरीर से सम्बन्ध होने के कारण इनको अङ्गज कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—

१ 'भाव'—निर्विकार चित्त में प्रथम विकार उत्पन्न होना।

२ 'हाव'—भृकुटि तथा नेत्रादि की चेष्टाओं से सम्भोगअभिलाषा-सूचक मनोविकारों का कुछ प्रकट किया जाना।

---

१ कुपित नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करने वाला।

२ कामतन्त्र की कला में निपुण।

३ नायक और नायिका के संयोजन में चतुर।

४ रूपादि की विकृत चेष्टाओं से हास्य उत्पन्न करनेवाला।

३ 'हेला'—उपर्युक्त मनोविकारों का अत्यन्त स्फुट होकर लक्षित होना ।

(२) अयत्नज अलङ्कार—ये कृतिसाध्य न होने के कारण अयत्नज कहे जाते हैं और ये सात प्रकार के होते हैं—

१ 'शोभा'—रूप, यौवन, लालित्यादि से सम्पन्न शरीर की सुन्दरता ।

२ 'कान्ति'—विलास से बढ़ी हुई शोभा ।

३ 'दीप्ति'—अति विस्तीर्ण कान्ति ।

४ 'माधुर्य'—सब दशाओं में रमणीयता होना ।

५ 'प्रगल्भता'—निर्भयता अर्थात् किसी प्रकार की शङ्का का न होना ।

६ 'औदार्य'—सदा विनय भाव ।

७ 'धैर्य'—आत्मश्लाघा से युक्त अचञ्चल मनोवृत्ति ।

(३) स्वभावज अलङ्कार—ये कृतिसाध्य हैं और अठारह प्रकार के होते हैं—

१ 'लीला'—'प्रेमाधिक्य के कारण वेष, अलङ्कार तथा प्रेमालाप द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना ।

२ 'विलास'—प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थिति आदि व्यापारों तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओं की विलक्षणता ।

३ 'विच्छित्ति'—कान्ति को बढ़ानेवाली अल्प वेष रचना ।

४ 'विब्बोक'—अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तुओं का भी अनादर करना ।

५ 'किलकिञ्चित्'—अतिप्रिय वस्तु के मिलने आदि के हर्ष से मन्दहास, अकारण रोदन का आभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध और कुछ श्रमादि के विचित्र सम्मिश्रण का एक ही साथ प्रकट होना ।

६ 'मोट्टायित'—प्रियतम की कथा सुनकर अनुराग उत्पन्न होना।

७ 'कुट्टमित'—केश, स्तन और अधर आदि के ग्रहण करने पर आन्तर्य हर्ष होने पर भी बाहरी घबराहट के साथ शिर और हाथों का परिचालन करना।

८ 'विभ्रम'—प्रियतम के आगमन आदि से उत्पन्न हर्ष और अनुराग आदि के कारण शीघ्रता में भूषणादि का स्थानान्तर पर धारण करना।

९ 'ललित'—अङ्गों को सुकुमारतासे रखना।

१० 'मद'—सौभाग्य और यौवनादि के गर्व के उत्पन्न मनोविकार होना।

११ 'विहृत'—लज्जा के कारण, कहने के समय भी कुछ न कहना।

१२ 'तपन'—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं का होना।

१३ 'मौग्ध्य'—जानी हुई वस्तु को भी प्रिय के आगे अनजान की तरह पूछना।

१४ 'विक्षेप'—प्रिय के निकट भूषणों की अधूरी रचना और बिना कारण इधर-उधर देखना, धीरे से कुछ रहस्यमयी बात कहना।

१५ 'कुतूहल'—रमणीय वस्तु देखने के लिये चञ्चल होना।

१६ 'हसित'—यौवन के उद्गम से अकारण हास्य।

१७ 'चकित'—प्रिय के आगे अकारण डरना या घबराना।

१८ 'केलि'—प्रिय के साथ कामिनी का विहार।

व्यभिचारी।

शृङ्गार-रस में उग्रता, मरण और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य निर्वेदादि सभी।

सम्भोग-शृङ्गार में निर्वेदादि कुछ सञ्चारी भावों का, जो प्रायः दुःख से उत्पन्न होते हैं, होना सम्भव नहीं, परन्तु विप्रलम्भ शृङ्गार में निर्वेद ग्लानि, असूया, चिन्ता, व्याधि, उन्माद, अपस्मार और मोह आदि भावों का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। अतः यह प्रश्न हो सकता है कि शृङ्गार का स्थायी भाव जो 'रति' है उस में करुण के निर्वेदादि भावों का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है? भरत मुनि कहते हैं कि करुण में निर्वेदादि भाव रति-निरपेक्ष होते हैं, अर्थात् पुनर्मिलन की आशा का अभाव रहता है। विप्रलम्भ-शृङ्गार में ये (निर्वेदादि भाव) रति-सापेक्ष होते हैं, अर्थात् इसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। इसलिये इन भावों का शृङ्गार में प्रादुर्भाव होता है। बस करुण और शृङ्गार में उत्पन्न होनेवाले निर्वेदादि कुछ सञ्चारी भावों में यही भेद रहता है।

स्थायी भाव।

रति। रति का अर्थ है—'मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान, अर्थात् नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम।'

शृङ्गार-रस के प्रधान दो भेद हैं—सम्भोग-शृङ्गार और विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार। जहाँ नायक-नायिका का संयोग-अवस्था में प्रेम हो वहाँ संयोग, और जहाँ वियोग अवस्था में पारस्परिक अनुराग हो वहाँ विप्रलम्भ होता है। संयोग का अर्थ नायक नायिका की एकत्र स्थिति मात्र ही नहीं है। क्योंकि समीप रहने पर भी मान आदि की अवस्था में वियोग ही है। अतएव संयोग का अर्थ है संयोग सुख की प्राप्ति और वियोग का अर्थ है संयोग सुख की अप्राप्ति।

सम्भोग-शृङ्गार

नायक-नायिका का पारस्परिक अवलोकन, आलिङ्गन आदि सम्भोग-शृङ्गार के असंख्य भेद हैं। इन सबको सम्भोग-शृङ्गार के अन्तर्गत ही

माना गया है। उपर्युक्त सभी आलम्बन और उद्दीपन विभावों का इसमें वर्णन होता है। सम्भोग-शृङ्गार कहीं नायिका द्वारा आरब्ध और कहीं नायक द्वारा आरब्ध होता है।

नायिका द्वारा आरब्ध सम्भोग-शृङ्गार।

लखि निर्जन भौन उठी परजंक सौं बाल चली सनकै[1] ललचायकै;
छल सौं दृग-मीलित पी-मुखकौं[2] बड़ी देर लौं देखि हिये हुलसायकै।
मुख चुंबन लेत, कपोल लखे पुलके, भइ नम्र-मुखी सकुचायकै;
हँसिके पिय ने तब भामिनि को अधरामृत पान कियौ मनभायकै। १४१

यह नव-वधू के सम्भोग-शृङ्गार का वर्णन है। नायक आलम्बन है, क्योंकि नायक को देखकर नायिका को अनुराग उत्पन्न हुआ है। 'रति' स्थायीभावका आश्रय नायिका है। स्थान का निर्जन (एकान्त) होना और तरुण एवं सुन्दर नायक का चित्ताकर्षक दृश्य उद्दीपन है, क्योंकि यह उस उत्पन्न रति को उद्दीपन करता है। नायक के मुख की ओर देखना, इत्यादि अनुभाव हैं, क्योंकि इनके द्वारा ही नायिका के चित्त में उत्पन्न रति का बोध होता है। "सनकै ललचायकै' में शङ्का के साथ औत्सुक्य, 'मुख को बड़ी देर लौं देखि' में केवल शङ्का और 'नम्रमुखी' में व्रीड़ा व्यभिचारी हैं। इनकी सहायता से शृङ्गार-रस की व्यञ्जना होती है। यहाँ नायिका ने उपक्रम किया है, अतः नायिकारब्ध है।

अति सुंदर केलि के मंदिर मैं परजंक पै पासहु सोय रही;
छबि-यौवन रंग तरंगन सौं सब अंगन माँहि समोय रही।
पिय के अभिलाखन चाखन कौं न समर्थ प्रिया जिय गोय रही;
कछु मीलित से दृग-कोरन सौं पिय के मुख ओरन जोय रही। १४२

---

१ धीरे से। २ नींद के बहाने से आँखें मीचे हुए प्रियतम के मुख को।

यहाँ नायक आलम्बन है। एकान्त स्थान और नायक का मनोहारी दृश्य उद्दीपन है। अधमिची आँखों से देखना अनुभाव और व्रीड़ा, औत्सुक्य आदि सञ्चारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी की शृङ्गार-रस में व्यञ्जना होती है।

नायक द्वारा आरब्ध संयोग-शृङ्गार।

कंचुकी के बिन ही मृगलोचनि! सोहत तू अति ही मनभावन;
प्रीतम यों कहिकै हँसिकै अपने करतैं लगे बंध छुटावन।
सस्मित बंक-विलोकन कै ढिँग देखि अलीन लगी सकुचावन;
लै मिस झूठी बना बतियाँ सखियाँ सनकै जु लगीं उठि धावन।
१४३

यहाँ नायिका आलम्बन है। उसकी अङ्ग-शोभा उद्दीपन है। कञ्चुकी के खोलने की चेष्टा अनुभाव और उत्कण्ठा आदि व्यभिचारी हैं। नायक ने उपक्रम किया है, अतः नायकारब्ध है।

कहीं-कहीं रतिभाव की स्थिति होने पर भी शृङ्गार रस नहीं होता है। जैसे—

"मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय;
जा तन की झाँईं परै स्याम हरित दुति होय।"१४४।२६

"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न;
वंदौ सीता-राम-पद जिनहिँ परम प्रिय खिन्न।"१४५।१७

इन दोहों में श्री राधिकाजी और श्रीकृष्ण का, तथा श्री सीताजी और श्रीरघुनाथजी का परस्पर पूर्णतया प्रेममय होना व्यञ्जित होता है, अर्थात् यहाँ 'रति' की स्थिति है। अप्पय्य दीक्षित[1] आदि ने ऐसे वर्णनों में शृङ्गार-रस ही माना है। पण्डितराज जगन्नाथ का इस विषय में मतभेद

१—देखो चित्रमीमांसा, पृष्ठ २८। और हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, पृ० ७१।

है। उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन में बहुत मार्मिक विवेचन किया है। पण्डितराज के अनुसार राधा और श्रीकृष्ण एवं सीता और श्रीराम के इस पारस्परिक प्रेम-वर्णन में, रति प्रधान नहीं है, किन्तु 'मेरी भव-बाधा हरो' आदि द्वारा युगल मूर्ति की वन्दना करना कवि को अभीष्ट है। अतः यहाँ देव-विषयक रति भाव प्रधान है[1]। अतएव ऐसे वर्णनों में भाव ही समझना चाहिए, न कि शृङ्गार रस। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे भावप्रकरण में किया जायगा।

विप्रलम्भ-शृङ्गार

इसमें आलम्बन और उद्दीपन विभाव तो सम्भोग शृङ्गार के समान ही होते हैं, किन्तु व्यभिचारि भाव शङ्का, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रबोध, चिन्ता, असूया, निर्वेद और स्वप्न आदि होते हैं। सन्ताप, निद्रा-भङ्ग, कृशता, प्रताप आदि अनुभाव होते हैं। इसके निम्नलिखित भेद होते हैं—

विप्रलम्भ-शृङ्गार
- अभिलाषा-हेतुक
- ईर्ष्या-हेतुक
- विरह-हेतुक
- प्रवास-हेतुक
- शाप-हेतुक

— दश काम-दशा
- अभिलाषा
- चिन्ता
- स्मृति
- गुण कथन
- उद्वेग
- प्रलाप
- उन्माद
- व्याधि
- जड़ता
- मृति

---

१ रस गङ्गाधर पृ० ३४।

यहाँ नायक आलम्बन है। एकान्त स्थान और नायक का मनोहारी दृश्य उद्दीपन है। अधमिची आँखों से देखना अनुभाव और व्रीड़ा, औत्सुक्य आदि सञ्चारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी की शृङ्गार-रस में व्यञ्जना होती है।

नायक द्वारा आरब्ध संयोग-शृङ्गार।

कंचुकी के विन ही मृगलोचनि ! सोहत तू अति ही मनभावन;
प्रीतम यों कहिकै हँसिकै अपने करतैं लगे बंध छुटावन।
सस्मित बंक-विलोकन कै ढिँग देखि अलीन लगी सकुचावन;
लै मिस झूठी वना वतियाँ सखियाँ सनकै जु लगीं उठि धावन।
१४३

यहाँ नायिका आलम्बन है। उसकी अङ्ग-शोभा उद्दीपन है। कञ्चुकी के खोलने की चेष्टा अनुभाव और उत्कण्ठा आदि व्यभिचारी हैं। नायक ने उपक्रम किया है, अतः नायकारब्ध है।

कहीं-कहीं रतिभाव की स्थिति होने पर भी शृङ्गार रस नहीं होता है। जैसे—

"मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय;
जा तन की झाँईं परै स्याम हरित दुति होय।"१४४।२६

"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न;
वंदौ सीता-राम-पद जिनहिँ परम प्रिय खिन्न।"१४५।१७

इन दोहों में श्री राधिकाजी और श्रीकृष्ण का, तथा श्री सीताजी और श्रीरघुनाथजी का परस्पर पूर्णतया प्रेममय होना व्यञ्जित होता है, अर्थात् यहाँ 'रति' की स्थिति है। अप्पय्य दीक्षित[1] आदि ने ऐसे वर्णनों में शृङ्गार-रस ही माना है। पण्डितराज जगन्नाथ का इस विषय में मतभेद

१—देखो चित्रमीमांसा, पृष्ठ २८। और हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, पृ० ७१।

(१) अभिलाषा-हेतुक वियोग शृङ्गार—[1]

'गुण-श्रवण-जन्य' का उदाहरण—

"जब तें कुमर कान्ह! रावरी कला-निधान
वाके कान परी कछु सुजस कहानी-सी;
तब ही सौं 'देव' देखो देवता-सी हँसत-सी,
खीजत-सी रीझत-सी रूसत रिसानी-सी;
छोही-सी छली-सी छीन लीनी-सी छली-सी छीन।
जकी-सी टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी;
विधि-सी विंधी-सी विप-चूड़त विमोहित-सी,
बैठी वह बकत विलोकत विकानी-सी।"१४६।२०

यहाँ श्रीकृष्ण के गुण-श्रवण-जन्य पूर्वानुराग है। श्रीकृष्ण आलम्बन, गुण-श्रवण उद्दीपन, 'हँसत-सी', 'खीजत-सी' इत्यादि अनुभाव, उत्कण्ठा, चिन्ता और व्याधि आदि सञ्चारी हैं।

'चित्र-दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"हौं ही भुलानी कै भूल्यौ सबै कोई भूल को मंत्र समूल सिख्यौ सो;
भोजन-पान भुलान्यो सबै सुख स्वैबो सवाद विषाद विख्यौ सो।
चित्र भई हौं विचित्र चरित्र न चित्त चुभ्यो अवरेख रिख्यौ सो।
चित्र लिख्यौ हरि-मित्र लख्यौ तब तें सिगरो ब्रज चित्र लिख्यौ सो।"
१४७।२०

यहाँ चित्र दर्शन जन्य अभिलाषा से उत्पन्न वियोग-दशा का वर्णन है।

'स्वप्न-दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

---

१ सौन्दर्यादि गुणों के सुनने से, स्वप्न में अथवा प्रत्यक्ष दर्शन से, एवं चित्र दर्शन से, परस्पर में अनुरक्त नायक और नायिका का मिलने के पहिले का अनुराग—पूर्वानुराग अथवा अप्राप्त समागम के कारण मिलने की उत्कट इच्छा।

"भेटत ही सपने में भटू चख चंचल चारु अरे के अरे रहे ;
त्यों हँसिकैं अधरानहु पै अधरानहु वे जु धरे के धरे रहे।
चौंकी नवीन चकी उझकी मुख सेद के बूँद ढरे के ढरे रहे ;
हाय खुलीं पलकैं पल में ! हिय के अभिलाष भरे के भरे रहे।"१४८

'प्रत्यक्षदर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"करत बतकही अनुज सन मन सिय-रूप लुभान ;
मुख-सरोज-मकरंद-छबि करत मधुप इव पान।"१४९।१७

यहाँ श्रीरघुनाथजी को जानकीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न अभिलाषा है।

"आनि कह्यो इहिं गैल भटू महिमंडल में अलबेलो न और है ;
देखत रीझि रही सिगरी सुख-माधुरी कोहू कछू नहिं छोर है।
'बेनीप्रबीन' बड़े-बड़े लोचन बाँकी चितौन चलाकी को जोर है ;
साँची कहैं ब्रज की जुवती यह नंदलड़ैतो बड़ो चितचोर है।"
१५०।३१

"आज लौं देख्यो न कान सुन्यो कहुँ औचकै आवत गैल निहारो ;
त्यों 'लछिराम' न जानि परयो हमैं आँखिन बीच बस्योकै अखारो।
मूरति माधुरी स्याम घटा तन पीत-पटी छन जोति को चारो ;
हास की फाँसुरी डारि गरे मन लै गयो या बन बाँसुरीवारो।"
१५१।४६

यहाँ भी प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य अभिलाषा है।

(२) ईर्ष्या-हेतुक वियोग [1]।

---

१ मान के कारण वियोग। इसके दो भेद हैं—प्रणयमान (अकारण कुपित नायक या नायिका का मान), और ईर्ष्यामान (अन्य नायिका-सक्त नायक पर कुपित नायिका के मान के कारण वियोग)। ईर्ष्यामान के भी दो भेद हैं—प्रत्यक्ष दर्शन से (नायक को अन्यासक्त प्रत्यक्ष देखने से), और अनुमान से या सुनने से।

ईर्ष्या-हेतुक प्रणय-मान का उदाहरण—

"बोलौ हँसौ बिहँसौ न बिलोकौ, तू मौन भई यह कौन सयान है;
चूक परी सो बताय न दीजिए दीजिए आपुन को हमें आन है।
प्रानप्रिया! बिन कारन ही यह रूसिबो 'बेनी प्रवीन' अयान है;
द्वै निरमूल बिलोकिए राधिके अंबर-बेल औ रावरो मान है।"
१५२।३१

यहाँ राधिकाजी का प्रणयमान है।

याही लता-गृह में सिय को तुम मारग नाथ! रहे हे बिलोकत;
खेलत राज-मरालन सौं सरिता-तट ताहि बिलंब भयो तित।
आवत ही कछु दुर्मन से तुमकौं लखिकै वह व्याकुल ह्वै चित;
कोमल-कंजकली सम मंजु सु अंजुलि जोरि प्रनाम कियो इत।
१५३

सीताजी का त्याग करने के पश्चात् श्रीरघुनाथजी जब शम्बूक का वध करके दण्डकारण्य से लौट रहे थे, उस समय वनवासिनी वसन्ती की श्रीरघुनाथजी के प्रति यह उक्ति है। धनञ्जय ने अपने दस रूपक में एवं हेमचन्द्राचार्य ने अपने काव्यानुशासन में इस पद्य में प्रणय-मान वियोग माना है, किन्तु हमारे विचार में यहाँ प्रणयमान की अपेक्षा स्मृति की व्यञ्जना प्रधान है, अतः 'स्मृति' भाव है—न कि प्रणयमान।

ईर्ष्या-मान का उदाहरण—

"ठाढ़े इतै कहुँ मोहन मोहिनी, आई तितै ललिता दरसानी;
हेरि तिरीछे तिया-तन माधव, माधवै हेरि तिया मुसकानी।
यौं 'नँदरामजू' भामिनी के उर आइगो मान लगालगी जानी;
रूठि रही इमि देखिके नैन कछू कहि बैन वहू सतरानी।"
१५४।२१

इसमें प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य ईर्ष्या मान है।

"सुरँग महावर सौंत-पग निरखि रही अनखाय;
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय।" १५५।२६

यहाँ सपत्नि के प्रेम-व्यापार के चिन्हों के अनुमान से उत्पन्न मान है। वह 'उद्वेग दशा' का वर्णन है।

जहाँ अनुनय के प्रथम अर्थात् मान छुटाने का अवसर आने तक मान नहीं ठहर सकता है, वहां ईर्ष्या-हेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं होता है, केवल सम्भोग-सञ्चारी भाव मात्र होता है। जैसे—

टेढ़ी करौं भृकुटीन तऊ दृग ये उतकंठ भरे बनि जावतु ;
मौन गहौं रु चहौं रिस पै जरिजानो अरी ! मुखहू मुसकावतु।
चित्त करौं हौं कठोर तऊ पुलकावलि अंगन में उठि आवतु ;
कैसे बनै सजनी पिय सौं अब तू ही बता फिर मान निभावतु।
१५६

यह मान करने की शिक्षा देने वाली सखी को मान करने में सफल न होनेवाली नायिका की उक्ति में सम्भोग-सञ्चारी भाव है।

(३) विरह-हेतुक वियोग[1]।

"कूजत कुंज में कोकिल त्यों मतवारे मलिंद घने अटके हैं ;
सेवै सदा गुरु लोगिनि की चलजूह चवाइन के फंदके हैं।
ए सनभावरी में 'लछिराम' भरे रंग लालच में लटके हैं ;
या कुलकानि-जहाज चढ़े ब्रजराज बिलोकिबे में खटके हैं।"
१५७।४६

यहां गुरुजन आदि की लज्जा के कारण वियोग है।

"देखैं बनैं न देखिबो अनदेखैं अकुलाहिं ;
इन दुखिया अंखियान कौं सुख सिरज्योई नाहिं।"१५७

(४) प्रवास-हेतुक वियोग[2]

---

१ समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा के कारण समागम का न होना।

२ नायक या नायिका में से एक का विदेश में होना। यह तीन प्रकार का होता है—भूत, भविष्यत् और वर्तमान।

भविष्यत् प्रवास—

"ऐसेहु वचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान ;
तौ प्रभु-विषम-वियोग-दुख सहिहैं पामर प्रान।"१५६।१७

श्रीरघुनाथजी की भावी वन-यात्रा के समय श्रीजानकीजी की वियोग व्यथा का वर्णन है।

"जिन जाउ पिया ! यों कहौं तुमसों तो तुम्हैं बतियाँ यह दागती हैं ;
इहाँ चंदन में घनसार मिले सु सबैं सखियाँ तन पागती हैं।
कवि 'ग्वाल' उहाँ कहाँ कंज बिछे औ न मालती मंजुल जागती हैं ;
तजिके तहखाने चले तो सही पै सुनी मग में लुवैं लागती हैं।"
१६०।११

यहां भी भविष्यत् प्रवास है।

वर्तमान प्रवास—

कंकन ये कर सौं जु चले अँसुवा अँखियान चले ढल हैं ;
धीरज हू हियरे सौं चल्यौ चलिबे चित ह्वै रह्यो विह्वल हैं।
पीतम भौन सौं गौन करैं सब ही यह साथ परे चल हैं ;
प्रान ! तुम्हैं हू तो जाइबो है फिर क्यों यह साथ तजो भल है।
१६१

यह प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की अपने प्राणों के प्रति सोपालम्भ उक्ति है। नायक के प्रवास के लिये उद्यत होने के कारण वर्तमान प्रवास है।

"बामा भामा कामनी कहि बोलो प्रानेस ;
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस।"१६२।२६

यहां भी प्रस्थान के लिये उद्यत नायक के प्रति नायिका के वाक्य में वर्तमान प्रवास है।

भूत-प्रवास—

हे भृंग ! तू भ्रमित ही रहता सदा रे !
गोविंद हैं प्रिय कहाँ ? यह तो बता रे।

देखे निकुंज ? अथवा कह क्यों न, प्यारे !
बंसी लिए कर कहीं यमुना किनारे ?१६३

यह गोपीजनों का विरहोद्गार है। पूर्वोक्त दश काम-दशाओं में यह प्रलाप दशा का वर्णन है।

"सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद सौं छ्वै गए हैं ;
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन ठ्वै गए हैं।
मनमोहन सौं बिछुरे इत ही बन कै न अबै दिन द्वै गए हैं ;
सखि, वे हम वे तुम वेई बनै पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं।"
१६४।२४

श्रीनन्दकुमार के वियोग में ब्रज-युवतियों का यह विरह वर्णन है।

"बरुनीन द्वै नैन झुकैं उझकैं, मनो खंजन मीन के जाले परे ;
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी, अँगुरीन के पौरन छाले परे।
कवि 'ठाकुर' कासौं कहा कहिए, यह प्रीति किए के कसाले परे ;
जिन लालन चाह करी इतनी, तिन्हैं देखिबे के अब लाले परे।"
१६५।१६

"मेरे मनभावन न आए सखी, सावन में
तावन लगी हैं लता लरजि-लरजि कै ;
बूँदैं कभूँ रूदैं कभूँ धारैं हिय फारैं देया !
बीजुरी हू बारैं हारी दरजि-चरजि कै।
'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सौं मिलि,
मोरऊ करत सोर तरजि-तरजि कै ;
गरजि गए जे घन गरजि गए हैं भला,
फिर ये कसाई आए गरजि-गरजि कै।"१६६
११

ये भी प्रवासी प्रिय के वियोग में विरहिणी के विरहोद्गार हैं।

भविष्यत प्रवास—

"ऐसेहु वचन कठोर सुनि जो न हृदय विलगान ;
तौ प्रभु-विषम-वियोग-दुख सहिहैं पामर प्रान ।"१५६।१७

श्रीरघुनाथजी की भावी वन-यात्रा के समय श्रीजानकीजी की वियोग व्यथा का वर्णन है।

"जिन जाउ पिया ! यों कहौं तुमसों तो तुम्हें वतियाँ यह दागती हैं ;
इहाँ चंदन में घनसार मिले सु सवैं सखियाँ तन पागती हैं।
कवि 'ग्वाल' उहाँ कहाँ कंज विछे औ न मालती मंजुल जागती हैं ;
तजिके तहखाने चले तो सही पै सुनी मग में लुवैं लागती हैं।"
१६०।११

यहां भी भविष्यत् प्रवास है।

वर्तमान प्रवास—

कंकन ये कर सौं जु चले अँसुवा अँखियान चले ढल हैं ;
धीरज हू हियरे सौं चल्यौ चलिवे चित ह्वै रह्यो विह्वल हैं।
पीतम भौन सौं गौन करैं सव ही यह साथ परे चल हैं ;
प्रान ! तुम्हें हू तो जाइबो है फिर क्यों यह साथ तजो भल है।
१६१

यह प्रवत्स्यत्पतिका नायिका की अपने प्राणों के प्रति सोपालम्भ उक्ति है। नायक के प्रवास के लिये उद्यत होने के कारण वर्तमान प्रवास है।

"वामा भामा कामनी कहि बोलो प्रानेस ;
प्यारी कहत लजात नहिं पावस चलत विदेस।"१६२।२६

यहां भी प्रस्थान के लिये उद्यत नायक के प्रति नायिका के वाक्य में वर्तमान प्रवास है।

भूत-प्रवास—

हे भृंग ! तू भ्रमित ही रहता सदा रे !
गोविंद हैं प्रिय कहाँ ? यह तो बता रे।

देखे निकुंज ? अथवा कह क्यों न, प्यारे !
बंसी लिए कर कहीं यमुना किनारे ?१६३

यह गोपीजनों का विरहोद्‌गार है। पूर्वोक्त दश काम-दशाओं में यह प्रलाप दशा का वर्णन है।

"सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद सौं छ्वै गए हैं ;
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गए हैं।
मनमोहन सौं बिछुरे इत ही वन कै न अबै दिन द्वै गए हैं ;
सखि, वे हम वे तुम वेई बनै पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं।"
१६४।२४

श्रीनन्दकुमार के वियोग में व्रज-युवतियों का यह विरह वर्णन है।

"बरुनीन ह्वै नैन झुकैं उझकैं, मनो खंजन मीन के जाले परे ;
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी, अँगुरीन के पौरन छाले परे।
कवि 'ठाकुर' कासौं कहा कहिए, यह प्रीति किए के कसाले परे ;
जिन लालन चाह करी इतनी, तिन्हें देखबे के अब लाले परे।"
१६५।१६

"मेरे मनभावन न आए सखी, सावन में
तावन लगी हैं लता लरजि-लरजि कै ;
बूँदें कभूँ रूदें कभूँ धारैं हिय फारैं दैया !
बीजुरी हू वारै हारी बरजि-बरजि कै।
'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सौं मिलि,
मोरहू करत सोर तरजि-तरजि कै ;
गरजि गए जे घन गरजि गए हैं भला,
फिर ये कसाई आए गरजि-गरजि कै।"१६६
११

ये भी प्रवासी प्रिय के वियोग में विरहिणी के विरहोद्‌गार हैं।

"ऊधौ कहौ सूधौ सो सनेस पहिलैं तौ यह,
प्यारे परदेस तैं कबैं धौं पग पारि हैं।
कहै 'रतनाकर' तिहारी परि बातन में
मीडि हम कबलौं करेजौ मन मारि हैं॥
लाइ-लाइ पाती छाती कबलौं सिरै हैं हाय,
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारि हैं।
बैननि उचारि हैं उराहनौ कबैं धौं सबै
स्याम कौ सलोनौ रूप नैननि निहारि हैं॥"१६७
१४

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग में गोपीजनों के विरहोद्गार हैं।

(५) शाप-हेतुक वियोग[1]।

गेरू से मैं लिखकर तुझे मानिनी को शिला पै
जौ लौं चाहौं तव पद-गिरा हा! मुझे भी लिखा मैं।
रोके दृष्टी बढ़कर महा अश्रु-धारा असह्य,
है धाता को अहह! अपना संग यों भी न सह्य।
१६८

यहाँ कुबेर के शाप के कारण यक्ष-दम्पती का वियोग है।

बन कुंजन में अलि-पुंजन की मद-गुंजन मंजु सुनी जब हीं;
बिँधि काम के बान सरक्त भए कुरुनंदन पांडु भुवाल वहीं।
वह पीर-निवारन की जु क्रिया में प्रवीन प्रिया ढिँग मैं हू रहीं;
द्विज-साप के कारन हाय! तऊ करि ओहु सकीं उपचार नहीं।
१६९

यहाँ महाराजा पाण्डु को, महारानी कुन्ती और माद्री के समीप रहने पर भी, शाप के कारण वियोग है।

"प्रीतम लै जल-केलि करै हुती नारद ने लियो आयकै दायौ;
अंग खुले लखि कोप भयो, पति कौं ब्रज कौ तरु भाखि बनायौ॥

१ शाप के कारण वियोग।

यों कवि 'ग्वाल' वरी विरहागनि आकसमात[1] को खेद मैं पायौ ;
नाथ-वियोग कराय अली ! कहौ वा मुनि के कहा हाथ में आयौ ।"
१७०

नारदजी के शाप से नल-कूबर के वृक्ष-रूप हो जाने पर उन दोनों में से एक की पत्नी की यह उक्ति है।

यहाँ यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि कुछ लोग शृङ्गार-रसात्मक काव्य और तत्सम्बन्धी विवेचना में अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं। यह उनका भ्रम है। अमर्यादित शृङ्गार-रस के वर्णन को तो कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ अच्छा नहीं कहता है—इसे सभी प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रन्थों में त्याज्य कहा गया है। किन्तु शृङ्गारात्मक वर्णन-मात्र को ही त्याज्य समझना काव्य के वास्तविक महत्त्व से अनभिज्ञता है। शृङ्गार-रस तो काव्य में सर्व-प्रधान है। इसके विना तो काव्य का तादृश महत्त्व ही नहीं रह सकता। महाभारत, वाल्मीकीय रामायण और श्रीमद्भागवत आदि शान्तरस, करुण रस एवं वैराग्य-भक्ति प्रधान आर्ष-ग्रन्थों में भी शृङ्गार-रस का समावेश है।

(२) हास्य-रस

विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि को देखने से हास्य रस उत्पन्न होता है।

यह दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। हास्य के विषय के देखने मात्र से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है। जो दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, वह परस्थ है[2]।

स्थायी भाव—हास।

---

१ अकस्मात—अचानक।

२ 'आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावे क्षणमात्रतः ;
हसंतमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ॥ —रसगङ्गाधर

आलम्बन—दूसरे के विकृत वेश-भूषा, आकार, निर्लज्जता, रहस्य-गर्भित वाक्य आदि, जिन्हें देख और सुनकर हँसी आ जाय।

उद्दीपन—हास्य-जनक चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—ओष्ठ, नासिका और कपोल का स्फुरण, नेत्रों का मिचना, मुख का विकसित होना, व्यंग्य-गर्भित वाक्यों का कहना, इत्यादि।

सञ्चारी—आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि।

इसके छः भेद होते हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) अवहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित। इन भेदों का आधार केवल हास की न्यूनाधिकता है, और कोई विलक्षणता नहीं है।

स्मित हास्य।

यह चित्रित हैं दस चित्र विचित्र वढ़ी इनसौं छवि भौन की भारी ;
इनमें जगनायक की यह सातवीं साँवरी मूरति कौन की प्यारी।
सखि, तू है सयानी सहेलिन में, इहिँसौं हम पूछत देहु वतारी ;
विकसे-से कपोलन, वाँकी चितौन सिया सखियान की ओर निहारी। १७१

महाराजा जनक के भवन में चित्रित दशावतारों के चित्रों में श्रीरघुनाथजी के चित्र को लक्ष्य करके जानकीजी के प्रति उनकी सखियों की—पहिले तीन चरणों में—व्यंग्योक्ति है। यह व्यंग्योक्ति हास्य का आलम्बन है। सीताजी के कपोलों का विकसित होना, उनका वक्र दृष्टि से देखना अनुभाव और व्रीड़ा सञ्चारी है।

"अति धन लै अहसान कै पारो देत सराह ;
बैद-वधू निज रहसि[1] सौं रही नाह-मुख चाह।" १७२(२९)

यहाँ वैद्य द्वारा पारे की विकृत (अन्यथा) प्रशंसा है। वैद्य के

---

१ वैद्य बधू द्वारा अपने पति के मुख को देखने में यह रहस्य है कि यदि इस पारे में सचमुच इतना गुण है, जितना तम इस रोगी से कह रहे हो, तो फिर तम्हारी यह दशा क्यों !

कथनानुसार पारे में यदि पुरुषत्व लाने का तादृश गुण होता, तो स्वयं वैद्य क्यों पुरुषत्व-हीन रहता। अतएव यही अन्यथा प्रशंसा यहाँ हास्य उत्पन्न करने का कारण होने से आलम्बन है। धन लेकर भी रोगी पर एहसान करना उद्दीपन है। वैद्य वधू द्वारा अपने पति का मुख निरीक्षण करना अनुभाव और स्मृति आदि सञ्चारी है।

हसित हास्य।

रूप अनूप सजे पट भूषन जात चली मद के झकझोरनि;
औचक काँटो चुभ्यो पग में मुख सौं सिसकार कढ़ी बरजोरनि;
सो सुनिकै विट बोल्यो हहा! फिरिहू इमि क्यों न करै चितचोरनि;
चँदमुखी मुख आँचर दै चितई तिरछी बरछी दृग-कोयनि।
१७३

यहाँ विट (वेश्यानुरागी) की रहस्यमयी उक्ति आलम्बन है। नायिका का मुख पर वस्त्र लगाकर बाँके कटाक्ष से उसकी ओर देखना अनुभाव है। हर्ष, आदि सञ्चारी हैं। स्मित से कुछ अधिकता होने के कारण हसित हास्य है।

"गौने के द्यौस सिँगारन कौं 'मतिराम' सहेलिन को गन आयौ;
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखीन हुलास बढ़ायौ[1]।
'पीतम-श्रौन-समीप सदा बजैं' यों कहिकैं पहलैं पहिरायौ;
कामिनि कौंल चलावन को कर ऊँचो कियौ, पै चल्यौ न चलायौ।"
१७४(३६)

यहाँ सखी के 'पीतम-श्रौन समीर सदा बजैं' इस वाक्य में और नायिका द्वारा कमल के फैंकने की चेष्टा में हास्य की व्यञ्जना है।

१ यहाँ मूल पाठ 'प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ' है, पर उसमें 'परिहास' द्वारा हास्य का कथन शब्द द्वारा हो गया है, अतः इसका पाठ 'प्यारी सखीन हुलास बढ़ायौ' इस प्रकार कर दिया गया है।

विकृति आकार-जन्य हास्य ।

"बाल के आनन-चंद लग्यो नख आली विलोकि अनूप प्रभा सी ;
आज न द्वैज है चंदमुखी ! मतिमंद कहा कहैं ए पुरवासी ।
चापुरौ ज्योतिसी जानै कहा अरी ! हौं कहौं जो पढ़ि आइहौं कासी ;
चंद दुहू के दुहूँ इक ठौर है आजु हैं द्वैज औ' पूरनमासी ।"
१७५

यहाँ नायिका के मुख पर नख क्षत देखकर दूसरे चरण में सखी के वाक्य में और तीसरे एवं चौथे चरण में नायिका के वाक्य में हास्य की व्यञ्जना है ।

विकृति वेश-जन्य हास्य ।

काम कलोलन की बतियान में बीति गई रतियाँ उठि प्रात में ;
आपने चीर के धोखे भटू झट प्रीतम को पहिर्‌यो पट गात में ।
ले बनमाल कौं किंकिनी ठौर नितंबन बाँधि लई अरसात में ;
देखि सखीं विकसीं तब बालहु बोलि सकी न कछू सकुचात में ।
१७६

यहाँ नायिका का विपरीत वेश हास्य का विभाव है ।

"केसरि के नीरि भरि राख्यो हौद कंचन को,
बसन बिछाए तापै जोन्ह की तरंग में ;
'सोमनाथ' मोहन किनारे तें उसरि आपु,
आन्यो है हुलास उर होरी की उमंग में ।
आई मनभावनी अनूप कमला-सी बनि
पर्‌यो तहाँ चरन सहेलिन के संग में ;
रँगी सब रंग में निहारि अंग-अंग प्यारो
विकसे कपोल कै रँग्यो है प्रेम-रंग में ।"१७७(५५)

यहाँ केसर-रङ्ग में वस्त्रादि का रँग जाना हास्य का विभाव है ।

"गोपी गुपाल कौं बालिका कै वृषभानु के भौन सुभाइ गईं ;
'उजियारे' बिलोकि-बिलोकि तहाँ हरि, राधिका पास लिवाइ गईं ।
उठि हेली मिलौ या सहेलीसौं यों कहि कंठ सौं कंठलगाइ गईं ।
भरि भेंटत अंक निसंक उन्हें, वे मयंक-मुखी मुसकाइ गईं ।"
१७८(४)

यद्यपि यहाँ 'मुसकाइ गईं' से हास्य का शब्द द्वारा कथन है, पर यह सखियों का मुस्काना है। ऐसी परिस्थिति में सखी जनों को हँसती देखकर राधिकाजी और श्रीकृष्ण को भी हास्य उत्पन्न होना अनिवार्य था। श्रीराधाकृष्ण का हास्य शब्द द्वारा नहीं कहा गया है, वह व्यंग्य है, और उसी में प्रधानतया चमत्कार है। अतः यहाँ पर निष्ट हास्य है।

"सुनिकै विहँग सोर भोर उठी नंदरानी,
अंग-अंग आलस के जोर जमुहानी वह ;
धारी जरतारी सो न सूधी की सँभार रही,
कान्ह कौं विरावत खिलावत सिहानी वह ।
'ग्वाल' लखि पूत की सु हीरा धुकधुकी माँहि,
छवि सब आपुनी अजायब दिखानी वह ;
एक संग ऐसी खिल-खिल करि उठी भोरी,
आँसू आइ गए पै न खिलन रुकानी वह ।"१७९(११)

यहाँ यशोदाजी ने अपने विकृत वेश का प्रतिबिम्ब श्रीकृष्ण के हार की धुकधुकी में देखकर उनके आँसू आ जाने पर भी खिल-खिलाहट न रुकने में अति हसित की व्यञ्जना है।

तुहिनाचल ने अपने कर सौं हर गौरी के लै जब हाथ जुटाए;
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भए अति ही सकुचाए।
'गिरि के कर में बडो सीत अहो' कहि यों वह सात्त्विक भाव छिपाए;
वह संकर[1] संकर[2] ह्वै गिरि के रनवास सौं जो स-रहस्य लखाए।
१८०

१ श्रीमहादेवजी। २ शंकर अर्थात् कल्याणकारक।

जब हिमाचल ने श्रीशङ्कर को पार्वतीजी का पाणिग्रहण कराया, उस समय पार्वतीजी के स्पर्श से श्रीशङ्कर के रोमाञ्चादि हो गए। इन रोमाञ्चादि को छिपाने के लिये श्रीशङ्कर ने कहा कि "हिमाचल के हाथ बड़े शीतल हैं", जिसका अभिप्राय यह था कि उनके रोमाञ्चादि का कारण हिमाचल के हाथों की शीतलता थी। पर वास्तविक रहस्य को अन्तःपुर की स्त्रियाँ समझ गईं, और उनके रहस्य-युक्त देखने में यहाँ हास्य की व्यञ्जना अवश्य है, पर चौथे चरण में जो भक्ति-भाव है, उसका यह हास्य अङ्ग हो गया है, अतः यहाँ देव विषयक रति-मात्र ही है, न कि हास्य।

"सोहै सलोनी सुहाग-भरी सुकुमारि सखीनि समाज मड़ी-सी;
'देवजू' सोवत तें गए लाल महा सुखमा सुखमा उमड़ी-सी।
पीक की लोक कपोल में पीके विलोकि सखीनि हँसी उमड़ी-सी;
सोचन सोहैं न लोचन होत, सकोचन सुन्दरि जात गड़ी-सी।"
१८१(२९)

भवानीविलास में इसे हास्य का उदाहरण दिखाया गया है, पर इसमें प्रधानतया व्रीड़ा-भाव की व्यञ्जना है, हास-भाव उसका पोषक-मात्र है। इसके सिवा यहाँ 'हँसी' शब्द से 'हास' वाच्य भी हो गया है। परन्तु—

"विंध्य के वासी उदासी तपोव्रत-धारी महा बिनु नारी दुखारे;
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-वृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद-मंजुल कंज तिहारे;
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन कौं पग धारे।"
१८२(१७)

यहाँ श्रीराम विषयक भक्ति-भाव की व्यञ्जना होने पर भी वह प्रधान नहीं है। अतः यहाँ हास्य रस ही है।

(३) करुण-रस

बन्धु विनाश, बन्धु वियोग, धर्म के अपघात, द्रव्य-नाश आदि अनिष्ट से करुण-रस उत्पन्न होता है।

स्थायीभाव—शोक।

आलम्बन—विनष्ट बन्धु, पराभव, आदि।

उद्दीपन—प्रिय बन्धु जनों का दाह-कर्म, उनके स्थान, वस्त्र-भूषणादि का दृश्य तथा उनके कार्यों का श्रवण एवं स्मरण आदि।

अनुभाव—दैव-निन्दा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, कम्प, मुख-सूखना, स्तम्भ और प्रलाप आदि।

सञ्चारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, दैन्य, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता आदि।

बन्धु-विनष्ट-जन्य-करुण।

नव पल्लव भी बिछे हुए मृदु तेरे तन को असह्य थे;
वह हाय! चिता धरा हुआ, अब होगा यह सह्य क्यों प्रिये! १८३॥

महारानी इन्दुमति के वियोग में महाराज अज का यह विलाप है। इन्दुमति का मृत शरीर आलम्बन और उनकी चिता उद्दीपन है। कारुणिक क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, चिन्ता, दैन्य आदि सञ्चारी हैं।

"जो भूरि भाग्य भरी विदित थी निरुपमेय सुहागिनी;
हे हृदयवल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी;
है अब उसी मुझ-सी जगत में और कौन अनाथिनी।" १८४(४०)

यह उत्तरा का विलाप है। अभिमन्यु का मृत देह आलम्बन है। उनके वीरत्व आदि गुणों का स्मरण उद्दीपन है। उत्तरा का क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य आदि सञ्चारी हैं।

"काव्य-मनि वारिधि-विपत्ति में बूढ़े सब,
बिन अवलंब गुन-गौरव गह्यो नहीं;

पवन प्रलय की दीप दीपित दह्यो जो देह,
चित्त हू लह्यो जो दुःख कबहूँ चह्यो नहीं।
रतपुर-राज बलवंत के त्रिदिव जात,
सुमन सुसीलन पै जावत सह्यो नहीं;
आज अवनी पै अभिरूपन के आलय मैं,
मालव-मिहिर बिन मालव रह्यो नहीं।"१८५(५३)

महाराज बलवन्तसिंह के परलोक-गमन पर कवि की यह श्रद्धाञ्जलि है। परलोक गमन आलम्बन है, उनके औदार्यादि गुण की स्मृति उद्दीपन है। स्मृति, विषाद आदि सञ्चारी और कवि के ये वाक्य अनुभाव हैं।

"कुंती कृष्ण राज दन कह्यो पै न लह्यो कर्न,
कह्यो जुद्ध-भार सीस काके धर जाऔं मैं;
ताको बल चीन्ह सुत बलिन बलीन होव[1],
दीनन सौं दीन भयो जी न लरजाऔं मैं;
सब जन चेरो होब कौन हितू मेरो घन—
दुःखन को घेरो घूमि कौन घर जाऔं मैं;
कैसे टर जाऔं ज्वलदग्नि जरि जाऔं कैधौं,
कूप परि जाऔं विष खाय मर जाऔं मैं।"१८६(५६)

यह भारत युद्ध में कर्ण के निधन हो जाने पर राजा धृतराष्ट्र का करुण-क्रन्दन है।

बन्धु-वियोग-जन्य करुण।

वनवास-धृता जटा कहाँ? सुत! तेरी रमणीयता कहाँ?
स्मृति भी यह दे रही व्यथा, विधि की है यह हा विडंबना।१८७

---

१ कर्ण के बल पर मेरा पुत्र दुर्योधन सब बलवानों से बलवान् था, पर अब दीनों से भी दीन हो गया। यहाँ 'होब' का अर्थ है—'जो था वह अब।'

श्रीराम बनवास के समय महाराज दशरथ का यह शोकोद्गार है। श्रीरघुनाथजी आलम्बन है। वनवास के समय का प्रस्ताव उद्दीपन है। दैव निन्दा अनुभाव है। विषाद आदि सञ्चारी हैं।

"नव दारुन या अपमान सों तू निहचै दृग-नीरहि ढारत होइगी;
सिसु होन समै पै सिया वन में कहुँ बेहद पीर सों आरत होइगी।
घिरि हाय! अचानक सिंहनि सों किमि बेबस धीरज धारत होइगी;
करिकै सुधि मेरी हिये में चहूँ तब तातहि तात पुकारत होइगी।"
१८८(४८)

सीताजी के त्याग के पश्चात् भगवान् रामचन्द्र का उनके वियोग में यह शोकोद्गार है। सीताजी आलम्बन है। उनके वनवास दुःख का स्मरण उद्दीपन है। यह वाक्य अनुभाव है। स्मृति, चिन्ता आदि संचारी भावों से यहाँ करुण की व्यञ्जना है। इस पद्य में विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा रहती है; यहाँ निर्वासित सीताजी के विषय में पुनर्मिलन की आशा नहीं है।

धन-वैभव-विनाश-जन्य करुण।

"सहस अठ्यासी स्वर्ण-पात्र में जिमातो ऋषि,
युधिष्ठिर और के अधीन अन्न पावै है;
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष वनिता के,
नाटक-सदन बीच वनिता नचावै है।
राजा तू वकासुर हिडम्ब को करैया वध,
पाचक विराट को ह्वै रसोई पकावै है;
माद्री के सुजसधारी दोनों ही सुरूपमनि,
एक अश्व-बीच, एक गोधन चरावै है।"१८९(५६)

कीचक की कुचेष्टाओं से दुखित द्रोपदी का भीमसेन के समक्ष यह कारुणिक क्रन्दन है। राज-भ्रष्ट युधिष्ठिरादि आलम्बन हैं। कीचक की

नीचता उद्दीपन है। द्रौपदी के ये वाक्य अनुभाव हैं। विषाद, चिन्ता और दैन्य आदि संचारी हैं। इनके संयोग से यहाँ करुण की व्यञ्जना है।

"भीषमकौं प्रेरौ कर्न हूँ कौ मुख हेरौ हाय,
सकल सभा की ओर दीन दृग फेरौ मैं;
कहै 'रतनाकर' त्यों अन्ध हूँ के आगैं रोइ,
खोइ दीठि चाहति अनीठहिं निबेरौ मैं;
हारी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहिं दरेरौं मैं;
देखि रजपूती की सफल करतूति अब,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरौं मैं।"१९०(१४)

यहाँ द्रुपद-सुता की उक्ति में करुण-रस की व्यञ्जना है।

कहीं-कहीं शोकस्थायी की स्थिति होने पर भी करुण-रस नहीं होता है, जैसे—

"अंदर ते निकसीं न मंदिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पाँय जाती हैं;
हवा हू न लागती, ते हवा तें बिहाल भईं,
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं;
'भूषन' भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हाय दारी चीर फारी मन झुँझलाती हैं;
ऐसी परी नरम हरम बादशाहन की,
नासपाती खातीं, ते बनासपाती खाती हैं।"१९१(३५)

यहाँ मुगल सम्राटों की रमणियों की दीन-दशा के वर्णन में करुण की व्यञ्जना होने पर भी करुण-रस नहीं। क्योंकि प्रधानतः शिवराज के

वीरत्व की ही प्रशंसा है। अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है, और यवन-रमणियों की कारुणिक दशा का वर्णन उसका अङ्ग हो जाने से सञ्चारी रूप में गौण हैं।

(४) रौद्र रस

शत्रु की चेष्टा, मान-भङ्ग, अपकार, गुरु जनों की निन्दा, आदि से रौद्र रस प्रकट होता है।

स्थायीभाव—क्रोध।

आलम्बन—शत्रु एवं उसके पक्षवाले।

उद्दीपन—शत्रु द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अविक्षेप, कठोर वाक्यों का प्रयोग, आदि।

अनुभाव—नेत्रों की रक्तता, भ्रू-भङ्ग, दाँत और होठों का चबाना, कठोर भाषण, अपने कार्यों की प्रशंसा, शस्त्रों का उठाना, क्रूरता से देखना, आक्षेप, आवेग, गर्जन, ताड़न, रोमाञ्च, कम्प, प्रस्वेद, आदि।

सञ्चारी—मद, उग्रता, अमर्ष, स्मृति आदि चित्त वृत्तियाँ।

यद्यपि 'रौद्र' और 'वीर' में आलम्बन विभाव समान ही होते हैं, किन्तु इनके स्थायी भाव भिन्न-भिन्न होते हैं। रौद्र में 'क्रोध' स्थायी होता है, और वीर में 'उत्साह'। इसके सिवा नेत्र एवं मुख का रक्त होना, कठोर वाक्य कहना, शस्त्र-प्रहार करना, इत्यादि अनुभाव 'रौद्र' में ही होते हैं[1], 'वीर' में नहीं।

पुरारि को प्रचंड यह खंडि कोदंड फेर,
भौंहन मरोरि अब गर्व दिखरावै तू;

---

१ रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः। (साहित्यदर्पण, ३।२३१)

भ्रातु की न बातु मन लातु है निसंक भयो,
कौसिक की कान हूँ न मान बतरावै तू।
देख ! ये कुठार क्रूर कर्म हैं अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जानि इतरावै तू;
छत्रिन पतत्रिन[1] ज्यों काटि की निछत्र मही,
क्योंरे छत्रिबाल, भूलि काल हँकरावै तू ॥१९२

धनुष-भङ्ग के प्रसंग में लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के ये वाक्य हैं। श्रीराम-लक्ष्मण आलम्बन हैं। धनुष-भङ्ग और लक्ष्मणजी द्वारा निश्शङ्क उत्तर दिया जाना उद्दीपन है। परशुरामजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा यहाँ क्रोध स्थायी भाव की रौद्र रस में व्यञ्जना होती है।

भीम कहै प्यारी ! सारी कौरवन नारिन कौं,
रिक्त बेस-भूसा मुक्त-केसा करि डारौंगो।
चंड भुज-दंडन में प्रचंड या गदाकौं लै,
मंडल भ्रमाय सिंहनाद कै प्रचारौंगो।
जंघन के संग ही घमंड करि भंग जंग,
दुष्ट दुरजोधन कौं वेगि ही पछारौंगो;
रक्त सौं रँगे ही उन रक्त भए हाथन सौं,
खुले केस बाँधि तेरी वेनी को सम्हारौंगो ।१९३

द्रौपदी के प्रति (जिसने अपने केशाकर्षण के कारण, जब तक दुर्योधन का विनाश न हो, अपने केशों की वेणी न बाँधने की प्रतिज्ञा की थी) भीमसेन के ये वाक्य हैं। द्रौपदी का शोकाकुल होना आलम्बन, दुर्योधनादि द्वारा अपमान किए जाने का स्मरण उद्दीपन, भीम के ये

१ पक्षियों के समान।

वाक्य अनुभाव और गर्व, स्मृति, उग्रता आदि सञ्चारी भावों द्वारा यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना है।

"श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ[1] से जलने लगे ;
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े' ;
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े।
उस काल मारे क्षोभ[1] के तनु काँपने उनका लगा ;
मानो पवन के ज़ोर से सोता हुआ अजगर जगा।" १९४(४०)

यहाँ अभिमन्यु के वध पर कौरवों का हर्ष प्रकट करना आलम्बन है। श्रीकृष्ण के वाक्य (जिनके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है) उद्दीपन है। अर्जुन के वाक्य अनुभाव है। अमर्ष, उग्रता और गर्व आदि सञ्चारी हैं। इनके द्वारा रौद्र रस की व्यञ्जना है।

"नहिंन ताड़का नारि, मैं न हर-धनुष दारुमय ;
नहिंन राम द्विज दीन, मृग न मारीच कनकमय।
वालि हौं न वनचर वराक, जड़ ताड़ न जानहुँ ;
खर दूषन त्रिसिरा सुबाहु पौरुष न प्रमानहुँ।
पाथोधि हौंन बाँध्यो उपल, सबल सुरासुर-सालकौं ;
रन कुंभकर्न काकुस्थ रे! महाकाल हौं काल कौं।"
१९५(२२)

यहाँ श्रीरघुनाथजी आलम्बन, राक्षसों का विनाश उद्दीपन, कुम्भकर्ण के तर्जन-युक्त ये वाक्य अनुभाव, उग्रता, अमर्ष और गर्व आदि सञ्चारी भावों से रौद्र रस ध्वनित होता है।

"धनु हाथ लिए नृप मान-धनी अवलोकत हो पै कछू न कियो ;
कुरु-जीवन कर्न के आगे 'मुरार' वकार के आपनो वैर लियो।

---

१ मूल पाठ 'क्रोध' है। क्रोध का रौद्र के उदाहरण में यहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाना ठीक न था इसलिये पाठान्तर कर दिया है।

कच- द्रौपदी ऐंचनहार दुसासन को नख तैं जु विदार हियो ;
कत जात कह्यो अति आनँद आज मैं जीवित को रत-उष्ण पियो।"
१९६(३८)

यहाँ मृत दुःशासन आलम्बन, दुर्योधन और कर्ण का समक्ष होना उद्दीपन तथा स्मृति, उग्रता, गर्व और हर्ष आदि सञ्चारी और भीमसेन द्वारा रक्त-पान किया जाना अनुभाव है। किन्तु—

"लंका ते निकसि आए जुत्थन के जुत्थ लखि,
कूद्यो वज्रअंग किटकिटी दै झपट्टिकै ;
सुनि-सुनि गर्वित वचन दुष्ट पुट्टन के,
मुष्ट बाँधि उच्छलत सामने सपट्टिकै।
'ग्वाल' कवि कहै महा मत्ते रत्ते अक्ष करि,
धावै जित्त तित्त परै वज्र सो लपट्टिकै ;
चब्बत अधर फेंकै पब्बत उतंग तुंग,
दब्बत दनुज्ज के दलन हैं दपट्टिकै।"१९७(११)

यहाँ रावण की सेना आलम्बन है। उसके गर्व-पूर्ण वाक्य उद्दीपन हैं। दाँत चबाना, पर्वतों को फेंकना आदि अनुभाव और उग्रता, अमर्ष आदि संचारी हैं, पर रौद्र रस नहीं। यहाँ कवि द्वारा हनुमानजी के वीरत्व का वर्णन है अतः देव-विषयक रति-भाव है। और—

सत्रुन के कुल-काल सुनी, धनु-भंग-धुनी उठि वेगि सिधाए ;
याद कियो पितु के बध कौं, फरकैं अधरा दृग रक्त बनाए।
आगे परे धनु-खण्ड विलोकि, प्रचंड भये भृकुटीन चढ़ाए ;
देखत श्रीरघुनायक कौं भृगुनायक वंदत हौं सिर नाए।१९८॥

इस प्रकार के उदाहरण भी रौद्र रस के नहीं हो सकते हैं। यद्यपि यहाँ क्रोध के आलम्बन श्रीरघुनाथजी हैं, धनुष का भङ्ग होना उद्दीपन है, होठों का फरकना आदि अनुभाव और पितृ-बध की स्मृति,

गर्व, उग्रतादि व्यभिचारी भाव, इत्यादि रौद्र की सभी सामग्री विद्यमान है, पर ये सब मुनि विषयक रति भाव के अङ्ग हो गए हैं—प्रधान नहीं है। यहाँ कवि का अभीष्ट परशुरामजी के प्रभाव के वर्णन द्वारा उनकी वन्दना करने का है, अतः वही प्रधान है। स्थायी भाव 'क्रोध' रति भाव का अङ्ग होकर गौण हो गया है।

(५) वीर रस

वीर-रस का अत्यन्त उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।

स्थायी भाव—उत्साह है[1]।

वीर-रस के चार भेद हैं—(१) दान-वीर, (२) धर्म-वीर, (३) युद्ध-वीर, और (४) दया-वीर। इन सब भेदों का स्थायी भाव तो उत्साह ही है, पर आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और सञ्चारी, पृथक् पृथक् होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि 'वीर' पद का प्रयोग युद्ध-वीर रस में ही होना समुचित है। किन्तु साहित्यदर्पण और रसगङ्गाधर आदि में चारों भेद माने गये हैं।

दान-वीर।

आलम्बन—तीर्थ-स्थान, याचक, पर्व और दान योग्य उत्कृष्ट पदार्थ आदि।

उद्दीपन—अन्य दाताओं के दान, दान पात्र द्वारा की गई प्रशंसा, आदि।

अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार, अपनी दातव्य-शक्ति की प्रशंसा, आदि।

---

१ कार्य के आरम्भ में स्थिरतर संरम्भ अर्थात् शीघ्रता उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति को उत्साह कहते हैं।—'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते'।

सञ्चारी—हर्ष, गर्व, मति आदि।

मुझ कर्ण का करतव्य दृढ़ है माँगने आये जिसे;
निज हाथ से झट काट अपना शीश भी देना उसे।
बस, क्या हुआ फिर अधिक, घर पर आ गया अतिथी घिसे;
हूँ दे रहा कुण्डल तथा तन-त्राण ही अपने इसे।१९९

ब्राह्मण के वेष में आए हुये इन्द्र को अपने कुण्डल और कवच देते हुए कर्ण की अपने निकटस्थ सभ्य जनों के प्रति (जो इस कार्य से विस्मित हो रहे थे) यह उक्ति है। यहाँ इन्द्र आलम्बन, उसके द्वारा की हुई कर्ण के दान की प्रशंसा उद्दीपन, कवच और कुण्डल का दान और उनमें तुच्छ बुद्धि का होना अनुभाव और स्मृति आदि सञ्चारी भावों से दानवीरता व्यक्त होती है।

तृन के परजंक सिला सुचि आसन जाहि परै न बिछावनौ है;
जल निर्झर सीतल पीइबे कौं फल-मूलन को मधु खावनौ है।
बिन माँगे मिलैं ये विभौ वन में, पर एक बड़ौ दुख पावनौ है;
पर के उपकार विना रहिबो वहाँ जीवन व्यर्थ गुमावनौ है।
२००

नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन की उक्ति है। चौथे चरण में दानवीर की व्यञ्जना है।

"देवरु दानव दानी भए तिन जाचक की मनसा प्रतिपाली;
सोई सुजस्स जिहाँन सुहावतु गावतु है 'जनराज' रसाली।
मैं जगदेव पमार प्रसिद्ध सराहति जाहि ससी अँसुमाली;
सीस की मेरे कहा गिनती जिय राजी रहै कलि में जो कँकाली"।
२०१(१५)

कंकाली नाम की एक भाट की स्त्री के प्रति इतिहास-प्रसिद्ध जगदेव

१ कङ्काली-नामक भाटिनी ने जगदेव से भिक्षा में उसका शिर माँगा था। उस भाटिनी के प्रति जगदेव के ये वाक्य हैं।

पमार की यह उक्ति है। यहाँ भी दान के उत्साह की व्यञ्जना है। किन्तु—

पद एकहि सातौं समुद्र सदीप कुलाचल नापि धरा में समायो;
पद दूसरे सौं दिवि-लोक सबै, पद तीसरे कौं न कछू जब पायो।
हरि की स्मित मंद विलोकन पेखि तबै बलि ने हिय मोद बढ़ायो,
तन रोम उठे प्रन राखिबे कौं जब नापिबे कौं निज सीस झुकायो। २०२

यहाँ दान-वीर नहीं, क्योंकि भगवान् वामन आलम्बन, उनका सस्मित देखना उद्दीपन, रोमाञ्चादि अनुभाव एवं हर्षादि संचारी भावों से स्थायी भाव उत्साह की दान-वीर के रूप में व्यंजना होने पर भी यहाँ वक्ता स्वयं बलि राजा नहीं, किन्तु कवि है, और उसे बलि राजा की प्रशंसा करना अभीष्ट है, और उस प्रशंसा का यह उत्साहात्मक वर्णन पोषक है। अतः राज-विषयक रति भाव ही यहाँ प्रधान है—उत्साह उसका अङ्ग-मात्र है। यद्यपि पूर्वोक्त संख्या १६६ के उदाहरण में भी कर्ण की प्रशंसा सूचित होती है, पर वहाँ वक्ता स्वयं कर्ण के वाक्य हैं, कवि द्वारा तो वे वाक्य केवल दोहराए गये हैं—कवि द्वारा प्रशंसा नहीं, अतः वहाँ दान-वीर ही है।

"बकसि बितुंड दए झुंडन-के-झुंड रिपु-
मुंडन की मालिका त्यौं दई त्रिपुरारी कौं;
कहै 'पद्माकर' करोरन के कोष दए,
पोडसहू दीन्हें महादान अधिकारी कौं;
ग्राम दए, धाम दए, अमित अराम दए,
अन्न-जल दीन्हें जगती के जीवधारी कौं;
दाता जयसिंह दोय बात नहीं दीन्ही कहूँ,
बैरिन कौं पीठि और दीठि परनारी कौं।"२०३

"संपति सुमेर की कुबेर की जु पावैं ताहि
तुरत लुटावत विलंब उर धारैं ना ;
कहै 'पद्माकर' सु हेम हय हाथिन के
हलके हजारन के वितर विचारैं ना।
दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथराव,
यह गज धोखे कहूँ काहू देय डारैं ना ;
याही डर गिरिजा गजानन कौ गोय रही,
गिरि ते गरैं तो निज गोद तें उतारैं ना।"२०४
(२४)

इन दोनों कवित्तों में दान-वीर की उत्कट व्यञ्जना है, किन्तु दान का उत्साह, पहले में जयपुराधीश जयसिंह की, और दूसरे में राजा रघुनाथराव की, प्रशंसा का पोषक है। अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, और उत्साह उसका अङ्ग है—दान-वीर नहीं।

धर्म-वीर।

धर्म वीर में महाभारत, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थ आलम्बन; उनमें वर्णित धार्मिक इतिहास और फलस्तुति उद्दीपन; धर्माचरण, धर्म के लिये कष्ट सहन करना, आदि अनुभाव, और धृति, मति आदि सञ्चारी होते हैं।

"और जे टेक धरी मन माँहि न छाँड़ि हौं कोऊ करौ बहुतेरौ;
धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलन फेरौ।
मातु सहोदर औ' सुत नारि जु सत्य बिना तिहिँ होय न वेरौ।
हाथी तुरँगम औ' बसुधा बस जीवहु धर्म के काज है मेरौ।"
२०५ (७)

यहाँ महाराज युधिष्ठिर का धर्म-विषयक दृढ़ उत्साह स्थायी है। गर्व, हर्ष, धृति और मति आदि सञ्चारी एवं ये वाक्य अनुभाव हैं।

"रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं !
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जलकर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी ;
अच्युत ! युधिष्टिर आदि का अब भार है तुम पर सभी।"२०६
(४०)

यहाँ अर्जुन की इस उक्ति में धर्मवीर की व्यञ्जना है।

"श्रीदसरत्थ महीप के बैन को मानि सही मुनि वेष लयो है ;
पै कछु खेद न कीन्हों हिये 'लछिराम' सु बेद-पुरान बयो है।
सातहु दीपन के अवनीप प्रजा प्रतिपाल को रंग रयो है ;
राम गरीब निवाज को भूतल धर्म ही को अवतार भयो है।"
२०७ (४६)

यद्यपि यहाँ पूर्वार्द्ध में धर्म-वीर की व्यञ्जना है, पर उत्तरार्द्ध में भगवान् श्रीरामचन्द्र की धर्म-वीरता की जो प्रशंसा है, वही प्रधान है। अतः देव-विषयक रति-भाव का धर्मवीरत्व अङ्ग हो गया है। 'महेश्वर-विलास' में लछिरामजी ने इसे धर्म-वीर के उदाहरण में लिखा है, पर वास्तव में 'धर्म-वीर' नहीं है।

युद्ध-वीर।

आलम्बन—शत्रु।
उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम आदि।
अनुभाव—गर्व-सूचक वाक्य, रोमाञ्च, आदि।
सञ्चारी—धृति, स्मृति, गर्व तर्क, आदि।

भाखैं रघुनाथ खोल आँखैं सुन लंकाधिप !
देहु वयदेही स्वयं याचत है राम यह ;
मतिभ्रम तेरे कहा, हेरैं क्यों न धर्मनीति ,
बीतिगो कछू न बने सारे धन-धाम यह।

ना तो मम बान चढ़िजायगो कमान तबै,
होयगो प्रतच्छ जैसो निसित निकाम यह ;
चूसि-चूसि रक्त खरदूषन को तृप्त ह्वै न,
ह्वै रह्यो अलक्ष अजौं आर्द्र मुख स्याम यह ।२०८॥

यह रावण के समीप अङ्गद द्वारा भेजा हुआ श्रीरघुनाथजी का सन्देश है। रावण आलम्बन है। जानकी-हरण उद्दीपन है। ये वाक्य अनुभाव हैं। स्मृति, गर्व, आदि सञ्चारी हैं।

"पारथ विचारो पुरुषारथ करैगो कहा,
स्वारथ-सहित परमारथ नसैहौं मैं।
कहैं 'रतनाकर' प्रचार्यौ रन भीषम यों,
आज दुरजोधन कौ दुःख दरि दैहौं मैं।
पंचनि के देखत प्रपंच करि दूर सबै,
पंचन को स्वत्व पंचतत्त्व मैं मिलैहौं मैं ;
हरि-प्रन-हारी जस धारिकै धरौं हौं सांत,
सांतनु कौ सुभट सुपूत कहिवैहौं मैं।"२०९ (१४)

"गंगा राजरानी को सुभट अभिमानी भट,
भारत के बंस मैं न भीषम कहाऊँ मैं ;
जो पै सररेट औ' दपेट रथ पारथ कौ,
लोकालोक परवत कै पार न वहाऊँ मैं।
'मिश्रजू' सुकवि रनधीर वीर भूमैं खरे,
कीन्हीं यह पैज ताहि सबकौं सुनाऊँ मैं ;
कहौ हौं पुकारि ललकारि महाभारत मैं,
आज हरि-हाथ जौ न सस्त्र कौं गहाऊँ मैं।"२१०(३७)

इन दोनों कवित्तों में भीष्मजी की उक्ति है। श्रीकृष्णार्जुन आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण की शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन है। भीष्मजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, स्मृति, धृति आदि सञ्चारी हैं।

"बल के उमंड भुज-दंड मेरे फरकत,
कठिन कोदंड खैंच मेल्यो चहैं कान तैं।
चाउ अति चित्त में चढ्यो ही रहै जुद्ध-हित,
जूटै कब रावन जु बीसहू भुजान तैं;
'ग्वाल' कवि मेरे इन हत्थन को सीघ्रपनो,
देखेंगे दनुज्ज जुत्थ गुत्थित दिसान तैं;
दससत्थ कहा, होय जो पै सो सहस्र लच्छ,
कोटि-कोटि मत्थन कौं काटौं एक बान तैं।"२११(१२)

यह श्रीलक्ष्मणजी की उक्ति है। यहाँ रावण आलम्बन, जानकी हरण उद्दीपन, ये वाक्य अनुभाव और गर्व, अमर्ष औत्सुक्यादि सञ्चारी हैं।

"एहो अवधेस! अब दीजिए निदेस मोहि,
चंद्र माँहि चूरिकै निचोरि सुधा लाऊँ मैं;
जायकै पताल ताल मारि जीति संसजु कौं,
अष्टकुली नागन कौं गनिकै नसाऊँ मैं;
'रामद्विज' मंडि जस मारतंड-मंडल कौं,
प्रबल प्रचंड तेज सीतल बनाऊँ मैं;
खंडि जम-दंड जो न चंड भुजदंडन सौं,
वीर बलवंड पौन-पूत न कहाऊँ मैं।"२१२
(४५)

यहाँ लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर सुषेण वैद्य द्वारा सञ्जीवनी लाने के लिये कहा जाना आलम्बन है। इस कार्य के लिये विचार किया जाना उद्दीपन और हनुमानजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, अमर्ष आदि सञ्चारी हैं। इनके संयोग से यहाँ वीर-रस की व्यञ्जना है।

"मैं सत्य कहता हूँ सखे! सुकुमार मत जानो मुझे;
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा मानो मुझे।

है और की तो बात ही क्या गर्व मैं करता नहीं ;
मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं ।"२१३
(४०)

ये अपने सारथी के प्रति अभिमन्यु के वाक्य हैं। कौरव आलम्बन हैं। उनकी अभेद्य चक्र व्यूह-रचना उद्दीपन है। अभिमन्यु के ये वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं। इनके संयोग से वीर-रस की व्यञ्जना है। किन्तु—

"जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह ,
ता दिन दिगंत लौं दुवन दाटियतु है ;
प्रलै कैसे धाराधर धमकैं नगारा भूरि ,
धारा तैं समुद्रन की धारा पाटियतु है।
'भूषन' भनत भुवगोल कौ कहर तहाँ ,
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है ;
काच-से कचडि जात सेस के असेस फन ,
कमठ की पीठि पै पिठी-सी बाँटियतु है।"२१४(३५)

यहाँ उत्साह की व्यञ्जना होने पर भी कवि द्वारा महाराज शिवराज की प्रशंसा प्रधान है। उत्साह उस प्रशंसा का पोषक होकर यहाँ गौण हो गया है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

"दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यौं हीं ,
तंत्र विन आई मन-जंत्र विजुरीनि पै।
कहै 'रतनाकर' त्यौं कान्ह की कृपा की कानि ,
आनि लसी चातुरी-विहीन आतुरीनि पै ।।
अंग परौ थहरि लहरि दृग रंग परयौ ,
तंग परयौ वसन सुरंग पसुरीन पै।
पंच जन्य चूमन हुमसि होंठ वक्र लाग्यौ ,
चक्र लाग्यौ घूमन उमंगि अंगुरीनि पै ।।"२१५
(१४)

यहाँ द्रोपदी की पुकार सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण के हृदय में उत्साह की उत्कट व्यञ्जना होने पर भी कवि की उक्ति होने के कारण वह (उत्साह) यहाँ भक्तिभाव की व्यञ्जना का अङ्ग मात्र है, अतः वीर रस नहीं।

दया-वीर।

इसमें दयनीय व्यक्ति (दया का पात्र) आलम्बन; उसकी दीन दशा उद्दीपन; दया-पात्र से सांत्वना के वाक्य कहना अनुभाव; और धृति, हर्ष आदि व्यभिचारी होते हैं।

स्रवत रुधिर धमनीन सौं माँसहु मो तन माँहि;
तृपत लखाय न गरुड़ तुहुँ भखत न क्यों अब याहि।२१६

सर्पों की वध्य शिला पर शङ्खचूड़ के बदले में बैठे हुए दयार्द्र जीमूतवाहन के अङ्गों को नोंचकर खाने पर भी उसको (जीमूतवाहन को) प्रफुल्ल-चित्त देखकर चकित गरुड़ के प्रति जीमूतवाहन की यह उक्ति है। यहाँ शङ्खचूड़ आलम्बन है उसको खाने के लिये गरुड़ के उद्यत होने पर उसकी दयनीय दशा उद्दीपन है धृति आदि सञ्चारी और जीमूतवाहन के वाक्य अनुभाव हैं।

"देखत मेरे को जीव हनै सुनि कै धुनि कोस हजार तें धाऊँ;
और को दुःख न देखि सकौं जिहिँ भाँति छुटै तिहिँ भाँति छुटाऊँ।
दीनदयाल है छत्रि को धर्म तहूँ सिवि हौं जग-व्याधि नसाऊँ।
तू जनि सोचै कपोत के पोतक आपनी देह दै तोहि बचाऊँ।"
२१७ (७)

बाज़-रूप इन्द्र से डरे हुए शरणागत कबूतर के प्रति ये शिवि राजा के वाक्य हैं। कबूतर आलम्बन है, कबूतर की दयनीय दशा उद्दीपन है। राजा के वाक्य अनुभाव हैं। धृति, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं।

"हे कपिकंत! विभीषन कौं यहाँ मंत्रिन साथहि वेग बुलाय लै;
हौं सरनागत कों न तजौं प्रन मेरो यही उर में अपनाय लै।

लीन्हों सुकंठ ने बोलि तबै लखि ताहि कह्यो प्रभु ने उर लाय लै ;
लंक-महीप ! असंकित ह्वै दुख-दंद विहाय अनंद बढ़ाय लै ।"
२१८ (५५)

यहाँ रावण द्वारा अपमानित विभीषण आलम्बन है । सुग्रीव द्वारा कहलाए हुए विभीषण के दीन वाक्य उद्दीपन हैं । धृति, स्मृति, आदि सञ्चारी हैं । श्रीरघुनाथजी के वाक्य अनुभाव हैं ।

"हेरि हहराय हाय-हाय कै कहत हरा[1],
सखुरा न सास कौन मेटै दुख-माला कौं ;
थान है मसान ता विकान कौं धरै को आन,
लैहै कौन लाला सिंहछाला गजछाला कौं ।
वृश्चिक भुजंग गोधिकात्मज[2] से भव्य-भव्य,
भूषन भरे हैं कैसें काटि हौं कसाला कौं ।
वाको दुख चीन्हों नाहिँ, चीन्हौं दुख देवन को,
लीन्हौं ह्वाँ अमोल जस पानौ हर[3] हाला[4] कौं ।"२१९
(१०)

यहाँ श्रीपार्वती के वाक्यों से अपने घर की दशा पर ध्यान न देकर देवतों की दीनता पर दया करके विष-पान करने में दया के उत्साह की व्यञ्जना अवश्य है, किन्तु इसमें 'दया-वीर' नहीं है । कवि का अभीष्ट श्रीशङ्कर की स्तुति करना है । अतः ऐसे वर्णनों में देव विषयक रति (भक्ति) भाव ही प्रधान रहता है, और दया का उत्साह उसका पोषक होने से भक्ति का अङ्ग हो जाता है ।

(६) भयानक रस

किसी बलवान् के अपराध करने पर, या भयङ्कर वस्तु के देखने से यह उत्पन्न होता है ।

---

१ श्रीपार्वती । २ गोहिरा । ३ श्रीशङ्कर । ४ ज़हर ।

स्थायी भाव — भय

आलम्बन— व्याघ्र आदि हिंसक जीव, शून्य स्थान, वन, शत्रु आदि।

उद्दीपन — निस्सहाय होना, शत्रु आदि की भयङ्कर चेष्टा, आदि।

अनुभाव—स्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, रोमाञ्च और गद्गद होना, आदि।

सञ्चारी—जुगुप्सा, त्रास, मोह, ग्लानि, दीनता, शङ्का अपस्मार, चिन्ता और आवेग आदि।

"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है;
कुरुराज[1], चिंता-ग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए;
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए।" २२०
(४०)

अर्जुन की प्रतिज्ञा को सुनकर दुर्योधन के प्रति जयद्रथ के ये वाक्य हैं। अभिमन्यु के बध का अपराध और अर्जुन की प्रतिज्ञा आलम्बन और उद्दीपन है। त्रास आदि व्यभिचारी और जयद्रथ का किंकर्तव्य-विमूढ़ होना और गात्र का जलना, अनुभाव हैं। इनके द्वारा यहाँ भयानक रस की व्यञ्जना होती है।

"पवन-वेगमय वाहनवाली गर्जन करती हुई बड़ी,
उसी जगह से घन-माला-सम कौरव-सेना दीख पड़ी।
सूर्योदय होने पर दीपक हो जाता निष्प्रभ जैसे;
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैसे।
बोला तब होकर[2] कातर वह शक्ति भूल अपनी सारी;
देखो-देखो बृहन्नले! यह सेना है कैसी भारी।"
२२१

---

१ मूल पाठ 'भय और' है। भयानक रस के उदाहरण में भय का स्पष्ट कथन होना उपयुक्त न होने के कारण 'कुरुराज' पाठान्तर कर दिया गया है।

२ यहाँ 'भय से' के स्थान पर 'होकर' पाठान्तर कर दिया गया है।

में किस भाँति लड़ूँगा इससे, लौटाओ रथ-अश्व अभी;
सैन्य-सहित जब पिता आयँगे, होगा बस अब युद्ध तभी।
"२२२

बृहन्नला के रूप में अपने सारथी अर्जुन के प्रति विराटराज के पुत्र उत्तरकुमार की यह उक्ति है। कौरव-सेना आलम्बन है। उसका भयङ्कर दृश्य उद्दीपन है। वैवर्ण्य और गद्गद होना अनुभाव है। त्रास, दैन्य, आवेग आदि सञ्चारी हैं। पहला उदाहरण अपराध-जनित भय का है, और यह भयङ्कर दृश्य-जनित भय का।

कहीं-कहीं भय स्थायी की स्थिति होने पर भी भयानक रस नहीं होता है—

"सकट व्यूह भेद करि धायो है पार्थ जबै,
युद्ध करि द्रौन ही ते याद करि बाका की;
कुपित महान भयो रुद्र-सम रूप छयो,
लाग्यो है करन घोष गांडिव पिनाका की।
भनै कवि 'कृष्ण' भूमि मुंडन सौं छात भई,
नदी-सी उमड़ि चली स्रोनित धराका की;
कौरव के वीरन की छाती धहरान लागी,
देख फहरान भारी बानर-पताका की।"२२३
(६)

अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। अर्जुन आलम्बन है। उसके युद्ध का भयङ्कर दृश्य उद्दीपन हैं। स्मृति, त्रास, आदि सञ्चारी हैं। कौरव-सेना का हृदय धहराना अनुभाव है। यहाँ भय स्थायी की व्यञ्जना है पर वक्ता का अभीष्ट यहाँ अर्जुन के वीरत्व की प्रशंसा करना है अतः भय यहाँ राज-विषयक रति का अङ्ग हो गया है। और—

"सूबनि साजि पढ़ावतु है निज फौज लखे मरहट्टन केरी;
औरँग आपुनि दुग्ग जमाति विलोकत तेरिए फौज दरेरी।

साहितनै सिवसाहि भई भनि 'भूषन' यों तुव धाक घनेरी ;
रातहु द्योस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति सूरति घेरी।"२२४
(३५)

ऐसे उदाहरणों में भयानक रस नहीं समझना चाहिये। यद्यपि यहाँ शिवराज आलम्बन है, उसके पराक्रम का स्मरण उद्दीपन, औरंगशाह की अपनी ही फ़ौज में शिवाजी की फौज का भ्रम होना अनुभाव, और त्रास, चिन्ता, आदि व्यभिचारी भावों से भय की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु कविराज भूषण का अभीष्ट यहाँ शिवाजी की प्रशंसा करने का है, अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। औरंगजेब का भयभीत होना उसकी पुष्टि करता है, अतः वह अङ्गभूत है।

"छूटे धाम धवल कँवल सुखवार छूटे,
छूटी पति-प्रीति गति छूटी जो करीन में;
भनत 'प्रवीन बेनी' छूटे सुखपाल रथ,
छूटी सुखसेज सुख साहिबी नरीन में।
गाजुदी उजीर वीर रावरी अतंकु पाइ,
आजु दिन ह्वै गई जु दीन जे परीन में;
कारी-कारी जामिनी में वैरिन की भामिनी ते,
दामिनी-सी दौरैं दुरी गिरि की दरीन में।"२२५
(३१)

यहाँ भी भयानक रस की सामग्री है किन्तु इसके द्वारा कवि कृत गाजुद्दीन की प्रशंसा की पुष्टि होती है, अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है। 'नवरसतरंग' में इसे भयानक रस के उदाहरण में लिखा है, पर वास्तव में भयानक रस नहीं है।

(७) बीभत्स रस

रुधिर, आँत आदि घृणित वस्तु देखने पर जो ग्लानि होती है, उसी से यह उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—जुगुप्सा (ग्लानि)।

आलम्बन—दुर्गन्धित मांस, रुधिर, चर्बी, वमन, आदि।

उद्दीपन—मांसादि में कीड़े पड़ जाने, आदि का दृश्य।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मूंद लेना, आदि।

व्यभिचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरण, आदि।

"अति ताप तें अस्थि पसीजन सौं
कढ़ि मेद की बूँदन जो टपकावैं;
तिन धूम धुमारिनु लोथिनि कौं
ये पिसाच चितानु सौं खैंचि कै खावैं।
ढिलियाइ खस्यो तचि मांस सबै
जिहिंसौं जुग संधिहु भिन्न लखावैं;
अस जंघनली-गत मज्जा मिली,
सद पी चरबी परवी-सी मनावैं।"२२६(४६)

अर्द्ध-दग्ध मृतकों का दृश्य आलम्बन और उद्दीपन है। इस दृश्य का देखा जाना अनुभाव और मोह आदि सञ्चारी हैं।

"सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत;
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदिकै मांस उपारत;
स्वान आँगुरिन काटि-काटिकै खात विदारत।
बहु चील नौंचि लै गात नुच मोद भरयो सबको हियो;
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियो।"२२
(५९)

यहाँ श्मशान का दृश्य आलम्बन, और मृतकों के अङ्गों का काकादि द्वारा खाया जाना उद्दीपन, इत्यादि से बीभत्स रस की व्यञ्जना है।

"इतहि प्रचंड रघुनंदन उदंड भुज,
उतै दसकंठ वढ़ि आयो डरु डारिकैं;
'सोमनाथ' कहै रन मंड्यो धर मंडल में,
नाच्यौ रुद्र स्रोनित सौं अंगन पखारिकैं।

मेद गूद चरबी की कीच मची मेदनी में,
बीच-बीच डोलैं भूत भैरौं मद धारिकै;
चायनि सौं चंडिका चबाति चंड-मुंडन कौं,
दंतनि सौं अंतनि निचोरैं किलकारिकै।"२२८(५५)

किन्तु—

दृढ़ कावरि है अघ-ओघन को सब दोषन को यह गागरि है;
अस तुच्छ कलेवर कौं स्रक-चन्दन भूपन साजि कहा करि है।
मल-मूतन कीच गलीच जहाँ कृमि आकुल पीव अँतावरि है;
दिन वे किन याद करै ? घिन कै जब सूकर कूकर हू फिरि है।
२२९

यहाँ वीभत्स की व्यञ्जना होने पर भी मनुष्य-शरीर की घृणास्पद अन्तिम अवस्था के वर्णन से वैराग्य की पुष्टि की गई है, अतः शान्त रस प्रधान है—वीभत्स उसका अङ्ग मात्र है।

"आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा वह,
मादा-मल-मूत औ' मज्जा की सलीती है।
कहै 'पद्माकर' जराती जागि भीजी तब,
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम में सनेह यदि पूरो कियो,
तौ तौ दिव्य देह जम-जातना सौं जीती है;
रीती राम-नाम तें रही जो बिना काम वह,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।"२३०
(२४)

इसमें मनुष्य-शरीर की वीभत्सता का वर्णन होने पर भी वीभत्स रस नहीं है। यहाँ जुगुप्सा स्थायी न रह कर सञ्चारी हो गया है, क्योंकि शरीर की वीभत्सता बताकर राम-भक्ति को प्रधानता दी गई है, अतः देव-विषयक रति-भाव ही है।

"भूप शिवराज कोप करि रन-मंडल में,
खग्ग गहि कूद्यो चकत्ता के दरबारे में;
काटे भट विकट गजनहू के सुंड काटे,
पाटे डारि भूमि काटे दुवन सितारे में।
'भूषन' भनत चैन उपजै सिवा के चित्त,
चौसट नचाई जबै रेवा के किनारे में;
आँतन की ताँत बाजी, खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।"२३१(३५)

यहाँ भी जुगुप्सा की व्यञ्जना है किन्तु वह सञ्चारी भाव होकर महाराज शिवाजी के प्रताप के वर्णन का अङ्गभूत हो गया है, अतः राज-विषयक रति भाव है—न कि बीभत्स रस।

"चटकत बाँस कहूँ जरत दिखात चिता,
मज्जा-मेद-बास मिल्यो गंधवाह[1] गहिए।
काहू थल आँत-पाँत दग्ध देह की दिखात,
नील-पीत ज्वाल-पुंज भांति बहु लहिए।
केतिक कराल गीध चील माल जाल रूप
मांसहारी जीवन जमात लखि घिनिए,
ऐसे समसान माँहि शांत हेतु शब्द यही
राम-नाम सत्य है, श्रीराम-नाम कहिए।"२३२(२५)

यद्यपि यहाँ चौथे चरण में शान्त के विभावों का वर्णन है, पर शान्त रस के अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की गई है। अतः ऐसे वर्णनों में बीभत्स को ही प्रधान समझना उचित है।

---

१ पवन।

(८) अद्भुत रस

आश्चर्य-जनक विचित्र वस्तुओं के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।

स्थायी भाव—विस्मय।

आलम्बन—अलौकिक, अदृश्य पूर्व, आश्चर्य-जनक वस्तु।

उद्दीपन—उसकी विवेचना।

अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च और गद्‌गद होना, अनिमिष देखना, सम्भ्रम, आदि।

सञ्चारी—वितर्क, आवेग, भ्रान्ति, हर्ष आदि।

जदुनाथ सों माँगि विदा बगदे मग माँहि अनेक विचार फुरे चित ;
निज भौन हतो तहँ मंदिर चारु पुरंदर हू अभिलाषित जो नित।
मनि-थंभ रु विद्रुम देहरी त्यों गज-मोतिन वंदनवार परे जित ;
लखि चौंकि के विप्र कह्यो यह है सपनो अथवा लखि साँचौ परै इत। २३३

यहाँ द्वारिका से लौटकर आने पर सुदामाजी को अपने जीर्ण-शीर्ण घर का न दीखना आलम्बन, अलौकिक विभव-सम्पन्न भवन का वहाँ होना उद्दीपन, वितर्क आदि सञ्चारी हैं। इनसे विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस में व्यक्त होता है।

गोपों से अपमान जान अपना क्रोधांध होके तभी,
की वर्षा व्रज इंद्र ने सलिल से चाहा डुबाना सभी।
यों ऐसा गिरिराज आज कर से ऊँचा उठाके अहो!
जाना था किसने कि गोप-शिशु ये रक्षा करेगा कहो? २३४

यहाँ गोवर्धनधारी श्रीनन्दनन्दन आलम्बन हैं। उनका अविकल स्थिर रहना उद्दीपन है। व्रजवासियों के ये वाक्य अनुभाव हैं। वितर्क, हर्ष, आदि सञ्चारी हैं। इनके संयोग से यहाँ अद्भुत रस की व्यञ्जना है।

"रिस करि लेजैं लै कैं पूतैं बांधवे को लगी,
आवत न पूरी वोली कैसो यह छौना है।
देखि-देखि देखै फिर खोल कै लपेटा एक,
बाँधन लगी तो वहू क्योंहू कै बँधौ ना है।
'ग्वाल कवि' जसुधा चकित यों उचाटि रही,
आली यह भेद कछु परै समुझौ ना है।
यही देवता है किधौं याके संग देवता हैं,
या किहूँ सखा ने करि दिन्हौं कछु टौना है।"२३५(११)

यहाँ ऊखल से भगवान् श्रीकृष्ण को बाँधने के समय सभी रस्सियों का छोटा रहना आलम्बन है। श्रीकृष्ण का बन्धन में न आना उद्दीपन है। वितर्क आदि सञ्चारी है। इनके द्वारा विस्मय स्थायी अद्‌भुत रस में व्यक्त होता है।

"व्रज बछरा निज धाम करि फिरि व्रज-लखि फिर धाम;
फिरि इत लखि फिरि उत लखे ठगि विरंचि तिहि ठाम।"२३५ (५७)

वत्स-हरण के समय ब्रह्मा द्वारा गोपकुमार और बछड़ों को ब्रह्म धाम में छोड़ आने पर भी श्रीकृष्ण के पास वही गोप और बछड़े देखकर ब्रह्मा को विस्मय होने में अद्‌भुत रस की व्यञ्जना है।

"जाही पै संधान बान गांडीव तैं अर्जुन कौ,
ताही पै अच्छर चख चंचल चलात हैं।
रूप रंग भूषन जे वसन निहारत ही,
छिन ही में और ही से और दिखरात हैं।
मेरो ही बरयो है कैधों और कौ बरयो है ऐसो,
अस्त्र बिन सस्त्र ही में दृश्य लखि पात हैं।
याही ख्याल बीच हैं बिहाल सुर-बाल डारैं;
सेत फूल माल लाल-लाल भई जात हैं।"२३७ (५६)

यहाँ अर्जुन के बाणों से स्वर्गगामी होने वाले वीरों के दृश्य में सुराङ्गनाओं के हृदय में अद्भुत रस की व्यञ्जना है।

"दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीनबंधु !
दीन ह्वै कै द्रुपद-कुमारी यों पुकारी है,
छाँड़े पुरुषारथ कौं ठाढ़े पिय पारथ से
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है ;
अंबर लौं अंबर अमर कियो 'बंसीधर'
भीषम करन द्रोन सोभा यों निहारी है।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है कि
सारी ही की नारी है कि सारी है कि नारी है।"२३८(२७)

यहाँ द्रौपदी के चीर-हरण के समय वस्त्र-वृद्धि को देखकर भीष्मादि के चित्त में अद्भुत रस की व्यञ्जना है। किन्तु—

जाते ऊपर को अहो उतर के नीचे जहाँ से कृती,
हैं पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।
देखो भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किए ;
स्वर्गारोहण-मार्ग जो कि इनके क्या ही अनोखे नए।२३९

ऐसे उदाहरणों में अद्भुत रस नहीं होता है, क्योंकि यहाँ श्रीगङ्गाजी की महिमा का वर्णन किया जाने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, विस्मय तो व्यभिचारी अवस्था में उसका अङ्ग है।

"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं ;
जाहि अनादि अखंड अनंत अभेद अछेद सु वेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ;
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरी छाछ पै नाच नचावैं।"२४०

यहाँ भी चतुर्थ चरण में विस्मय की अभिव्यक्ति होने पर भी वह प्रधान नहीं है। भगवान् की भक्त-वत्सलता का वर्णन होने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है और विस्मय-भाव उसी का पोषक होने से अङ्गभूत है।

(९) शान्त रस

तत्त्व-ज्ञान और वैराग्य से शान्त रस उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—निर्वेद या शम।

आलम्बन—अनित्य रूप संसार की असारता का ज्ञान या परमात्म चिन्तन।

उद्दीपन—ऋषि जनों के आश्रम, गंगा आदि पवित्र तीर्थ, एकान्त वन और सत्सङ्ग, आदि।

अनुभाव—रोमाञ्च, संसार-भीरुता, अध्यात्म-शास्त्र का चिन्तन, आदि।

सञ्चारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, आदि।

काव्यप्रकाश में 'शान्त' रस का स्थायी निर्वेद माना गया है। मम्मटाचार्य का मत है कि जो तत्त्व ज्ञान से निर्वेद होता है, वह स्थायी भाव है, और जो इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण निर्वेद होता है, वह सञ्चारी है[१]। नाट्य-शास्त्र में शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' माना गया है।

साहित्यदर्पण में शान्त रस की स्पष्टता करते हुए कहा है—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ;
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।'

---

१ "स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद्भवेद्यदि ;
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ"—
—काव्यप्रकाश, वामनाचार्य टीका, पृष्ठ ११८।

जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं। यहाँ शङ्का हो सकती है कि यदि शान्त रस का यह स्वरूप मान लिया जायगा, तो शान्त रस की स्थिति मोक्ष-दशा में ही हो सकेगी और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान होना असम्भव है। फिर विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदि के द्वारा शान्त रस की सिद्धि किस प्रकार मानी जा सकती है? इसका समाधान साहित्यदर्पण में यह किया गया है कि युक्त[1] वियुक्त[2] और युक्त-वियुक्त[3] दशा में अर्थात् सम्प्रज्ञात (सविकल्पक) समाधि में जो 'शम' रहता है, वही स्थायी होकर शान्त रस में परिणत हो जाता है, और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान भी सम्भव है। यहाँ मोक्ष दशा या निर्विकल्पक समाधि का शम अभीष्ट नहीं है।

शान्त रस में जो सुख का अभाव कहा गया है, वह विषय-जन्य सुख का अभाव है; न कि सभी प्रकार के सुखों का अभाव। क्योंकि—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्;
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।"

---

१ रूप, रस आदि विषयों से मन को हटाकर ध्यान-मग्न योगी को 'युक्त' कहते हैं।

२ जिसे योगबल से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हैं, और समाधि-भावना करते ही सब वाञ्छित वस्तुओं का ज्ञान अन्तःकरण में भान होने लगता है, उस योगी को 'वियुक्त' कहते हैं।

३ जिसकी नेत्र आदि सब इन्द्रियां महत्त्व और अद्भुत रूप आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न करके सब अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात् कर सकती हैं, उस योगी को 'युक्त-वियुक्त' कहते हैं।

अर्थात् संसार में जो विषय-जन्य सुख हैं, तथैव स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब मिलकर भी तृष्णा-क्षय (शान्ति) से उत्पन्न होने वाले सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हो सकते हैं। अतएव 'शम' अवस्था में सुख अवश्य होता है, और वह अनिर्वचनीय होता है।

शान्त रस का उदाहरण—

"जानि पर्यो मोकौं जग असत अखिल यह
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है,
याते परिवार व्यवहार जीत-हारादिक
त्याग करि, सबही विकसि रह्यो मन है।
'ग्वाल' कवि कहै मोह काहू में रह्यो न मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन-धन है।
कीन्हों मैं विचार एक ईश्वर ही सत्य नित्य
अलख अपार चारु चिदानंदघन है।"
२४२ (११)

यहाँ जगत् की अनित्यता आलम्बन है। किसी में मोह न रहना अनुभाव है। मति आदि सञ्चारी भाव हैं। इनके द्वारा शान्त रस ध्वनित होता है।

व्याल सौं न भीति प्रीति मोतिन की माल सौं न
जैसो रत्न ढेर तैसो लोहहू प्रमानौं मैं,
फूलन बिछान त्यों पखान हू समान मेरे
मित्र और शत्रु में न भेद कछु जानौं मैं।
तृन कों न तुच्छ, नहिँ लच्छ करौं तरुनी कौं
राग और द्वेष को न लेस चित्त आनौं मैं।
कोऊ पुण्यारण्य माँहि मेरे यह द्यौस बीतौ
बीतौं ना और एक सिव-सिव बखानौं मैं।२४२

यहाँ प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष आदि में समदृष्टि होने के कारण शान्त रस की व्यञ्जना है। जिस संस्कृत-पद्य का यह अनुवाद है, उसे काव्य-प्रकाश में शान्त रस के उदाहरण में लिखा है। नागोजी भट्ट[1] और क्षेमेन्द्र[2] कहते हैं—'समदृष्टि के लिये सभी स्थल शिवमय हैं, फिर पुण्यारण्य की ही इच्छा उस अवस्था के (समदृष्टि के) प्रतिकूल होने से यहाँ अनौचित्य है'। हमारे विचार में इसके द्वारा निर्वेद या वैराग्य की व्यञ्जना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, प्रत्युत पुण्यारण्य का सेवन और शिव-शिव की रटन तो विरक्तावस्था के अनुकूल ही है। केवल विषय-सुख और दुःख के विषय में ही समदृष्टि की आवश्यकता है। अतएव यहाँ अनौचित्य नहीं।

"हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँव को नाम विलैहैं ;
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंग के संग रहैहैं।
'केसव' काम को राम विसारत और निकाम ते काम न ऐहैं ;
चेत रे चेत अजौं चित अंतर अंतक लोक इकेलो ही जैहैं।"
२४३ (८)

यहाँ भी विभावादिकों से शान्त रस ध्वनित होता है।

कहीं-कहीं निर्वेद के विभावादि की स्थिति होने पर भी शान्त रस नहीं होता है। जैसे—

सुरसरि-तट दृग मूँदि सब विषयन विष-सम जान ;
कब निमग्न ह्वै हौं मधुर नील-जलज-छवि ध्यान।२४४॥

यहाँ विषयों के तिरस्कार आदि के द्वारा पूर्वार्द्ध में निर्वेद की व्यञ्जना तो है, किन्तु कवि का अभीष्ट भगवान् कृष्ण में प्रेम-सूचन

---

१ देखिये, शान्त रस के इस उदाहरण की काव्यप्रकाश की उद्योत टीका।

२ औचित्यविचारचर्चा, काव्यमाला, प्रथम गुच्छक, पृष्ठ १३१।

करना ही है। अतः शान्त रस नहीं, देव विषयक रति (भक्ति) भाव प्रधान है, और 'निर्वेद' सञ्चारी अवस्था में उसका पोषक है। और—

"या लकुटी अरु कामरिया पै जु राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं;
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख नंद की धेनु चराय बिसारौं।
'रसखान' कबौं इन आँखिन सौं ब्रजके वन बाग तड़ाग निहारौं;
कोटिन हौं कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं।"
२४५ (४१)

ऐसे वर्णनों में भी देव विषयक रति भाव (भक्ति) ही प्रधान है, न कि शान्त रस।

"वैठि सदा सतसंगहि में विष मानि विषै-रस कीर्ति सदाहीं;
त्यों 'पदमाकर' झूठि जितौ जग जानि सुज्ञानहिं कौं अवगाहीं।
नाक की नोक में दीठि दिए नित चाहैं न चीज कहूँ चित चाहीं;
संतत संत सिरोमनि हैं धन हैं धन वे जन वेपरवाहीं।"
२४६ (२४)

जगद्विनोद में कवि ने इसे शान्त रस के उदाहरण में लिखा है। यहाँ तीन चरणों में जो वैराग्य की व्यञ्जना है, वह चौथे चरण में संत जनों की महिमा के वर्णन का अङ्ग हो जाने से मुनि-विषयक रति भाव है, न कि शान्त रस।

शान्त रस और दया-वीर रस में यह भेद है कि दया-वीर में देहादि का अभिमान रहता है, किन्तु शान्त में अहङ्कार का आभास भी नहीं होता है। यदि दया वीर, धर्म-वीर और देव-विषयक रति भाव, सब प्रकार के अहङ्कारों से शून्य हो जायँ, तो वे शान्त रस के अन्तर्गत आ सकते हैं।

हास्य और बीभत्स रस के आश्रय

रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी भावों के आलम्बन और आश्रय दोनों की ही प्रतीति होती है। जैसे

शृङ्गार-रस में शकुन्तला-विषयक दुष्यन्त की रति में 'शकुन्तला' आलम्बन और 'दुष्यन्त' रति का आश्रय है, और दोनों की ही प्रतीति होती है। परन्तु हास्य और जुगुप्सा में केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है—आश्रय की नहीं। अर्थात् जिसे देखकर हास और घृणा उत्पन्न होती है, प्रायः उसी का वर्णन होता है—जिस व्यक्ति के हृदय में हास और घृणा उत्पन्न होती है, उस (आश्रय) का प्रायः वर्णन नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ का[1] इस विषय में यह कहना है कि हास और जुगुप्सा में आश्रय के लिये काव्य के पाठक और श्रोता या नाटक के दर्शक, किसी व्यक्ति का आक्षेप कर लेते हैं। यदि किसी व्यक्ति का आक्षेप न भी किया जाय तो पाठकों, श्रोताओं या दर्शकों को ही रस का आश्रय मान लेना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि पाठक, श्रोता या दर्शक तो अलौकिक रस के आस्वाद के आनन्द का अनुभव करने वाले हैं (अर्थात् आस्वाद के आधार हैं) इसलिये लौकिक हास और जुगुप्सा के आश्रय वे कैसे हो सकते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार श्रोता आदि को अपनी स्त्री के सम्बन्ध में वर्णित काव्य से रसास्वाद होता है (अर्थात् लौकिक रस का जो आश्रय होता है, वही अलौकिक रस का आस्वाद करने वाला भी होता है) उसी प्रकार हास और जुगुप्सा में भी आश्रय और रसानुभवी एक ही मान लेने में कोई बाधा नहीं है।

—:※:—

---

[1] रसगङ्गाधर, पृ ४१।

चतुर्थ स्तवक का तृतीय पुष्प

भाव

(१) देव आदि विषयक रति, (२) सामग्री के अभाव में उद्बुद्ध-मात्र अर्थात् रस रूप को अप्राप्त रति आदि स्थायी भाव और (३) प्रधानता से व्यञ्जित निर्वेदादि सञ्चारी, इनकी भाव संज्ञा है।

(१) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ 'रति' के आलम्बन होते हैं, अर्थात् जहाँ इनके विषय में भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्यभाव, प्रशंसा, वात्सल्य और स्नेह ध्वनित होता है, चाहे वे सामग्री से पुष्ट हों अथवा अपुष्ट, वे रति-भाव (भक्ति आदि) 'भाव' कहे जाते हैं।

(२) जहाँ रति आदि नवों स्थायी भाव उद्बुद्ध-मात्र हों अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों से परिपुष्ट न हों, वहाँ इन स्थायी भावों को भाव कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि नायक-नायिका आलम्बन होने पर भी 'रति' तभी शृङ्गार-रस में परिणत हो सकती है जब वह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से परिपुष्ट की गई हो, अन्यथा उस (रति) की केवल 'भाव' संज्ञा रहती है। इसी प्रकार हास आदि स्थायी भाव जब विभावादि से परिपुष्ट होते हैं तभी रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं—अपुष्ट अवस्था में वे भी भाव-मात्र रहते हैं।

काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर के भाव-प्रकरण में स्थायी भाव का

स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु साहित्यदर्पण[1] में अपुष्ट स्थाई भावों की 'भाव' संज्ञा का स्पष्ट उल्लेख है। काव्यप्रकाश की व्याख्या काव्य-प्रदीप-कार का भी यही मत है[2]।

(३) निर्वेदादि सञ्चारी भाव जहाँ प्रधानता से व्यञ्जित (प्रतीत) होते हैं, वहाँ उनकी भी भाव संज्ञा रहती है।

जहाँ व्यभिचारी भाव होता है, वहाँ रस की स्थित भी होती है ऐसी परिस्थिति में रस की ही प्रधानता मानी जा सकती है। अतः प्रश्न होता है कि रस की अपेक्षा व्यभिचारी की प्रधानता किस प्रकार मानी जा सकती है ! इसका उत्तर यह है—जैसे मंत्री के विवाह में राजा के उपस्थित रहने पर भी मंत्री-दूल्हा आगे चलता है, और राजा स्वामी (प्रधान) होने पर भी, दूल्हा के पीछे चलता है, इसी प्रकार जहाँ किसी विशेष अवस्था में 'व्यभिचारी' प्रधानता से प्रतीत होता है, वहाँ अपने रस की अपेक्षा अधिक प्रधान हो कर उसकी (व्यभिचारी भाव की) 'भाव संज्ञा रहती है।

इस विषय में यह भी प्रश्न हो सकता है कि जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव सम्मिलित हो कर ही, प्रपानक रस के समान, रस का आस्वाद कराते हैं, तब व्यभिचारी का पृथक आस्वाद और वह भी प्रधानता से किस प्रकार हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रपानक रस (विशेष प्रकार के सरबत आदि) में जब इलायची आदि किसी पदार्थ विशेष का आधिक्य होता है तो उस पदार्थ विशेष

---

१ "संचारिणः प्रधानानि देवादिविषयारतिः ;
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।"

२ "रतिरिति स्थायीभावोपलक्षणम्। कान्तादि विषयाऽप्यपूर्णरतिहासादयश्चाप्राप्तरसावस्थाः प्रधान्येन व्यञ्जितो व्यभिचारी च भाव इत्यवधातव्यम्।"—काव्यप्रदीप, आनन्दाश्रम-संस्करण, पृष्ठ ११६।

का आस्वाद प्रधानता से होता है, उसी प्रकार व्यभिचारी भी किसी विशिष्ट अवस्था में प्रधानता से प्रतीत होने लगता है।

देव-विषयक रति भाव।

हौं भवसागर में भ्रमि बूड़त हा! न मिल्यौ कोउ पार उतारन;
नाथ! सुनो करुना करिकै सरनागत की यह दीन पुकारन।
चाहौं सदा गुन-गावन औ मनभावन वे उर माँहि निहारन;
कालिंदी-कूल-निकुंजन की भव-भंजन केलि अहो गिरिधारन। २४७

यहाँ श्रीनन्दनन्दन आलम्बन हैं। यमुना-तट का विहार उद्दीपन है। विनीत प्रार्थना अनुभाव है। चिन्ता, विषाद और औत्सुक्य आदि सञ्चारी भाव हैं। भगवान् के विषय में जो अनुराग ध्वनित होता है, वह देव विषयक रति भाव है। देव-विषयक रति अर्थात् भगवद् विषयक भक्ति या अनुराग है।

दिवि में भुवि में निवास हो या,
नरकों में नरकांत! हो न क्यों या;
रमणीय पदारविंद तेरे,
मरते भी स्मरणीय होयँ मेरे। २४८

यहाँ भी भगवान् के विषय में देव-विषयक रति भाव है।

"भजु मन चरन संकट हरन।
सनक संकर ध्यान लावत निगम असरन सरन।
सेस सारद कहैं नारद संत चिंतत चरन।
पद पराग प्रताप दुरलभ रमा को हितकरन।
परसि गंगा भई पावन तिहूँ पुर उद्धरन।
चित्त चेतन करत अंतःकरन तारनतरन।
गए तरि लै नाम केते संत हरिपुर धरन।

जासु पदरज परसि गौतम-नारि गति उद्धरन।
जासु महिमा प्रगट कहत न धोइ पग सिर धरन।
कृष्ण-पद-मकरन्द पावन और नहिँ सिर परन।
'सूर' प्रभु चरनारविंद तें मिटैं जनम रु मरन २४९ (५२)

महात्मा सूरदासजी के इस पद में भी देव-विषयक रति भाव है।

"पान चरनामृत को गान गुन-गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिय को हुलासिबो;
प्रभु के उतरीन की गूदरी करौं चीरन की,
भाल भुजकंठ कर छापन को लसिबो।
'सेनापति' चाहति है सकल जनम भरि,
वृंदावन सीमा तें न बाहिर निकसिबो;
राधा-मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरें गुंजन की कुंजनि में बसिबो।"२६० (५४)

यहाँ श्रीवृन्दावन-विहारी में कवि का जो प्रेम ध्वनित होता है, वह देव विषयक रति भाव है।

देव-विषयक रति अर्थात् भक्ति-रस को साहित्याचार्यों ने 'भाव' संज्ञा दी है। पहले किये गये 'रस' और 'भाव' के विवेचन द्वारा स्पष्ट किया गया है कि रस प्रकरण में उस 'रति' (प्रेम) को—जो स्त्री और पुरुष विषयक हो, स्थायी भाव की अवस्था में विभावादि से परिपुष्ट होकर शृङ्गार रस माना गया है। और भाव प्रकरण में उसी 'रति' (प्रेम) को—जो परस्पर स्त्री पुरुष विषयिक न होकर देवता, गुरु, पुत्र, एवं राजादि विषयक हो भाव माना गया है। यह तो ठीक ही है कि भक्ति-रस को शृङ्गार-रस नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शृङ्गार की व्यञ्जना तो कामी जनों के हृदय में ही उद्‌भूत हो सकती है। यह बात शृङ्गार शब्द के यौगिक अर्थ से भी स्पष्ट है। किन्तु 'भक्ति' को एक

स्वतन्त्र रस न मानकर भाव मात्र मानना केवल प्राचीन परिपाटी-मात्र है। वास्तव में अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री भक्ति रसमें भी होती हैं। जैसे, भक्ति रस के आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण आदि हैं; श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-प्रधान शास्त्रों का श्रवण मनन और भगवान के अलौकिक सौन्दर्य युक्त चिदानन्दमय विग्रहों के दर्शन आदि उद्दीपन हैं; और वह रोमाञ्च, अश्रुपात आदि द्वारा अनुभव गम्य एवं हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों द्वारा परिपुष्ट होता है।

श्रुतियों के अनुसार[1] जिस ब्रह्मानन्द पर रस का रसत्व अवलम्बित होना सभी साहित्याचार्य मानते हैं, उस ब्रह्मानन्द से भी अधिक जो भक्ति-जन्य आनन्द तदीय भक्तजनों को होता है, उस भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानना और क्रोध, शोक, भय एवं जुगुप्सा आदि की व्यञ्जना को रस-संज्ञा देना वस्तुतः युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता है[2]।

यदि यह कहा जाय कि भक्ति-जन्य आनन्द होने में क्या प्रमाण है, तो इसका उत्तर यही है कि जब अन्य रसों के आनन्दानुभव के प्रमाण के लिए सहृदयों के हृदय के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है तो भक्ति-रस के आनन्दानुभव के लिए भी भक्त जनों का हृदय ही साक्षी है।

---

१ 'रसो वै सः।'
'रसह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'
'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'
आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशंति।'

२ इस विषय का अधिक विवेचन हमारे संस्कृत साहित्य के इतिहास के द्वितीय भाग में किया गया है।

गुरु-विषयक रति-भाव[1] ।

वामन-पद-छालन-सलिल भवसागर-प्रिय जोय ;
वंदौ भवसागर-दमन गुरु-पद-छालन तोय[2] ।२५१

यहाँ गुरु के पाद-प्रक्षालन के जल की वन्दना में गुरु-विषयक रति-भाव है।

पुत्र विषयक 'रति-भाव'[3] ।

वात्सल्य वह प्रेम है जो माता, पिता आदि गुरुजनों के हृदय में पुत्रादि के विषय में होता है। इसी कारण 'वात्सल्य' को स्वतन्त्र रस न मानकर पुत्र-विषयक रति-भाव माना है।

"तन की दुति स्याम सरोरुह-लोचन कंज की मंजुलताइ हरैं ;
अति सुन्दर सोहत धूरि-भरे छवि भूरि अनंग की दूर करैं।
कबहूँ ससि माँगति आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं ;
कबहूँ कर-ताल बजाय कै नाचत मातु तबै मन मोद भरैं।"
२५२(१७)

यहाँ कौसल्याजी का श्रीराम-विषयक जो वात्सल्य है, वह पुत्र-विषयक-रति-भाव है।

---

१ प्रेम, श्रद्धा अथवा पूज्य भाव।

२ वामन भगवान् के चरणों को प्रक्षालन करने वाले जल को अर्थात् श्रीगङ्गाजी को, भवसागर (श्लेषार्थ—भव-श्रीशङ्कर; और सागर-समुद्र) से प्रेम है, क्योंकि शिवजी की जटा में वह विराजमान हैं और समुद्र में जाकर मिलती हैं। किन्तु मैं भवसागर (संसार) से घबरा रहा हूँ, अतः भवसागर (संसार) के दुःखों को दूर करने वाले श्रीगुरु-चरणों को प्रक्षालन करने वाले जल को प्रणाम करता हूँ।

३ वात्सल्य अथवा स्नेह।

"दैहौं दधि मधुर धरनि धरयो छोरि खैहै,
धाम तें निकसि धौरी धेनु धाइ खोलि है;
धूरि लोटि ऐहै लपटै हे लटकत ऐहै,
सुखद सुनैहै वैन वतियाँ अमोलि है।
'आलम' सुकवि मेरो ललन चलन सीखै,
वलन की वाँह व्रज-गलिन में डोलि है;
सुदिन सुदिन दिन ता दिन गिनौंगी माई,
जा दिन कन्हैया मोसौं मैया कहि वोलि है।"२५४(३)

यहाँ यशोदाजी का भगवान् श्रीकृष्ण-विषयक वात्सल्य है। किन्तु—

"वर दंतकि पंगति कुन्द-कली अधराधर पल्लव खोलन की;
चपला चमकै घन-बीच जगै छवि मोतिन-माल अमोलन की।
घुँघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुन्डल लोल कपोलन की;
निवछावर प्रान करै 'तुलसी' वलिजाउँ लला इन वोलन की।"
२५४(१७)

और—

"पग नपुर औ' पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिए;
नव नील कलेवर पीत झगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिए।
अरविंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए।
मन में न बस्यो अस बालक तो 'तुलसी' जग में फल कौन जिए।"
२५५(१७)

इनमें यद्यपि भगवान् की वाल-लीला एवं महाराजा दशरथ का पुत्र विषयक प्रेम वर्णन है, पर यहाँ पुत्र-विषयक रति भाव (वात्सल्य) नहीं है। गोस्वामीजी का अपने इष्टदेव बाल-रूप भगवान् रघुनाथजी के प्रति जो अंतिम चरण में प्रेम व्यक्त होता है, वह भक्ति प्रधान है, अतः देव-विसयक 'रति-भाव' है।

राज-विषयक 'रति-भाव'

न मृगया[1] रति नित्य नवीन भी,
न मधुरा मधु[2] ही रस-लीन की।
नव-वया तरुणी रमणीय भी,
न उसकी मति कर्षित की कभी।२५६
न करुणा सुरराज समीप थी,
न वितथा[3] परिहासकथा कभी।
वह कठोर न थी रिपु साथ भी,
दशरथीय गिरा इस भाँति थी।२५७

यहाँ महाराज दशरथ के विषय में कवि का प्रेम व्यञ्जित होता है। अतः राज-विषयक रति-भाव है।

"साहि-तनै सरजा तव द्वार प्रतच्छन दान की दुन्दुभि बाजै;
'भूषन' भिच्छुक भीरन कौं अति भोजहु ते बढ़ि मौजनि साजै।
राजन को गन राजन! को गनै साहिन मैं न इती छवि छाजै;
आजु गरीब-निवाज मही पर तोसो तुहीं सिवराज बिराजै।"
२५८। (३२)

यहाँ महाराज शिवाजी पर भूषन कविराज का प्रेम ध्वनित होता है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

उद्बुद्ध-मात्र स्थायी भाव।

इनके उदाहरण स्थायी भावों के विवेचन पृष्ठ १५३-१५८ में देखिये।

---

१ शिकार। २ मदिरा। ३ मिथ्या।

प्रधानता से व्यञ्जित व्यभिचारी।

तन छूवत ही कर सौं हटक्यो मुख सौं न कह्यो न किये दृग सौंही;
आज लखी सपने में प्रिया अँखियान भरे अँसुवान रिसौंही।
कै विनती परि पायँ मनाय, चह्यो भरि अंक में लेइवे ज्यों ही;
हा ! विधि की सठता का कहौं झट नींद छुटाय दई तबलौं ही।
(२५६)

किसी वियोगी की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है—'आज अपनी रूठी हुई प्रिया को मैंने सपने में देखा, किन्तु जब तक मैं उसे प्रसन्न करके अंक में लूँ, इसके पहले ही शठ विधाता ने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी।' यहाँ विधाता के प्रति जो असूया है, वही 'असूया' व्यभिचारि प्रधानता से ध्वनित हो रहा है। अतः यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं। यद्यपि विप्रलम्भ शृङ्गार के उदाहरण—'गेरू से मैं लिखकर तुझे' (पृष्ठ २००) में—भी विधाता की क्रूरता के विषय में असूया है, किन्तु वहाँ 'रोके हटी' पद द्वारा वियोग शृङ्गार ही प्रधानता से व्यञ्जित हो रहा है। अतएव वहाँ असूया विप्रलम्भ-शृङ्गार का अंग हो जाने से प्रधान नहीं रही है, इसी से वहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार रस है।

"दहैं निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत ;
हौं कसिकै रिसकै करौं, ये निरखैं हँसि देत।"
२६०(२६)

यहाँ सम्भोग सञ्चारी प्रधानता से व्यञ्जित हो रहा है।

री सखी कैसी विचित्रता है चपला थिर या उर माँहि सुहावहि;
दीनदयालु है आली ! सुनौ वनमाली अहो जब वेनु बजावहि।
दूरहि सौं सुनिकै हित सौं चित मोहित ह्वै मृग-वृन्द लखावहि;
दाँतन गास लिए धरि श्रौन रु मौन भे चित्र लिखे से जनावहि।
२६१

यहाँ 'जड़ता' व्यभिचारि भाव की प्रधानता से व्यञ्जना है।

रसाभास

जब रस अनौचित्य रूप में व्यञ्जित होता है, तब उसे रसाभास कहते हैं।

सहृदय जनों को अनुचित प्रतीत होना ही अनौचित्य है। यद्यपि रस का अनौचित्य रूप में होना रस दोष है, किन्तु आपात रमणीय होने के कारण इसके द्वारा भी क्षण भर के लिये रस के आस्वाद का आभास हो जाता[1] है। रसाभास में, सीप में चाँदी की झलक की तरह, रस की झलक-मात्र रहती है[2], इसलिये रसाभास को भी ध्वनि का एक भेद माना है।

शृङ्गार-रसाभास—उपनायक (अन्य पुरुष) में अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, नदी आदि निरिन्द्रियों में सम्भोग का आरोप करना, पशु-पक्षियों के प्रेम का वर्णन करना, गुरु-पत्नी आदि में अनुराग, नायक-नायिका में अनुभयनिष्ठ रति[3] और नीच व्यक्ति में प्रेम होना, इत्यादि।

हास्य-रसाभास—हास्य का आलम्बन गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों का होना।

करुणा-रसाभास—विरक्त में शोक का होना।

रौद्र रसाभास—पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना।

वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना, आदि।

---

१ जल में सूर्य के प्रतिविम्ब आदि की तरह अवास्तव स्वरूप को 'आभास' कहते हैं। 'प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्'।—शब्द-कल्पद्रुम।

२ 'शुक्तौरजताभासवत्'—ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ६६।

३ उभयनिष्ठ प्रेम न होना। अर्थात् स्त्री का प्रेम पुरुष में हो, किन्तु पुरुष का स्त्री में न हो, या पुरुष का प्रेम स्त्री में हो, किन्तु स्त्री का प्रेम पुरुष में न हो।

भयानक रसाभास—उत्तम व्यक्तिमें भय का होना, आदि।
बीभत्स-रसाभास—यज्ञ के पशु में ग्लानि होना, आदि।
अद्भुत रसाभास—ऐंद्रजालिक कार्यों में विस्मय होना, आदि।
शान्त रसाभास—नीच व्यक्ति में शम की स्थिति होना, आदि।

उपनायकनिष्ट रति-श्रृङ्गार रस का आभास।

"फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाज की लाव ;
अंग-अंग-छवि-भौंर में भयो भौंर की नाव[1]।"२६२(२९)

यह अन्तरङ्ग सखी की नायक के प्रति उक्ति है। 'टुटी लाज की लाव' इस कथन से नायिका की उपनायक में रति का सूचन है, अतः रसाभास है।

बहुनायक-निष्ठ रतिश्रृंगार रस का आभास।

"यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै ;
त्यों 'पद्माकर' एकन के उर में रस बीजनि वै चलै वै चलै।
एकन सौं बतराय कछू छिन एकन कौ मन लै चलै लै चलै ;
एकन सौं तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखनि दै चलै दै चलै।"
२६३(२४)

यहां नायिका की अनेक पुरुषों में रति व्यक्त होने से श्रृङ्गार-रसाभास है।

अधम पात्र में रति-श्रृङ्गार-रस का आभास।

"गेह तैं निकसि बैठि बेचन सुमन-हार,
देह-दुति देखि दीह दामिनि जला करै ;

---

१ उसका चित्त तुम्हारे अङ्गों के लावण्य रूप भौंर के भौंर में फँस गया है। उसकी गति जल के भँवर में फँसी हुई नाव की तरह हो रही है, अर्थात् वहाँ से निकलना असम्भव-सा हो रहा है।

मदन-उमंग नव-जोवन तरंग उठै,
वसन सुरंग अंग भूषन सजा करै।
'दत्त' कवि कहै प्रेम पालत प्रवीनन सौं,
बोलत अमोल बैन बीन सी बजा करै;
गजब गुजारती बजार में नचाय नैन,
मंजुल मजेज भरी मालिन मजा करै।"२६४(६९)

यहाँ मालिन में अनुराग सूचित होता है, अतः अधम पात्रनिष्ठ रति होने से रसाभास है।

अनुभय-निष्ट रति-शृङ्गार-रसाभास।

"गात पै पातन के कपरा गर गुंजन की दुलरी मन मोहै;
लाल कनेर के काननि फूल सदा वन को वसिवो चित टोहै।
आजु अचानक ही वन में ब्रजराज कुमार चरावतु गो है;
देखि पुलिंद-वधू वस-काम सखान सौं पूछत ही यह को है।"
२६५(६१)

यहाँ श्रीनन्दनदन को देखकर पुलिन्द-रमणियों के रति (प्रेम) उत्पन्न होने में अनुभय-निष्ठ रति है, क्योंकि श्रीकृष्ण की उनमें रति नहीं है। अतः रसाभास है।

निरिन्द्रियों में रति के आरोप में शृङ्गार-रस का आभास।

देखी जाती सलिल-कृश हो एक वेणी-स्वरूप,
जो वृक्षों के गिर दल पके हो रही पांडु रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्श्य, क्योंकि–
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र! सौभाग्य जोकि। २६६

यहाँ नदी में विप्रलम्भ-शृङ्गार का आरोप किया जाने से रसाभास है।

पशु-पक्षियों में रति के आरोप में शृङ्गार-रसाभास।

"सब राति वियोग के जोग जगे न वियोग-सराप सराहत हैं ;
पुनि प्रात सँयोग भए पै नए तऊ प्रेम उछाह उछावत हैं।
चकवाइ रहे चकई चकवा सु छकै चकि भै चकि चाहत हैं ;
बिछुरे न मरे इहि लाज मनो सु खरे खरे नेह निबाहत हैं।"
२६७ (५५)

यहाँ चकवा-चकवी पक्षियों में विप्रलम्भ शृङ्गार का आरोप है।

रौद्र रसाभास।

"पहले वचन देकर समय पर पालते हैं जो नहीं ,
वे हैं प्रतिज्ञा-घातकारी निन्दनीय सभी कहीं।
मैं जानता जो पाण्डवों पर प्रीति ऐसी आपकी ,
आती नहीं तो यह कभी वेला विकट संताप की॥"
२६८ (४७)

यहाँ महाभारत युद्ध में द्रोणाचार्य को कहे हुए दुर्योधन के इन वाक्यों में पूज्य व्यक्ति गुरु पर क्रोध की व्यञ्जना में रौद्र रस का आभास है।

वीभत्स रस।

"दुबरो कानों हीन स्रवन बिन पूछ नवाएँ।
बूढ़ो बिकल सरीर लार मुख तें टपकाएँ।
झरत सीस तें राधि रुधिर क्रमि डारत डोलत।
छुधा छीन अति दीन गरे घट-कंठ कलोलत।
यह दसा स्वान पाई तऊ कुतियन सँग उरझत गिरत।
देखो अनीति या मदन की मृतकन हूँ मारत फिरत।"
२६९ (३६)

यहाँ कुत्ते के इतने बीभत्स विशेषणों द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि की गई है। कुत्ते की यह घृणित अवस्था स्वाभाविक है, इनके द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि नहीं हो सकती है, इसलिये यहाँ बीभत्स रस का आभास-मात्र है। यदि ऐसा वर्णन मनुष्य-विषयक किया जाता तो बीभत्स रस हो सकता था।

अद्भुत रसाभास।

अति अचरजमय जलधि पुनि तिहिं वढ़ि मुनि किय पान,
तासौं बढ़ि लघु घट-जनम का जग अचरज मान ?। २७०

महामहिम अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्र-पान का यह वर्णन है। प्रथम तो समुद्र ही सारे आश्चर्यों का खज़ाना है। फिर ऐसे समुद्र का एक चुल्लू में पी जाना और भी आश्चर्य है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य यह है कि जिन अगस्त्य जी ने इसे पिया, उनका जन्म एक घड़े से है। यहाँ तक क्रमशः आश्चर्य की पुष्टि होती रहती है, किन्तु चौथे पाद में अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार द्वारा यह कहने से कि 'इस जगत् के आश्चर्य का क्या प्रमाण है' उपर्युक्त सारा आश्चर्य छिप गया है। अतः चौथे पाद का वर्णन अनौचित्य होने से केवल रसाभास ही रह गया है।

भावाभास

भाव का जब अनौचित्य रूप से वर्णन होता है, या जो भाव रसाभास का अङ्ग हो जाता है, उसे भावाभास कहते हैं।

व्यभिचारी भाव जब तक किसी रस के पोषक रहते हैं, तब तक वे व्यभिचारी भाव हैं, जब वे प्रधानता से प्रतीत होते हुए भाव-

अवस्था को प्राप्त होकर दूसरे किसी रसाभास के अङ्ग हो जाते हैं, तब वे भावाभास कहे जाते हैं।

"नृत्यत कैसे हरप ये लें गति परम विचित्र ;
कैसें कढ़त मृदंग तें महा मधुर धुनि मित्र।"२७१

यहाँ मृदंग की ध्वनि के विषय में चिन्ता करना अनुचित है, अतः चिन्ता व्यभिचारी भाव का आभास मात्र है अतः भावाभास है।

विस्मृति-पथ भे विषय सब रह्यौ न शास्त्र-विवेक।
केवल वह मृगलोचिनी टरत न हिय छिन एक॥२७२

किसी अन्य नायिका का स्मरण करते हुए किसी प्रवासी पुरुष की यह उक्ति है। स्रक्-चन्दनादि आनन्ददायक विषयों में विराग, परिश्रम से पढ़े हुए शास्त्रों में कृतघ्नता, और उस नायिका का स्मरण कदापि दूर न होना, ये सब 'स्मृति' सञ्चारी भाव की पुष्टि करते हैं। अतः स्मृति-भाव प्रधान है, और वह स्मृति-भाव यहाँ अन्य नायिका-निष्ठ होने से शृङ्गार रसाभास का अङ्ग हो गया है, अतः भावाभास है।

भाव-शान्ति

जब एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे विरुद्ध भाव की व्यञ्जना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे भाव-शान्ति कहते हैं।

कंज-मुखी ! कहु क्यों अनखी ? पग तेरे परौं करु कोप निवारन ;
मानिनि, एतो न मान कबौं तैं गह्यो अब जेतो अहो ! बिन कारन।
यों मनभावन की सुनि बात सकी न कछू मुख सौं जु उचारन ;
सीलित से तिरछे दृग-कोरन जोरन सौं अँसुवा लगी ढारन।
२७३

यह मानवती नायिका के आँसू गिरने से ईर्ष्या-भाव की शान्ति है।

लक्षी किया यदपि एक कुरङ्ग को था,
प्रेमानुरक्त हरिणी-निकटस्थ वो था।
आकृष्ट भी शर, किया न प्रहार जो कि—
कामी कृपार्द्र नृप देख दशा उन्हों की[1] ।२७४

यह महाराज दशरथ के शिकार का वर्णन है। मृग को बध करने के लिए बाण के सन्धान करने में जो उत्साह-भाव है, उसकी स्मृति-भाव से शान्ति है—मृग को कामासक्त देखकर अपनी कामासक्त दशा का स्मरण हो आने में स्मृति-भाव की व्यञ्जना है।

"अतीव उत्कण्ठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुंद को।"२७५(२)

उद्धवजी के ब्रज में आने के समय ग्वालबालों की श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये अभिलाषा में जो हर्ष-भाव है उसकी, रथ में श्रीकृष्ण को न देखकर, विषाद-भाव से शान्ति है।

"वह चौहटे की चपरेट में आज भली भइ आय दुहू घिरगे ;
कवि 'बेनी' दुहूँन के लालची लोचन छोर सँकोचन सौं भिरगे।
समुहाने हिए भर भेटिबे कौं सु चवाइन की चरचा चिरगे ;
फिरगे कर से कर हेरत ही करते मनु मानिक से गिरगे।"
२७६(३०)

---

१ महाराज दशरथ ने एक मृग को लक्ष्य (निशाना) बनाकर, उस पर बाण सन्धान कर लिया था, पर उसे हरिणी के पास प्रेमानुरक्त देखकर उस पर बाण नहीं छोड़ा, क्योंकि वह स्वयं विलासी थे, अतएव उनकी तादृश दशा देखकर अपनी तादृश अवस्था का उन्हें स्मरण हो आने से उस पर दया आ गई थी।

यहाँ भी हर्ष भाव की विषाद-भाव से शान्ति है।

कहीं-कहीं एक से अधिक भावों की भी भाव-शान्ति होती है। जैसे—

"वहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र-लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे;
निज सेन चकित विलोकि हँसि सर-चाप सजि कोसलधनी;
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मरकट अनी।"
२७७(१७)

यहाँ भय, जड़ता, विस्मय आदि भावों की उत्साह-भाव से शान्ति है।

अन्यत्र पाद गमनार्थ उठा रहीं सो—
वो देख रूप शिव का पुलकाङ्गिनीं हो;
मार्गावरुद्ध गिरि से सरिता-गती ज्यों,
यों पार्वती चल सकीं, न सकीं खड़ी हो[1]।२७८

यह पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा करने के लिये छद्म-वेष में गए हुए श्रीशङ्कर द्वारा उस कपट-वेष के दूर कर देने पर श्रीगिरिजा की तात्का-

---

१ पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा लेने के लिये, ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण करके आए हुए श्रीमहादेवजी जब अपनी निन्दा के वाक्य कहते हुए न रुके तब, अधिक सहन न करके पार्वतीजी ने वहाँ से उठकर जाने के लिये बड़े आवेग के एक चरण उठाकर आगे रक्खा ही था कि इतने में उस कपट-वेष को दूर करके शङ्कर ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। उस रूप को देखकर पार्वतीजी न तो आगे को जाने के लिये दूसरा चरण उठा सकीं, और न पीछे ही हट सकीं। उनकी दशा ऐसी हो गई, जैसे 'मार्ग में पर्वत के आ जाने से नदी का प्रवाह न तो आगे ही जा सकता है, और न वेग के कारण पीछे ही हट सकता है।

लिक अवस्था का वर्णन है । यहाँ आवेग सञ्चारी भाव की हर्ष-भाव से और हर्ष-भाव की जड़ता से शान्ति है ।

भावोदय

जहाँ किसी भाव की शान्ति के अनन्तर किसी कारण से दूसरे भाव का उदय हो, और उसी में चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' होता है ।

मैं हौं हठी तुम हो कपटी अस की उछटी बतियाँ जब प्यारी ;
पाँय परे की न मान कियो अपमान निरास भए गिरिधारी ।
रूठि चले पिय कौं लखिकै छतियाँ धरि हाथ उसास निकारी ;
त्यौं अँसुवान भरी अखियाँन की दीठ प्रिया सखियान पै डारी ॥२७६

यहाँ नायक के लौट जाने पर कलहान्तरिता नायिका में 'विषाद सञ्चारी भाव' का उदय है, और उसी में चमत्कार है । 'भाव-शान्ति' में दूसरे भाव का उदय होता है, और भावोदय में पहले भाव की शान्ति । अतएव भाव-शान्ति और भावोदय में कोई विशेष भेद नहीं है । किन्तु रसगङ्गाधरकार का मत है कि दोनों को समान मानने में चमत्कार नहीं रहेगा, इसीलिये पृथक् पृथक् दो भेद माने गए हैं । एक मत यह भी है कि जहाँ पहले भाव की शान्ति में अधिक चमत्कार होता है वहाँ भाव-शान्ति और जहाँ पिछले भाव के उदय में अधिक चमत्कार होता है वहाँ भावोदय समझना चाहिये ।

भाव-सन्धि

जब समान चमत्कारवाले दो भावों की उपस्थिति एक ही साथ हो, वहाँ भाव-सन्धि होती है ।

यहाँ भी हर्ष भाव की विषाद-भाव से शान्ति है।

कहीं-कहीं एक से अधिक भावों की भी भाव-शान्ति होती है। जैसे—

"बहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र-लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिँ खरे;
निज सेन चकित विलोकि हँसि सर-चाप सजि कोसलधनी;
माया हरी हरि निमिप महँ हरपी सकल मरकट अनी।"
२७७(१७)

यहाँ भय, जड़ता, विस्मय आदि भावों की उत्साह-भाव से शान्ति है।

अन्यत्र पाद गमनार्थ उठा रहीं सो—
वो देख रूप शिव का पुलकाङ्गिनीं हो;
मार्गावरुद्ध गिरि से सरिता-गती ज्यों,
यों पार्वती चल सकीं, न सकीं खड़ी हो[१]। २७८

यह पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा करने के लिये छल-वेष में गए हुए श्रीशङ्कर द्वारा उस कपट-वेष के दूर कर देने पर श्रीगिरिजा की तात्का-

---

१ पार्वतीजी की प्रेम-परीक्षा लेने के लिये, ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण करके आए हुए श्रीमहादेवजी जब अपनी निन्दा के वाक्य कहते हुए न रुके तब, अधिक सहन न करके पार्वतीजी ने वहाँ से उठकर जाने के लिये बड़े आवेग के एक चरण उठाकर आगे रक्खा ही था कि इतने में उस कपट-वेष को दूर करके शङ्कर ने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। उस रूप को देखकर पार्वतीजी न तो आगे को जाने के लिये दूसरा चरण उठा सकीं, और न पीछे ही हट सकीं। उसकी दशा ऐसी हो गई, जैसे 'मार्ग में पर्वत के आ जाने से नदी का प्रवाह न तो आगे ही जा सकता है, और न वेग के कारण पीछे ही हट सकता है।

लिक अवस्था का वर्णन है । यहाँ आवेग सञ्चारी भाव की हर्ष-भाव से और हर्ष-भाव की जड़ता से शान्ति है ।

भावोदय

जहाँ किसी भाव की शान्ति के अनन्तर किसी कारण से दूसरे भाव का उदय हो, और उसी में चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' होता है ।

मैं हौं हठी तुम हो कपटी अस की उछटी बतियाँ जब प्यारी ;
पाँय परे की न मान कियो अपमान निरास भए गिरिधारी ।
रूठि चले पिय कौं लखिकै छतियाँ धरि हाथ उसास निकारी ;
त्यों अँसुवान भरी अखियाँन की दीठ प्रिया सखियान पै डारी ।।२७९

यहाँ नायक के लौट जाने पर कलहान्तरिता नायिका में 'विषाद सञ्चारी भाव' का उदय है, और उसी में चमत्कार है । 'भाव-शान्ति' में दूसरे भाव का उदय होता है, और भावोदय में पहले भाव की शान्ति । अतएव भाव-शान्ति और भावोदय में कोई विशेष भेद नहीं है । किन्तु रसगङ्गाधरकार का मत है कि दोनों को समान मानने में चमत्कार नहीं रहेगा, इसीलिये पृथक् पृथक् दो भेद माने गए हैं । एक मत यह भी है कि जहाँ पहले भाव की शान्ति में अधिक चमत्कार होता है वहाँ भाव-शान्ति और जहाँ पिछले भाव के उदय में अधिक चमत्कार होता है वहाँ भावोदय समझना चाहिये ।

भाव-सन्धि

जब समान चमत्कारवाले दो भावों की उपस्थिति एक ही साथ हो, वहाँ भाव-सन्धि होती है ।

मुख घूँघट को पट है न तऊ जुग नैनन कौं तरसाय रही ;
अति दुर्लभ जानत हौं मिलिबो मन कौं जु तऊ ललचाय रही ।
मद-जोवन सौं मतवारी भई तन की छवि कौं दरसाय रही ;
हँसि हेरत में मुख फेरत में हिय कौं हुलसाय जराय रही ।
२८०

यहाँ हर्ष और विषाद भावों की सन्धि है ।

"प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल ;
खेलत मनसिज-मीन जुग जनु विधुमण्डल डोल ।"
२८१(१७)

यहाँ औत्सुक्य और व्रीड़ा भावों की सन्धि है ।

"देख्यो चहै पिय को मुख पै अँखियाँ न करै जिय की अभिलाषी ;
चाहति 'संभु' कहै मन में बतियाँ मुख में पुनि जाति न भाषी ।
भेटिबे कों फरकैं भुज पै नहिँ जीभ ते जाइ नहीं नहिँ भाखी ;
काम सँकोच दुहूँन वहू बलि आजु दुराज-प्रजा करि राखी ।"
२८२(४९)

भाव-शवलता

एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा, इस प्रकार बहुत-से भावों का एक ही स्थान पर सम्मेलन होने को भाव-शवलता कहते हैं ।

या विधि की विपरीत कथा हा ! विदेह-सुता कित है अरु मैं कित ;
ता मृगनैनी विना वन में अब होइ मो प्रान अधारहुं को इत ।
मोहि कहेंगे कहा सब लोग ? रु कैसे लखौंगो उन्हें समुहै चित ;
राज रसातल जाहु अबै है धरातल जीवन हू में कहा हित ।
२८३

यह जानकी जी के वियोग में श्रीरघुनाथ जी की कातरोक्ति है। यहाँ 'विधि को विपरीत कथा' में 'असूया' है। 'हाय विदेह-सुता कित' में 'विषाद' है। 'ता मृगनैनी' में 'स्मृति' है। 'मेरा प्राण-आधार कौन होगा'? यह वितर्क है। 'लोग मुझे क्या कहेंगे' यह 'शङ्का' है। 'मैं उन लोगों के सम्मुख कैसे देखूँगा' यह 'व्रीडा' है। और 'राज रसातल जाहु' इत्यादि में निर्वेद है। इन बहुत-से भावों की प्रतीति होने से यहाँ 'भाव-शबलता' है।

एक मत यह है कि तिल-तन्दुलन्याय[1] से पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव-शबलता है। दूसरा मत यह है कि यदि ऐसा माना जायगा तो इस लक्षण की 'भाव-सन्धि' में अतिव्याप्ति हो जायगी। अर्थात् भाव-शबलता और भाव-सन्धि में कुछ भेद न रहेगा। अतः एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का (जो निवृत्त हो गया है) फिर न होना शबलता है। तीसरा मत यह है कि युद्ध में जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दीख पड़ता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और कोई उपमर्दन करता हुआ माना जाना चाहिए और ऐसा करने में तिल-तन्दुल-न्याय के अनुसार 'भाव-सन्धि' में अतिव्याप्ति भी नहीं होती है।

'भाव-शान्ति' आदि चार अवस्थाओं की भाँति 'भाव-स्थिति' भी एक अवस्था है। किन्तु भाव-शान्ति आदि चारों अवस्थाओं के सिवा भाव का होना ही भाव-स्थिति है, अतएव प्रधानता से व्यञ्जित व्यभिचारि और अपुष्ट रति आदि के उदाहरण जो पहले दिखाए गए हैं, वे भाव-स्थिति के ही उदाहरण हैं।

---

१ चावल और तिलों के मिल जाने पर भी पृथक् पृथक् दिखाई देते रहना तिल-तन्दुल-न्याय है।

चतुर्थ स्तवक का चतुर्थ पुष्प[1]

—:❀:—

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम संलक्ष्य होता है, अर्थात् भले प्रकार से क्रम प्रतीत होता है उसे संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि कहते हैं।

जहां वाच्यार्थ का-बोध हो जाने के बाद व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वहां यह ध्वनि होती है। जैसे घड़ावल के बजने पर पहले जोर का टङ्कार होता है तदनन्तर अनुरणन अर्थात् झङ्कार होता है, उसी प्रकार टङ्कार के समान वाच्यार्थ का बोध होने पर झङ्कार की भांति इस ध्वनि में व्यंग्य अर्थ की ध्वनि निकलती है। जैसे टङ्कार की अपेक्षा झङ्कार मधुर होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ मधुर होता है और टङ्कार का झङ्कार के साथ पौर्वापर्य क्रम—पहिले पीछे का क्रम—स्पष्ट जाना जाता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम इस ध्वनि में स्पष्ट प्रतीत होता है। इस ध्वनि में रस, भाव आदि की तरह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम असंलक्ष्य नहीं रहता है।

---

१ यहां तक अभिधा-मूलाध्वनि के पूर्वोक्त भेदों में असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के भेदों का निरूपण किया गया। अब संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के भेदों का निरूपण किया जाता है।

पूर्वोक्त असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ध्वनि में जह विभावादिकों से व्यक्त होनेवाले स्थायी भावों के उद्रेकातिशय से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहां 'रस-ध्वनि' होती है। जहां अपने अनुभावों से व्यक्त होनेवाले व्यभिचारी आदि[1] के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहां 'भाव-ध्वनि' होती है। और इस संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि में, व्यंग्यीभूत व्यभिचारियों की अपेक्षा न करके केवल विभाव-अनुभावों के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, अर्थात् रस, भाव आदि के बिना वस्तु या अलङ्कार की ध्वनि होती है।

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य कहीं शब्द-शक्ति द्वारा, कहीं अर्थ-शक्ति द्वारा और कहीं शब्द-अर्थ उभय शक्ति द्वारा प्रतीत होता है। अतः इस ध्वनि के तीन भेद हैं—(१) शब्द-शक्ति उद्भव अनुरणन-ध्वनि, (२) अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि, और (३) शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि।

(१) शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि

जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उसी शब्द से, न कि उसके पर्याय-वाचक[2] शब्द से, जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वहां शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि होती है।

यह दो प्रकार की होती है—(१) वस्तु-ध्वनि और (२) अलङ्कार-ध्वनि। वस्तु उस अर्थ को कहते हैं जिसमें कोई अलङ्कार नहीं होता है।

---

१ यहां 'आदि' पद से अपुष्ट 'रति' आदि नवों स्थायी भाव भी समझना चाहिये।

२ पर्यायवाचक अर्थात् उसी अर्थ का बोध कराने वाला दूसरा शब्द।

अतः जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो जिसमें कोई अलङ्कार न हो, वहाँ वस्तु-ध्वनि कही जाती है। जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो जिसमें कोई अलङ्कार हो; वहाँ अलङ्कार-ध्वनि कही जाती है।

अलङ्कार और अलङ्कार्य।

अलङ्कार-ध्वनि के विषय में एक बात यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है, कि अलङ्कार और अलङ्कार्य दो पदार्थ हैं। अलङ्कार उसे कहते हैं जो दूसरे को शोभायमान करता है; जैसे, हार, कुण्डल, आदि शरीर को शोभित करते हैं। अलङ्कार्य उसे कहते हैं जो दूसरे से शोभित होता है; जैसे, मनुष्य का शरीर अलङ्कारों से शोभित होता है। इसी प्रकार जब उपमा आदि अलङ्कार शब्दार्थ (वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ) को शोभित करते हैं तब उन्हें अलङ्कार कहते हैं। जब वे स्वयं व्यंग्यार्थ में प्रधानता से प्रतीत होते हैं तब अलङ्कार्य हो जाते हैं। अतः उन्हें 'अलङ्कार-ध्वनि' कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जो अलङ्कार्य (व्यंग्यार्थ) है, वह अलङ्कार (वाच्यार्थ) किस प्रकार कहा जा सकता है? अर्थात् अलङ्कार-ध्वनि में जो उपमा आदि अलङ्कार ध्वनित होते हैं उनको यदि प्रधान माना जायगा तो उनमें अलङ्कारता कहाँ रह सकेगी। दूसरे को शोभायमान करना जो अलङ्कार का धर्म है वह उनमें नहीं रहेगा, क्योंकि दूसरे को शोभित करनेवाला तो अप्रधान होता है। यदि उनको (ध्वनित होनेवाले उपमा आदि अलङ्कारों को) अप्रधान माना जायगा तो उनमें ध्वनित्व नहीं रह सकेगा, क्योंकि जो ध्वनि (व्यंग्यार्थ) वह तो प्रधान अर्थ ही होता है। निष्कर्ष यह है कि एक ही पदार्थ को अलङ्कार (दूसरे को शोभित करने वाला) और अलङ्कार्य (दूसरे द्वारा शोभायमान होने वाला) अर्थात् अप्रधान और प्रधान किस प्रकार कहा जा सकता है?

इसका समाधान ब्राह्मण-क्षपणक-न्याय[1] द्वारा हो जाता है।

शब्द-शक्ति-उद्भव वस्तु-ध्वनि।

पत्थर थल[2] हैं पथिक ! इत सत्थर[3] कहुँ न लखायँ।
उठे पयोधर देखि जो रह्यो चहतु रहि जायँ।२८४

यह पथिक के प्रति स्वयं दूतिका नायिका की उक्ति है। यहाँ पहले तो यह वाच्यार्थ बोध होता है कि 'यहाँ बिछौने आदि नहीं हैं, पहाड़ी गाँव है। यदि उठे हुए पयोधरों को—बद्दलों को—देखकर रात्रि के समय, मार्ग में वर्षा की पीड़ा समझकर, रहने की इच्छा हो तो यहाँ रुक जाइए, इस वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दों की शक्ति से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि 'परस्त्री-गमन का निषेध करनेवाले शास्त्रों को यहाँ कोई नहीं पूछता है। यदि मेरे उठे हुए (उन्नत) पयोधरों को (स्तनों को) देखकर इच्छा होती है तो रुक जाइए'। यहाँ यदि 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दों के स्थान पर इनके

---

१ जैसे कोई व्यक्ति पहले ब्राह्मण था और फिर क्षपणक (बौद्ध संन्यासी) हो गया, उस अवस्था में उसमें ब्राह्मणत्व न रहने पर भी—शिखा-सूत्र का अभाव रहने पर भी—उसे ब्राह्मण-क्षपणक कहते हैं। इसी का नाम ब्राह्मण-क्षपण कन्याय है। इसी प्रकार अलङ्कारों के अलङ्कार्य अवस्था को प्राप्त हो जाने पर (व्यंग्यार्थ में व्यक्त हो जाने पर) उनमें यद्यपि वस्तुतः अलङ्कारता (दूसरे को शोभित करने वाली अप्रधानता) नहीं रहती है, तथापि इनको अलङ्कार-ध्वनि इसलिये कहा जाता है कि उनकी पहले अलङ्कार संज्ञा थी।

२ पत्थर फैला हुआ स्थल अर्थात् पहाड़ी ग्राम।

३ यह शब्द प्राकृत भाषा का है। इसके अर्थ शास्त्र और बिस्तर (बिछौना) दोनों हैं।

पर्यायवाची शब्द विस्तर और उरोज आदि बदल दिए जायँगे तो उपर्युक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकेगा। शब्द के आश्रय से ही यहाँ व्यंग्य है, अतएव यह शब्द-शक्ति उद्भव ध्वनि है।

यह वस्तु-ध्वनि इसलिये है कि इस व्यंग्यार्थ में कोई अलङ्कार प्रतीत नहीं होता है। अनुरणन-ध्वनि इसलिये है कि यहाँ वाच्यार्थ का बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ की क्रमशः ध्वनि निकलती है।

शब्द-शक्ति-उद्भव अलङ्कार-ध्वनि।

उपादान-संभार[1] बिनु जगत-चित्र[2] बिन भींत[3] ;
कलाकार हर[4] ने रच्यो वंदौं उन्हैं विनीत।२८४॥

यहाँ वाच्यार्थ में भगवान् शंकर का चित्र-कला सम्बन्धी लोकोत्तर उत्कर्ष कहा गया है। इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि प्रवीण चित्रकार रङ्ग और लेखनी (चित्र लिखने की कलम) आदि सामग्रियों से और दीवार आदि किसी प्रकार के आधार पर ही चित्र बना सकता है, पर भगवान् शङ्कर ने बिना ही किसी सामग्री और आधार के—शून्य स्थान पर चित्र अर्थात् नाना प्रकार का जगत् चित्र बनाया है। इस व्यंग्यार्थ द्वारा साधारण चित्रकार से श्रीशङ्कर का आधिक्य सूचित होता है, अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार की ध्वनि है। यदि 'चित्र' और 'कला'-शब्द बदल दिए जायँ तो यह व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता, इसलिये शब्द-शक्ति-उद्भव अलङ्कार-ध्वनि है।

---

१ रचना करने की सारी सामग्रियों के अभाव में।

२ तसवीर अथवा विचित्र।

३ दीवार।

४ प्रशंसनीय चन्द्रमा की कला धारण करने अथवा चित्रकला में प्रवीण श्रीशिव।

प्रबल कालकर बाल घन जल धारान प्रपातु ;
अरिन प्रतापानल सकल देव, तुम्हीं बिनसातु । २८६

यह किसी राजा के प्रति कवि की उक्ति है—हे राजन्, आप घन (मेघ) के समान प्रबल काल (काले रंग की भयङ्कर अथवा मृत्युरूप भयङ्कर) अपनी करवाल (तलवार) की जलधार (तलवार की धार को पानीदार कहा ही जाता है) के प्रदान से (प्रहार से) शत्रुओं के प्रताप रूप सारे अग्नि को विनाश करते हो। इस वाच्यार्थ का बोध कराके अभिधा शक्ति रुक जाती है। तदनन्तर इस वाच्यार्थ द्वारा इन्द्र विषयक अर्थ यह प्रतीत होता है कि—हे देव, आप अपने प्रबल (भयङ्कर) कालकर (काले रंग वाले) बाल (नवीन) घन (मेघों) की धाराओं के प्रपात से (घोर जल वर्षा करके) अपने अरि (जल के शत्रुओं) के सम्पूर्ण प्रताप (अत्यन्त ताप) को विनाश करते हैं। यहाँ वाच्यार्थ में प्राकरणिक राजा की प्रशंसा है, और व्यंग्यार्थ में अप्राकरणिक इन्द्र का वर्णन। अतएव इस व्यंग्यार्थ द्वारा राजा को इन्द्र की उपमा प्रतीत होने के कारण यहाँ उपमा अलङ्कार की ध्वनि है।

जहाँ शब्द-उद्भव-शक्ति द्वारा व्यंग्य से अलङ्कार ध्वनित होता है, अर्थात् वस्तु-रूप वाच्यार्थ के बोध हो जाने के बाद अलङ्कार-रूप व्यंग्यार्थ क्रमशः बोध होता है, वहीं शब्द-शक्तिउद्भव अलङ्कार-ध्वनि होती है। जहाँ शब्द-शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थ व्यंग्यार्थ रूप न होकर सभी अर्थ एक साथ बोध होते हैं, वहाँ ध्वनि नहीं, किन्तु श्लेषालङ्कार होता है। जैसे—

हैं पूतना-मारण में सुदक्ष,
जघन्य काकोदर था विपक्ष।
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु,
शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु ॥२८७

यहाँ शब्द-शक्ति द्वारा एक साथ ही श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र

दोनों का वर्णन है, यह दोनों अर्थ वाच्यार्थ हैं और न इनमें उपमेय और उपमान-भाव ही व्यंग्य है, अतः उपमा अलङ्कार की ध्वनि नहीं है, केवल शब्द-श्लेप अलङ्कार मात्र[1] है।

---

(२) अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणान-ध्वनि

जहां शब्द-परिवर्तन होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती रहे, वहां अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

पूर्वोक्त शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि में शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं होता, किन्तु इस (अर्थ शक्ति-उद्भव ध्वनि) में शब्द-परिवर्तन करने पर भी व्यंग्यार्थ सूचित होता है। अतः यह शब्द पर निर्भर न होने के कारण अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि है। व्यञ्जक अर्थ (जिससे व्यंग्यार्थ सूचित होता है) तीन प्रकार का होता है—(१) 'स्वतः सम्भवी', (२) 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध' और (३) 'कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र से सिद्ध'।

इन तीनों भेदों में कहीं तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही वस्तु रूप या अलङ्कार रूप होते हैं, और कहीं दोनों (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ) में एक वस्तु-रूप और दूसरा अलङ्कार-रूप होता है, अतएव इन तीनों के चार-चार भेद होते हैं।

स्वतः सम्भवी

जो 'अर्थ' (वर्णन) कवि की कल्पना-मात्र ही न हो, किन्तु सम्भव भी हो, अर्थात् लोक-व्यवहार में असम्भव प्रतीत न हो, वह स्वतः सम्भवी है। इसके निम्नलिखित चार भेद हैं—

---

१ श्लेष अलङ्कार का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में किया गया है।

(क) स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी वस्तु रूप और व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप।

(ख) स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ अलङ्कार-रूप।

(ग) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तु-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ अलङ्कार-रूप और व्यंग्यार्थ वस्तु रूप।

(घ) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी अलङ्कार और व्यंग्यार्थ भी अलङ्कार।

(क) स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

सर सनमुख धावहिँ फिरहिँ, फिर आवहिँ फिर जाहिँ,
मधुप-पुंज ये अति मधुर गुंजत अधिक सुहाहिँ। २८८

यहाँ मधुर-मधुर गुञ्जायमान भौंरों का सरोवर के पास बार-बार लौटकर आना, जो वाच्यार्थ है, वह वस्तु रूप है, क्योंकि इसमें कोई अलङ्कार नहीं है, इस वाच्यार्थ का बोध होने के बाद यह व्यंग्य प्रतीत होता है कि कमलों का शीघ्र ही विकास होने वाला है, तथा शरद्-ऋतु आ रही है। और यह व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप है—इसमें भी कोई अलङ्कार नहीं है। भ्रमरों का मधुर गुञ्जार जो वाच्यार्थ है, वह और शरद् का होने वाला प्रादुर्भाव दोनों ही स्वतः सम्भवी हैं क्योंकि इन बातों का होना सम्भव है, अतः यहाँ स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य है।

मृदु पद रख धीरे कण्टका भू-स्थली है;
सिर पट ढकिए री! घाम कैसी घनी है।
पथि पथिक-वधू यों मैथिली को सिखातीं;
दृग-सलिल बहातीं, प्रेम को थीं दिखाती। २८९

श्रीरघुनाथजी के वन-गमन की कथा कहते हुए सुमन्त्र की राजा दशरथ के प्रति जो यह उक्ति है, वह वस्तु-रूप वाच्यार्थ है। इसके बाद

यहाँ 'जानकीजी' के अङ्गों की सुकुमारता, उनका पातिव्रत्य और इस दुस्सह अवस्था में भी पति का साथ देना, इत्यादि जो भाव पथिकाङ्गनाओं के हृदय में उठे हुए प्रतीत होते हैं, वह व्यंग्यार्थ है, और वह भी वस्तु रूप है।

(ख) स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य।

रवि-प्रताप हू घटत है दच्छिन दिसि जब जाय;
रघु-प्रताप नहिँ सहि सके नृपगन तिहिँ दिसि माँय।२६०

यह राजा रघु के दिग्विजय का वर्णन है। 'दक्षिण दिशा में जाकर (दक्षिणायन होकर) सूर्य का भी प्रताप (ताप) घट जाता है, पर उस दिशा में भी महाराज रघु का प्रताप नहीं घटा--उसके प्रताप को दक्षिण दिशा में पाण्ड्य देश के राजा नहीं सह सके।' यह स्वतः सम्भवी वस्तु-रूप वाच्यार्थ है—कवि कल्पित नहीं है। और इस वाच्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ में सूर्य के तेज से रघु के तेज का उत्कर्ष सूचित होने के कारण इस व्यंग्यार्थ में 'व्यतिरेक' अलङ्कार की ध्वनि निकलती है। अतः वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य है।

"गेह तज्यौ अरु नेह तज्यौ पुनि खेह लगाइकै देह सँवारी;
मेघ सहे सिर सीत सहे तन धूप-समैं जु पँचागनि जारी।
भूख सही रहे रूख तरैं यह 'सुंदरदास' सहे दुख भारी;
डासनि छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्यौ पै आस न मारी।"
२६१(५०)

यहाँ गेह आदि सब वस्तुओं के त्यागने पर भी आशा का बना रहना कहा गया है। इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'आशा के त्यागे बिना घर आदि का त्याग वृथा है'। इस व्यंग्यार्थ में विनोक्ति अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

(ग) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य।

"ऐसे रन रावन बुलाए बीर बानइत,
जानत जे रीति सब संजुग समाज की;

चली चतुरंग चमू चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग राति-चर-राज की।
'तुलसी' विलोकि कपि भालु किलकित्त-लल—
कत्तः लखि ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की;
राम-रुख निरखि हरख्यो हियो हनूमान,
मानो खेलवार खोली सीस-ताज बाज की।" २६२(१७)

रावण की सेना को देखकर श्रीरघुनाथजी ने, युद्ध करने के लिये, हनुमानजी को सङ्केत किया। उस सङ्केत से हनुमानजी को जो हर्ष हुआ, उस हर्ष में शिकारी द्वारा नेत्रों का ढकन हटाये हुए बाज पक्षी की उत्प्रेक्षा की गई है। इस वाच्यार्थ के उत्प्रेक्षा-अलङ्कार से यह वस्तु रूप व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि रावण से युद्ध करने के लिये हनुमानजी की जो चिरकाल से उत्कट उत्कण्ठा थी, वह पूर्ण हो गई।

जीरन बसन विहाय जिमि पहरत अपर नवीन;
तिमि पावत नव-देह नर तजि जीरन तन-छीन ॥२६३

गीताजी में भगवान् की इस उक्ति में उपमा अलङ्कार स्वतः सम्भवी वाच्यार्थ है। इसमें वस्तु रूप ध्वनि यह है कि धर्मयुद्ध में मरने पर स्वर्ग में दिव्य देह मिलता है अतः भीष्मादिक पूज्य व्यक्तियों को बध करने का शोक करना व्यर्थ है।

(घ) स्वतः सम्भवी अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य।

रिपु-तिय-रद-छद अधर को दुख सब दियो मिटाइ;
नृप ! तुम रन में कुपित ह्वै अपने अधर चबाइ। २६४

कवि, राजा से कहता है कि 'संग्राम में कुपित होकर अपने ओठों को चबाकर तुमने अपने शत्रुओं की स्त्रियों के अधरों का दुःख (जो उनके पतियों द्वारा किए गए दन्त-क्षतों से होता) दूर कर दिया'। यह वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ में 'अपने अधरों को चबाकर दूसरों के अधरों का

दुःख दूर करना' यह विरोधाभास-अलङ्कार है। इस अलङ्कार द्वारा 'अधरों का चबाना' और 'शत्रुओं का मारना' दो किया एक काल में होने में समुच्चय अलङ्कार की ध्वनि है।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

जो अर्थ केवल कवि की कल्पना मात्र ही हो अर्थात् जिसका होना असम्भव हो उसे कवि की प्रौढ़ोक्ति कहते हैं। जैसे काली वस्तु को सफेद करने वाली चन्द्रमा की चांदनी केवल कवियों की कल्पना मात्र है। क्योंकि ऐसी चाँदनी देखी नहीं जाती। इस प्रकार के कवि-कल्पित वर्णन को कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध कहते हैं। इसके भी निम्न लिखित चार भेद होते हैं:—

(क) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।
(ख) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तसे अलङ्कार व्यंग्य।
(ग) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यग्य।
(घ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य।

(क) कवि प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यंग्य।

कुसुम-बान सहकार के मधु केवल न सजातु;
सनमुख करि तरुनीन के स्मर-कर में पकरातु।२९५

यह वसन्त-वर्णन है। वसन्त को बाण बनानेवाला, कामदेव को योद्धा, स्त्री-जनों को लक्ष्य, और आम्र को बाण कहा गया है। किन्तु काम योद्धा या उसके चलते हुए बाण नहीं देखे जाते हैं यह केवल कवि की कल्पना-मात्र है। अतः यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु-रूप वाच्यार्थ है। यहाँ 'यह कामोद्दीपक काल है' यह वस्तु-रूप व्यंग्य है।

(ख) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध-वस्तु से अलङ्कार-व्यंग्य।

निसि ही में ससि करतु है केवल भुवन प्रकास।
तेरो जस निसि-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास।२९६

राजा के यश से त्रिभुवन में प्रकाश होना कवि-कल्पना-मात्र है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति है। इस वाच्यार्थ में कोई अलङ्कार की स्थिति न होने से वस्तु मात्र है। 'चन्द्रमा केवल रात्रि में ही प्रकाश करता है, और तेरा यश दिन-रात', इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ से राजा के यश में चन्द्रमा के प्रकाश से अधिकता व्यंग्य से सूचित होती है, अतः व्यतिरेक-अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

"हम खूब तरह से जान गए जैसा आनँद का कंद किया,
नव-रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया।
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी लै फिर-विधि ने यह फरफंद किया;
चंपक-दल सोनजुही नरगिश चामीकर चपला मंद किया।"
२९७(५१)

यहाँ वाच्यार्थ में अङ्गों के रूप-लावण्य की रचना करके बची हुई सामग्री से चम्पक-दल आदि की रचना किया जाना कहा गया है। यह कवि-प्रौढ़ोक्ति है। इसके व्यंग्यार्थ में व्यतिरेक-अलङ्कार की ध्वनि निकलती है, क्योंकि चम्पक आदि से अङ्गों की कान्ति की अधिकता सूचित होती है।

(ग) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध अलङ्कार से वस्तु-व्यंग्य।

रावन सिर के मुकुट सों तिहिँ छिन भुवि-तल आय।
मनि-मिस निसिचर लच्छि के अँसुवा गिरे ढराय॥२९८

'श्रीरघुनाथजी के जन्म-समय रावण के मुकुट से मणियों के गिरने का तो बहाना-मात्र था, वास्तव में राक्षसों की लक्ष्मी के आंसू पृथ्वी पर गिरे थे'। 'राक्षसों की लक्ष्मी के आंसू' कवि-कल्पित हैं—कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र है। 'मणियों के बहाने से आंसू गिरे' इस वाच्यार्थ में 'अपह्नुति'-अलङ्कार है। इसमें 'आगे को होनेवाला राक्षसों का विनाश'-रूप वस्तु-व्यंग्य है।

(घ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्धि अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य।

"कोप के कटाच्छ तें निहारत ही शत्रु ओर;
काम के कटाच्छ वाम तिनकी वितात हैं।
मूर्वी-गांडीव ताकौ सपरस करत अरी—
नारिन के कज्जल को परस मिटात है।
डसत हैं होठ आप पीर को सहत वीर
सत्रु-वधू होठनि की पीर सो विलात हैं।
बान के सँधानत ही अर्जुन के सत्रुन की—
त्रियन की चूरिन को चूरन दिखात है।"२९९(४६)

अर्जुन के युद्ध के वर्णन में यहाँ कवि की प्रौढ़ोक्ति है। 'शत्रुओं पर अर्जुन के कुपित कटाक्षों का गिरना' यह कारण और उन शत्रुओं की स्त्रियों के काम-कटाक्ष का अन्त हो जाना' यह कार्य भिन्न-भिन्न स्थान पर होने में असङ्गति-अलङ्कार वाच्यार्थ है। इस अलङ्कार द्वारा 'कार्य कारण का एक साथ होना' यह अतिशयोक्ति-अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

"नाहिँन ये पावक प्रवल लुवैं चलैं चहुँ पास।
मानहु विरह-वसंत के ग्रीसम लेत उसास॥"३००(२९)

यहाँ 'वसन्त के विरह में लूओं के रूप में ग्रीष्म-ऋतु का तप्त श्वास लेना' इस वाच्यार्थ रूप कवि की प्रौढ़ोक्ति में सापह्नव उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। इस उत्प्रेक्षा द्वारा "जब स्वयं ग्रीष्म ऋतु ही तप्त श्वास ले रही है, तब जीवधारी मनुष्यादिकों के सन्ताप की बात ही क्या है" यह 'अर्थापत्ति' अलङ्कार व्यंग्यार्थ से ध्वनित होता है।

सुनत बिहारी के ललित दोहन-मोहन-मंत्र;
सहृदय हृदय न सुधि रहत लगत न जंत्र न तंत्र।३०१

बिहारी कवि के दोहों को मोहन-मन्त्र कहने में 'रूपक' अलङ्कार वाच्यार्थ है। इसके द्वारा 'अन्य मन्त्रों की मोहन-शक्ति पर जंत्र-तंत्रों का

प्रभाव हो सकता है, और इन मोहन-मन्त्रों पर कोई जंत्र-मंत्र नहीं चल सकता' यह उत्कर्ष सूचित होता है। अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार व्यंग्य है। यह कवि-कल्पित वर्णन है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र है।

कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति सिद्ध

जहाँ कवि की स्वयं उक्ति न होकर कवि द्वारा कल्पित पात्र की-अर्थात् नायक-नायिका आदि अन्य व्यक्ति की उक्ति द्वारा लोकातिरिक्त केवल कल्पनात्मक वर्णन किया जाता है, उसे कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध कहा जाता है। पूर्वोक्त 'कवि प्रौढ़ोक्ति में' कवि स्वयं वक्ता होता है, और इसमें कवि-कल्पित पात्र बस, इन दोनों में केवल यही भेद है। इसके भी निम्नलिखित चार भेद होते हैं—

(क) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।
(ख) कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यग्य।
(ग) कवि-निबद्ध पात्र-प्रौ० अलङ्कार से वस्तु व्यंग्य।
(घ) कवि-निबद्ध पात्र-प्रौ० अलङ्कार से अलङ्कार व्यंग्य।

(क) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यंग्य।

"करी बिरह[1] ऐसी तऊ गैल न छाँड़त नीच।
दीन्हेऊ चसमा चखनि चाहत लखै न मीच।"३०२(२९)

यहाँ मृत्यु के नेत्र में चश्मे का होना कवि-कल्पित वस्तु रूप है। वक्ता विरह निवेदना दूती है। अतः कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति है। 'नायिका की अत्यन्त कृशता का सूचित होना' यह वस्तु-व्यंग्य है।

---

१ विरह ने उसे इतनी दुबली कर दी है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती, फिर भी नीच विरह उसका पिंड नहीं छोड़ता।

(ख) कवि-निबद्ध-पात्रकी प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तुसे अलंकार-व्यंग्य।

मदन-बान की पंचता कीन्ही हाय अनंत;
विरहिन कौं अब पंचता दीन्ही आय वसंत।३०३

यहाँ कवि-निबद्ध नायिका की उक्ति है—हे सखि, कामदेव के पुष्प बाणों की जो पञ्चता (पांच की संख्या) थी वह वसन्त ऋतु ने अनन्त (असंख्य) कर दी अर्थात् बाणों की पञ्चता तो छुटा दी और वियोगियों को पञ्चता (मृत्यु) दे दी। यह वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसके द्वारा—वसन्त ने कामदेव के बाणों की पञ्चता लेकर मानो विरही जनों को वह (पञ्चता) दे दी। यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यंग्य से प्रतीत होता है। यहाँ 'पञ्चता' शब्द द्वयर्थक है।

(ग) कवि-निबद्ध-पात्रकी प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकारसे वस्तु-व्यंग्य।

मानिनि! मालति-कुसुम पै गुंजत भ्रमर सुहाहिँ;
मानो मदन-प्रयान के सु-समय संख बजाहिँ।३०४

मानिनी के प्रति कवि-निबद्ध सखी की यह प्रौढ़ोक्ति है। भ्रमर के गुञ्जार में कामदेव के शंख की उत्प्रेक्षा वाच्यार्थ है। इस उत्प्रेक्षा-अलङ्कार द्वारा "कामोद्दीपक समय आ गया, फिर भी तू मान नहीं छोड़ती" यह वस्तु-ध्वनि निकलती है।

"मरबे को साहस कियौ बढ़ी विरह की पीर;
दौरति है समुहै ससी सरसिज सुरभि-समीर।३०५(२६)

यह कवि-निबद्ध दूति की नायक के प्रति प्रौढ़ोक्ति है। मरने के लिये चन्द्रमा और कमलों के सम्मुख दौड़ना इच्छा के विरुद्ध प्रयत्न है। अतः वाच्यार्थ में विचित्र अलङ्कार है इसमें 'नायिका का अत्यन्त विरह-सन्ताप होना' यह वस्तु-ध्वनि है।

(घ) कवि-निबद्ध-पात्र को प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार-व्यंग्य।

तुव हिय बहु रमनिन भरयौ मिलत न ताकौ ठौर ;
छाँड़ि काज सब करत वह कृस तन अब कृस और। ३०६

यहाँ कवि-निबद्ध दूती की दक्षिण-नायक के प्रति प्रौढ़ोक्ति है। 'बहुत-सी युवतियों के प्रेम से भरे हुए तुम्हारे हृदय में स्थान न मिलने के कारण वह बेचारी अब सब काम छोड़ कर प्रतिदिन अपने कृश देह को और भी कृश कर रही है; इसलिये कि अत्यन्त क्षीण होने से सम्भव है तुम्हारे हृदय में कुछ स्थान मिल जाय'। यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार वाच्यार्थ है क्योंकि दोहा के उत्तरार्द्ध के कथन का पूर्वार्द्ध में कारण कहा गया है। इसके द्वारा तुम्हारे विरह में 'कृश देह होने पर भी उसे तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं मिलता' अर्थात् कारण होते हुए भी कार्य का न होना, यह 'विशेषोक्ति' अलङ्कार व्यंग्य से प्रतीत होता है।

शब्द और अर्थ उभय शक्ति उद्भव-अनुरणन ध्वनि

जहां कुछ पदों का परिवर्त्तन न होने पर और कुछ पदों का परिवर्त्तन होने पर 'व्यंग्य' सूचित हो, वहाँ शब्दार्थ उभय-शक्ति-मूलक अनुरणन 'ध्वनि' होती है।

यह भेद केवल वाक्यगत ही होता है—पदगत नहीं। क्योंकि एक ही पद में दो विरुद्ध धर्म (अर्थात् शब्द-परिवर्तन सहन करना और सहन न करना) नहीं रह सकते। इसमें वस्तु के द्वारा अलङ्कार-व्यंग्य होता है, न कि वस्तु-रूप व्यंग्य, क्योंकि 'वस्तु' शब्दार्थ-उभय-मूलक नहीं होती, वस्तु के गोपन में—छिपाने में—केवल शब्द-शक्ति ही समर्थ है, अर्थ-शक्ति नहीं।

अनुपम चंद्राभरन जुत मनमथ प्रबल बढ़ातु ;
तरल तारका कलित यह श्यामा ललित सुहातु ।३०७।।

इसके दो अर्थ हैं, एक अर्थ यह है—'चन्द्रमा जिसका आभरण है, जो कामदेव को बढ़ाती है, और तरल तारका है, अर्थात् कहीं-कहीं कुछ तारागणों से युक्त है; ऐसी यह श्यामा (रात्रि) शोभित हो रही है। और दूसरा अर्थ यह है—जो, चन्द्र अर्थात् कपूर के भूषणों से अथवा चन्द्राभरण से (ललाट के भूषण से) युक्त है, कामदेव को बढ़ानेवाली है, और तरल-तारका[1] है, अर्थात् चञ्चल नेत्रोंवाली है (अथवा तारों के समान कान्तिवाले छोटे-छोटे हीरों की लटकन वाला हार धारण किए है) ऐसी यह श्यामा-कामिनी शोभायमान है' ये दोनों वाच्यार्थ हैं और वस्तु-रूप हैं। इनमें स्त्री के समान रात्रि शोभित है। अथवा चाँदनी रात्रि जैसी कामिनी शोभित है, यह उपमा अलङ्कार व्यंग्य से ध्वनित होता है। 'चन्द्र', 'तरल' और 'श्यामा' शब्दों के स्थान पर इन्हीं अर्थों के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर, दोनों अर्थ नहीं हो सकते, यह शब्द-शक्ति-मूलकता है, और 'आभरण' तथा 'बढ़ात' शब्दों के स्थान पर इसी अर्थ वाले दूसरे शब्द बदल देने पर भी दोनों अर्थ हो सकते हैं, यह अर्थ-शक्ति-मूलकता है। अतः यहाँ शब्द और अर्थ दोनों ही की शक्ति से व्यंग्यार्थ सूचित होने से यह शब्दार्थ-उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि है।

यहाँ तक ध्वनि के १८ भेदों का निरूपण किया गया है—

२ लक्षणा-मूला अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद—(१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि (पृष्ठ १०८) और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि (पृष्ठ ११२)

१६ अभिधामूला-विवक्षितवाच्य ध्वनि के १६ भेद—

१ असंलक्ष्यक्रमव्यंग ध्वनि के रस, भाव आदि को एक

---

१ तरल = चञ्चल, तारका = आँखों के बीच का काला मण्डल।

हो भेद माना जाता है (पृष्ठ ११६ से पृष्ठ २६० तक)

१५ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के १५ भेद (पृष्ठ २६१-२७५)

२ शब्द-शक्तिमूलक (१) वस्तु-व्यंग्य और

(२) अलङ्कार-व्यंग्य।

१२ अर्थ शक्ति मूलक—

४ स्वतः सम्भवी

४ कवि-प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध

४ कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति सिद्ध

१ शब्दार्थ उभय-शक्ति-मूलक (पृष्ठ १०७)

इन १८ भेदों के यथासंभव, अर्थात् पृष्ठ १०७ की तालिका के अनुसार, पदगत[1], वाक्यगत[2], प्रबन्धगत[3], पदांशगत[4], वर्णगत[5], और

---

१ सुबन्त और तिङन्त को 'पद' कहते हैं।

२ पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। अतएव पदों के समूहात्मक वाक्य में और पदों के समास में जो ध्वनि होती है वह भी वाक्यगत ध्वनि है।

३ महावाक्य को अर्थात् अनेक वाक्यों के समूह को 'प्रबन्ध' कहते हैं। प्रबन्ध दो प्रकार के होते हैं—ग्रंथ-रूप और ग्रंथ के अवान्तर प्रकरण-रूप।

४ पद के एक अङ्ग या अंश को 'पदांश' कहते हैं। जैसे धातु, नाम (प्रातिपदिक) तिङ् विभक्ति, सुप् विभक्ति, क्त आदि प्रत्यय, सम्बन्ध-वाचन षष्ठी विभक्ति, लङ् आदि लकार, वचन (एक वचन आदि), प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष, समास पूर्वनिपात विभक्ति विशेष, 'क' आदि तद्धित, 'प्र' आदि उपसर्ग, 'च' आदि निपात, सर्वनाम और समास आदि।

५ 'क' आदि वर्ण।

रचनागत[1], ५१ भेद होते हैं। इनमें से कुछ के उदाहरण इस प्रकार हैं—

पदगत ध्वनि

पदगत ध्वनि में प्रधानता से एक ही पद व्यञ्जक होता है, अन्य पद केवल उस पद के उपकारक होते हैं। जैसे नासिका आदि किसी एक अङ्ग में धारण किये गये भूषण से कामिनी के सारे शरीर की शोभा हो जाती है, उसी प्रकार एक पद के व्यंग्यार्थ से कवि-कृत सारे पद्य की रचना शोभा को प्राप्त हो जाती है[2]।

जाके सुहृद जु सुहृद हो रिपुहू रिपु ही होइ;
जनम सफल तिहिँ पुरुष को जीवित हू जग सोइ।३०८

यहाँ 'सुहृद' और 'रिपु' पद में अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि है। दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद्' शब्द के वाच्यार्थ में 'विश्वास के योग्य' और 'रिपु' शब्द के वाच्यार्थ में 'परास्त के योग्य' व्यंग्यार्थ सूचित होता है। इस ध्वनि की व्यञ्जना में यहाँ दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद' और 'रिपु' पद ही प्रधान हैं, इसी से यहाँ लक्षणामूला अर्थान्तरसंक्रमित पदगत ध्वनि है। पदगत 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' ध्वनि का उदाहरण 'लगि मुख के निःस्वास' (पृष्ठ ११३) में है।

---

१ गूँथने का नाम रचना है। इसके वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी और गौड़ी चार भेद हैं। वैदर्भी रचना समास-रहित होती है, पाञ्चाली दो-तीन या चार पदों के समासवाली, 'लाटी' पांच तथा सात पदों के समासवाली होती है, और गौड़ी में यथाशक्ति पदों का समास हो सकता है।

२ 'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी;
पदद्योतेन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।'
—ध्वन्यालोक ।

"सखी सिखावत मान-बिधि सैननि बरजति बाल ;
हरुये कहु मो हिय बसत सदा बिहारीलाल ॥"३०६(२६)

मान का उपदेश देनेवाली सखी के प्रति यह नायिका की उक्ति है। 'हे सखि ! तू मान करने की बातें बहुत धीरे-धीरे कह, क्योंकि मेरे हृदय में प्राणनाथ रहते हैं, वे कहीं सुन न लें'। यहाँ 'हरुये कहु' पद प्रधानता से पति में अनुराग सूचन करता है। अतः इस एक पद से सम्भोग-शृङ्गार ध्वनित होने से पद में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि है। इसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के शब्द-शक्ति-मूल तथा अर्थ-शक्ति-मूल वस्तु या अलङ्कार-ध्वनि के पदगत उदाहरण होते हैं।

वाक्यगत ध्वनि

'कनक पुष्प पुष्पित धरा' (पृष्ठ ११२) में कई पदों से बने हुए सारे वाक्य में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के उदाहरण रस प्रकरण में प्रायः वाक्यगत ही दिये गए हैं। जैसे संख्या १४१ आदि में वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण है।

प्रबन्धगत ध्वनि

यह ध्वनि एक वाक्य या एक पद्य में नहीं होती, किन्तु ग्रन्थ-प्रबन्ध के कई पद्यों में हुआ करती है। महाभारत के शान्तिपर्व के आपद्धर्म की १५३ वीं अध्याय के गृध्र-गोमायु-सम्वाद आदि में यह बहुत मिलती है। जैसे—

गीध स्यार कंकाल जुत है यह घोर मसान ;
अतिहि भयंकर या समय रहिवो इत अज्ञान।
प्रानि-मात्र की गति यही प्रिय वा अप्रिय होइ ;
या जग में मरिके कवौं जीवित है नहिँ कोइ।३१०

सन्ध्या के समय श्मशान में किसी मृतक बालक को उसके बन्धुओं द्वारा लाया हुआ देखकर, गीध ने चाहा कि 'इस मृतक को छोड़कर ये लोग यदि दिन रहते चले जायँ तो मेरा काम बन जाय', और गीदड़ ने उसे देख कर यह चाहा कि 'यदि कुछ देर ये लोग यहीं रह जायँ तो फिर रात में गीध इसे न ले जा सकेंगे और मेरा काम बन जायगा'। इसी प्रसङ्ग में रात्रि में अन्धे हो जाने वाले मांस-भक्षक गीध की मृतक के बान्धवों के प्रति यह उक्ति है। 'ऐसे भयङ्कर श्मसान में इस सन्ध्या-काल में तुम लोगों का यहाँ रहना बड़ा भयावह है'। यह स्वतः सम्भवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें 'मृतक को छोड़कर तुम शीघ्र अपने घर लौट जाओ' यह वस्तु रूप व्यंग्य है।

अथयो न रवि लखियतु अजौं विघन रूप यह काल;
रहहु निकट ही जिय परै फिरि कदाचि यह बाल।
भई न याकी तरुन वय सुवरन बरन समान;
तजत याहि क्यों मूढ़ जन! गीध-बचन तुम मान।३११

उस मृतक के उन्हीं बान्धवों के प्रति यह गीदड़ की उक्ति है। यह भी स्वतःसम्भवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें मृत बालक को छोड़कर जाने का निषेध व्यंग्यार्थ है और वह वस्तु-रूप है। इन दोनों उदाहरणों में किसी एक ही पद या एक ही वाक्य से उक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता, किन्तु सारे प्रबन्ध के वाक्य-समूह द्वारा ही व्यंग्य प्रतीत होता है अतः यहाँ प्रबन्धगत संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि है।

महाभारत में शान्तरस, श्रीरामचरित्र में करुणरस, 'मालतीमाधव' और 'रत्नावली' आदि नाटकों में श्रृङ्गार रस की ध्वनि के ग्रन्थ रूप में प्रबन्धगत उदाहरण हैं।

पदांशगत ध्वनि

रुचि है नहिँ तोहि अहारन में रु बिहार न कोउ सुहावतु री;
रहै नासिका ओर निहारत ही मन एकहि ठौर लगावतु री।
गहैं मौन रहै यह, भौन सबै यहै सूने-से तोहि लखावतु री;
कहु जोगिनि है कि वियोगिनि तू ? सजनी ! यह क्यों न बतावतु री।
३१२

किसी वियोगिनी के प्रति उसकी सखी की यह परिहासोक्ति है। यहाँ 'अहारन में' 'कोउ', 'ही', 'कहु', 'सजनी' और 'कि' ये सब पदांश हैं। 'अहारन में' विषय सप्तमी विभक्ति है, इसमें सारे आहारों से वैराग्य होना व्यंग्य है। 'योगिनी शरीर-रक्षार्थ सात्त्विक आहार तो करती है, पर तू तो आहार-मात्र से विरक्त है' यह ध्वनि है। 'कोउ' विशेषण है, इसमें यह ध्वनि है कि 'धार्मिक विषयों से—गङ्गा-स्नानादि से—योगिनी की निवृत्ति नहीं होती, किन्तु तुझे तो भला या बुरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता'। 'निहारत' के आगे 'ही' है। 'ही' पदांश से निरन्तर नासाग्र दृष्टि रखना, व्यंग्य है 'यह' में व्यंग्य यह है कि 'तेरा यह प्रत्यक्ष विलक्षण मौन है'। 'सजनी' पद से अन्तरङ्गता ध्वनित होती है, अर्थात् मुझसे तेरा प्रेम छिपा नहीं है। 'री कहु' सम्बोधन से उपहास सूचित है। 'कि है ?' से उसकी विरहावस्था सूचित है। यहाँ इन पदांशों का अपने-अपने विषयों को ध्वनित करना सहृदयों को ही अनुभवनीय है।

वर्ण और रचनागत ध्वनि

इनके उदाहरण छठे स्तवक में ('गुण'-प्रकरण में) दिये जायँगे।

यहाँ तक ध्वनि के जिन ५१ भेदों का निरूपण किया गया है, वे सब शुद्ध भेद हैं अर्थात् इनमें एक ध्वनि के साथ दूसरी ध्वनि मिली हुई नहीं है।

ध्वनियों का संकर और संसृष्टि

एक ध्वनि में दूसरी ध्वनियों के मिश्रण होने को ध्वनि-संकर और ध्वनि-संसृष्टि कहते हैं।

संकर।

इसके तीन भेद हैं—

(१) संशयास्पद-संकर—जहाँ एक से अधिक ध्वनियों की प्रतीति होती हो किन्तु किसी एक के साधक या बाधक के अभाव में यहाँ कौन-सी ध्वनि है ! ऐसा संशय रहता हो वहाँ संशयास्पद-संकर ध्वनि कही जाती है।

(२) अनुग्राह्य-अनुग्राहक-संकर—जहाँ एक से अधिक ध्वनियां हों और उनमें एक ध्वनि दूसरी ध्वनि की पोषक—सहायक—हो वहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक-संकर-ध्वनि होती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जहाँ एक व्यंग्य किसी दूसरे व्यंग्य का अङ्ग होता है वहाँ वह गुणीभूत व्यंग्य हो जाता है। फिर ध्वनियों के इस अङ्गाङ्गीभाव संकर को ध्वनि-भेद के अन्तर्गत क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी कामिनी के कण्ठ में धारण किया हुआ कोई चमकीला आभूषण अपने चमत्कार को स्वतंत्रता से रखता हुआ भी उस कामिनी के कण्ठ का भी उपकार करता रहता है—शोभा बढ़ाता रहता है—उसी प्रकार जहाँ एक ध्वनि स्वतः चमत्कारी रहकर दूसरी ध्वनि का भी कुछ उपकार कर देती है, न कि दूसरी ध्वनि का सर्वथा अङ्ग ही हो जाती है, वहाँ अनुग्राह्य-अनुग्राहक-संकर-ध्वनि कही जाती है।

(३) एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही पद या एक ही वाक्य में एक से अधिक प्रकार की ध्वनि होती है, वह एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर ध्वनि कही जाती है।

संसृष्टि।

जहाँ निरपेक्षिता से—परस्पर सम्बन्ध न रखकर स्वतन्त्रता से—एक से अधिक ध्वनियां अपने स्वरूप में स्थित होती हैं, वह 'ध्वनि-संसृष्टि' कही जाती है।

संशयास्पद संकर ध्वनि का उदाहरण—

"सीता-हरन तात ! जनि कहेहु पिता सन जाय ;
जौं मैं राम तो कुल-सहित कहहि दसानन आय।"३१३(१७)

यह गृध्रराज के प्रति श्रीरघुनाथजी की उक्ति है। इस उक्ति का 'जो मैं राम हूँ' वाक्य 'मैं यदि सूर्यवंशी महाराज दशरथ का अतुल बलशाली पुत्र राम हूँ' इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। अतः अविवक्षितवाच्य–अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि है ? या 'जो मैं राम हूँ तो' वाक्य से 'जानकी को हरण करनेवाले रावण का मैं शीघ्र ही वध करूंगा' यह अनुरणन रूप व्यंग्य सूचित होने से विवक्षितवाच्य–अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि है ? यहाँ इन दोनों में से कौन-सी ध्वनि है यह संशय होता है। क्योंकि एक को स्वीकार करने में साधक और दूसरी का त्याग करने में बाधक प्रमाण नहीं है—दोनों की ही समानता से प्रतीति होती है। अतः यहाँ संशयास्पद संकर-ध्वनि है।

अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर।

इसका उदाहरण संकर संसृष्टि के उदाहरण (पद्य संख्या ३१६) में दिखाया जायगा।

एक-व्यञ्जकानुप्रवेश संकर।

उन्नत पीन उरोज लसैं जुग दीरघ चंचल दीठ विलोकित ;
ठाढ़ी ह्वै गेह की देहरी पै पिय-आगम के उतसाह-प्रलोभित।
कंचन-कुंभ कुसुंभ सजे पट, कंजन-वंदनवार सुसोभित ;
मंगल ये, उपचार किए बिन ही श्रम कंजमुखी समयोचित।३१४

'उन्नत उरोजोंवाली और बड़े तथा चञ्चल नेत्रोंवाली घर के दरवाजे पर खड़ी हुई सुन्दरी ने अपने पति के आने के समय समयोचित माङ्गलिक कार्य—दो पूर्ण कलशों को सम्मुख लाना और पुष्पों की वन्दनवार लगाना—बिना ही कुछ यत्न के सम्पादन कर दिये'। इस वाच्यार्थ के 'स्तन ही कलश हैं और सुदीर्घ एवं चञ्चल दृष्टि ही कमलों की वंदनवार है' इन दोनों वाक्यों में रूपक अलङ्कार की ध्वनि और शृङ्गार-रस की ध्वनि एक ही आश्रय में है, अर्थात् जिन वाक्यों द्वारा संलक्ष्यक्रम-व्यंग्यात्मक रूपक की ध्वनि व्यञ्जित (ध्वनित) होती है, उन्हीं वाक्यों द्वारा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यात्मक शृङ्गार-रस की ध्वनि भी ध्वनित होती है। यहां संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि दोनों हैं, अतएव एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर-ध्वनि है।

ध्वनियों की संसृष्टि।

"हँसने लगे कुसुम कानन के देख चित्र सा एक महान,
विकस उठीं कलियाँ डाली में निरख मैथिली का मुसकान।
कौन कौन से फूल खिले हैं उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक पर गुन गुन करके जुड़ आईं भौंरों की भीर।"
३१५ (४०)

यह पञ्चवटी का वर्णन है। इसमें लक्षणामूला तीन ध्वनियों की संसृष्टि है—

१—हँसना चेतन का धर्म है, कुसुम (पुष्प) जड़ है। उनको 'हँसने लगे' कहने में मुख्यार्थ का बाध होने के कारण गौणी-लक्षणा द्वारा

'पुष्प खिलने लगे' यह लक्ष्यार्थ जाना जाता है। व्यंग्यार्थ में प्रफुल्लित पुष्पों की रमणीयता की ध्वनि है।

२—जानकीजी की मुसकान देखकर कलियों का विकसित होना असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है। कली जड़ हैं वे देख नहीं सकतीं। यहाँ व्यंग्यार्थ में मुसकान के आधिक्य की ध्वनि है।

३—समीर (पवन) द्वारा पुष्पों का गिना जाना असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है। गौणी-लक्षणा से वायु द्वारा पुष्पों का स्पर्श किया जाना लक्ष्यार्थ है। इसमें पवन के मन्द-मन्द वहन होने की ध्वनि है।

ये तीनों ध्वनि पृथक् पृथक् स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं—एक ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि का अंग नहीं है।

संसृष्टि और संकर का मिलाव।

छावौ घनघोर घटा क्यों न नभ-मंडल पै,
स्यामल छटा हू ये लीपौ चहुँ ओरन सौं ;
सीतल समीर धीर मोकौं का करैगो पीर,
ह्वै है का मेघ-मित्र-मोरन के सोरन सौं।
राम हौं कठोर-हिय भुवन-प्रसिद्ध मैं तो,
सहोंगो सबै ही ऐसे दुःख बरजोरन सौं ;
प्यारी सुकुमारी हाय जनकदुलारी ताकी,
होयगी दसा कहा पावस झकोरन सौं।३१६

वर्षा-काल के उद्दीपक विभावों को देखकर सीताजी के विरह में यह भगवान् श्रीरघुनाथजी की उक्ति है। 'आकाश को श्याम रंग की कान्ति से लीपनेवाले मेघ भले ही उमड़ें, शीतल-मन्द समीर भले ही

चले और मेघ के मित्र मयूरों की भी भले ही कूक होती रहे, मैं अत्यन्त कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन कर सकूँगा। पर हाय! सुकुमारी वैदेही की क्या दशा होगी!' यहाँ ध्वनि-संसृष्टि, अनुग्राह्य-अनुग्राहक ध्वनि संकर और एकव्यञ्जकानुप्रवेश ध्वनि-संकर, ये तीनों एकत्र हैं:—(१) आकाश निराकार है, उस पर लेप नहीं हो सकता, अतः यहाँ 'लीपत' का लक्ष्यार्थ व्याप्त करना है। 'मित्रता' चेतन व्यक्ति का धर्म है। जड़ मेघ से मयूरों की मित्रता होना सम्भव नहीं, इस मुख्यार्थ का बाध होने से मित्रता का लक्ष्यार्थ 'मयूरों को सुख देनेवाला' ग्रहण किया जाता है। इसमें अतिशय कामोद्दीपकता व्यंग्य है। अतः ये दोनों अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि हैं। इनकी यहाँ परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने से संसृष्टि है। (२) इन दोनों अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियों के साथ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव से संकर भी है, क्योंकि यहाँ वक्ता स्वयं राम हैं। केवल 'मैं' कहने से भी राम का बोध हो सकता था, अतः 'मैं राम हूँ' ऐसा कहना अनावश्यक था, यहाँ 'राम' पद 'राज्य-भ्रंश, वन का निवास, जटा-चीर-धारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दुःखों को सहन करनेवाला मैं राम हूँ' इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। इस अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि में श्री रामचन्द्रजी का अपनी अवज्ञा सूचित करना व्यंग्य है। उपर्युक्त 'लीपत' और 'मित्र' पदों से जो कामोद्दीपकता की अधिकता व्यंग्य है, वह इस अवज्ञा का अंग है, अर्थात् 'राम' शब्द से सूचित होनेवाली अवज्ञा की मेघ काल की उद्दीपकता से पुष्टि होती है। अतः इन दोनों ध्वनियों का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव संकर है। (३) 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश ध्वनि-संकर' इस प्रकार है कि 'राम' पद से जिस प्रकार रघुनाथजी द्वारा अपनी अवज्ञा सूचित होती है, उसी प्रकार सीताजी का वियोग सहन करना भी सूचित होता है, अतः 'राम' पद में विप्रलम्भ-शृंगारात्मक व्यंग्य भी है। एक ही पद 'राम' में अर्थान्तर-

संक्रमितवाच्य ध्वनि और विप्रलम्भ-शृङ्गारात्मक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि दोनों होने से एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर भी है।

ध्वनि के भेदों की संख्या

ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के परस्पर एक का दूसरे के साथ मिश्रण होने पर (५१ से ५१ का गुणन करने पर) २६०१ मिश्रित भेद होते हैं। इन २६०१ भेदों के तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि द्वारा (२६०१ को चार के गुणन करने पर) १०,४०४ मिश्रित (मिले हुए संकीर्ण) भेद होते हैं। इन १०,४०४ भेदों में ५१ शुद्ध भेद जोड़ देने पर ध्वनि के कुल १०,४५५ भेद होते हैं।

--:※:--

चतुर्थ स्तवक पञ्चम पुष्प

व्यञ्जना शक्ति का प्रतिपादन

ध्वनि के उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि काव्य में व्यंग्यार्थ सर्वोपरि पदार्थ है। व्यंग्यार्थ का बोध होना व्यञ्जना-शक्ति के ही आश्रित है। किन्तु बहुत से नैय्यायिक आदि विद्वान् व्यञ्जना का माना जाना अनावश्यक बताते हैं। उनका कहना है कि ध्वनि-सिद्धान्त में जिस विशेष-अर्थ (व्यंग्यार्थ) के बोध कराने के लिये व्यंजना-शक्ति को माना गया है, उस विशेष अर्थ का बोध जब अभिधा आदि (लक्षणा या तात्पर्या वृत्ति) द्वारा ही हो सकता है, तब एक अन्य शक्ति 'व्यंजना' की कल्पना करना अनावश्यक है। इस विषय पर ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में विस्तृत विवेचना की गई है। व्यंजना-शक्ति के विरोधियों के सभी तर्कों का आचार्य मम्मट ने बड़ा ही मार्मिक खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट का कहना है कि व्यंजना-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करने के लिये सर्वप्रथम ध्वनि के भेदों पर विचार करना चाहिये।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं (१) लक्षणामूला अर्थात् अविवक्षितवाच्य ध्वनि और (२) अभिधा-मूला अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। इनमें लक्षणामूला अविवक्षितवाच्य के तो नाम से ही स्पष्ट है कि जिस अभिधा के बल पर व्यंजना को निर्मूल करने का साहस किया जाता है, उस अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) का अविवक्षितवाच्य-ध्वनि में कुछ उपयोग ही नहीं होता है। क्योंकि अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में अभिधा का वाच्यार्थ, अनुपयोगी होने के कारण, दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है; जैसे 'कदली-कदली ही तथा' इत्यादि में[1]। और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में तो वाच्यार्थ सर्वथा ही छोड़ दिया जाता है; जैसे 'कनक पुष्प पुष्पित धरा' इत्यादि में[2]।

यदि यह कहा जाय कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि में अभिधा का तो उपयोग नहीं होता है पर लक्षणा तो रहती है, तब व्यंजना के आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि यह ध्वनि, लक्षणा-मूला अवश्य है और इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती भी है; किन्तु लक्षणा तो केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा सकती है। लक्षणा में प्रयोजन रूप जो व्यंग्यार्थ होता है--जिसके लिये लक्षणा की जाती है, उस प्रयोजन का लक्षणा कदापि बोध नहीं करा सकती है। जैसे—

पूर्वोक्त 'गङ्गा पर घर' इस उदाहरण में[3] लक्षणा केवल 'गङ्गा'-शब्द के लक्ष्यार्थ 'तट' का बोध करा सकती है। जिस प्रयोजन के लिये (वक्ता ने) अपने निवास स्थान में शीतलता और पवित्रता का आधिक्य सूचित करने के लिये) इस वाक्य का प्रयोग किया है,

१ देखो, पृष्ठ १०६। २ देखो, पृष्ठ ११२। ३ देखो पृ० ६१।

वह लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता। वह प्रयोजन तो व्यंग्यार्थ है वह लक्षणा द्वारा न बोध ही हो सकता है और न वह लक्षणा का व्यापार ही है। वह व्यञ्जना का व्यापार है। उसका बोध केवल व्यञ्जना-शक्ति ही करा सकती है[1]। यदि 'गङ्गा पर घर' वाक्य में उक्त प्रयोजन न माना जायगा तो वक्ता के ऐसे वाक्य कहने का अर्थ ही कुछ नहीं होगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि व्यंग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा हो ही नहीं सकती है अतः अविवक्षितवाच्य ध्वनि के व्यंग्यार्थ का चमत्कार व्यंजना पर ही निर्भर है।

अभिधामूला—'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि में तो लक्षणा को कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ का बाध नहीं होता, और वाच्यार्थ के बाध के बिना लक्षणा हो नहीं सकती है। हाँ, अभिधा का उपयोग इस ध्वनि में अवश्य होता है, क्योंकि वाच्यार्थ विवक्षित रहता है, किन्तु वाच्यार्थ व्यंग्य निष्ठ होता है। अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के जो दो मुख्य भेद है, असंलक्ष्यक्रमव्यंग, और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य, इनमें असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य रसभावादि हैं और वे अभिधा के वाच्यार्थ नहीं हैं। यदि वे वाच्यार्थ होते तो रस अथवा शृङ्गार आदि शब्दों के कह देने-मात्र से ही उनका आनन्दानुभव होना चाहिये था, पर ऐसा नहीं होता है। शृङ्गार रस, शृङ्गार-रस कहने मात्र से ही कुछ आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत रस या शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग किए बिना ही विभावादिकों के व्यंजन व्यापार द्वारा रस का आनन्दानुभव होने लगता है। यदि यह कहा जाय कि विभावादिकों के वाचक जो दुष्यन्त आदि शब्द हैं उनके बिना उन विभावादिकों की प्रतीति नहीं हो सकती है, इसलिये रस आदि को लक्षणा का लक्ष्यार्थ समझना चाहिये—व्यंजना

---

१ देखो, पृष्ठ ६०, ६१।

की व्यर्थ ही कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। इसका उत्तर यह है कि लक्षणा तो वहाँ होती है, जहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि तीन कारण होते हैं। किन्तु जहाँ रस आदि व्यक्त होते हैं वहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि नहीं होता है। अतः असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य अभिधा और लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शब्द-शक्ति-मूलक भेदों में अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग होता है, अर्थात् जहाँ अनेकार्थी शब्द होते हैं, वहीं शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है। 'संयोग' आदि कारणों से अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही अनेकार्थी शब्दों का व्यंग्यार्थ व्यञ्जना द्वारा बोध होता है। अर्थशक्तिमूलक भेदों में भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलङ्कार-रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नहीं सकती है और मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थशक्तिमूलक-व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिये भी एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा अनिवार्य रहती है, और वह व्यञ्जना शक्ति के सिवा और कौनसी शक्ति हो सकती है?

अब रही तात्पर्या वृत्ति[1]। धनञ्जय कृत दशरूपक के व्याख्याकार धनिक का कहना है "तात्पर्या वृत्ति द्वारा ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का बोध हो सकता है, तात्पर्य कोई तराजू पर तुला हुआ पदार्थ नहीं, जो न्यूनाधिक न हो सकता हो—तात्पर्य का प्रसार (फैलाव) जहाँ तक इच्छा हो वहाँ तक हो सकता है। फिर व्यंग्यार्थ के लिये व्यञ्जना का माना जाना निरर्थक है"। किन्तु तात्पर्या वृत्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होना बतलाने वाले न्याय का यह सिद्धान्त भूल जाते हैं कि शब्द, बुद्धि

---

१ तात्पर्या वृत्ति का स्पष्टीकरण पृष्ठ १०३ में देखिये।

और क्रिया यह तीनों अपना अपना एक एक कार्य करने के बाद क्षीण हो जाते हैं[1]—एक के सिवा दूसरा कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। अभिधा की शक्ति वाच्यार्थ का बोध कराके और लक्षणा की शक्ति, लक्ष्यार्थ का बोध कराके जिस प्रकार क्षीण हो जाती है—दूसरा अर्थ बोध नहीं करा सकती; उसी प्रकार तात्पर्या की शक्ति भी वाक्य के पृथक् पृथक् पदों का सम्बन्ध बोध कराके क्षीण होकर अन्य अर्थ बोध नहीं करा सकती है। जैसे, 'गङ्गा पर घर' इस वाक्य में गङ्गा आदि शब्दों का (प्रवाह) आदि वाच्यार्थ बोध कराके अभिधा की शक्ति रुक जाती है। एवं 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध कराके लक्षणा रुक जाती है। और इसी प्रकार गङ्गा आदि पृथक् पृथक् शब्दों का एक का दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध बोध कराके तात्पर्या वृत्ति रुक जाती है। इसके सिवा 'गङ्गा पर घर' वाक्य में सामीप्य सम्बन्ध द्वारा 'तट' में पवित्रता और शीतलता आदि सूचक जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उस व्यंग्यार्थ का बोध, अभिधा[2], लक्षणा[3], और तात्पर्या[4] इन तीनों ही वृत्तियों द्वारा बोध नहीं हो सकता है। अतएव उस व्यंग्यार्थ का बोध व्यञ्जना शक्ति ही करा सकती है।

---

१ शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।

२ अभिधा केवल शब्द के सङ्केतित वाच्यार्थ गङ्गा के प्रवाह का बोध करा सकती है। पर शीतलता और पवित्रता वाच्यार्थ नहीं है।

३ लक्षणा, लाक्षणिक 'गंगा' शब्द का केवल लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है पर शीतलता और पवित्रता लक्ष्यार्थ भी नहीं है।

४ तात्पर्या वृत्ति गङ्गा आदि शब्दों का केवल परस्पर सम्बन्ध बोध करा सकती है; पर जब शीतलता और पवित्रता का किसी शब्द द्वारा कथन ही नहीं है, तब तात्पर्या वृत्ति इनका किस शब्द के साथ सम्बन्ध बोध करा सकती है?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिये व्यञ्जना के माने जाने में और भी बहुत से कारण हैं—

समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) सर्वत्र एक ही रहता है, किन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। जैसे—

सोचनीय अब द्वै भए मिलन कपाली हेत ;
कांतिमयी वह ससिकला अरु तू कांति-निकेत ।३१७

तपश्चर्या-रत पार्वतीजीके प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशङ्कर की यह उक्ति है। 'हे पार्वती, कपाली (कपाल धारण करनेवाले शिव) के समागम की इच्छा रखने के कारण अब दो—एक तो चन्द्रमा की वह कान्तिमयी कला, और दूसरी नेत्रानन्द-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं; अर्थात् पहले चन्द्रमा की कला ही शोचनीय थी, अब तू भी शोचनीय हो गई है, क्योंकि तू भी उसी मार्ग की पथिक होकर कपाली के समागम की इच्छा कर रही है'। यहाँ 'कपाली' के स्थान पर यदि 'पिनाकी' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द रख दिए जायँगे तो वाच्यार्थ तो वही रहेगा —शङ्कर का बोधक ही होगा—पर 'कपाली'-शब्द के प्रयोग में जो 'अशुद्ध नर-कपाल धारण करनेवाला' कहकर श्रीशङ्कर का अपने को अस्पृश्य सूचित करने रूप जो व्यंग्यार्थ व्यञ्जनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है वह पर्याय शब्द से सूचित नहीं हो सकेगा। यदि व्यञ्जना न मानी जायगी तो ऐसे पदों के प्रयोग में जो काव्य का महत्व है, वह सर्वथा लुप्त हो जायगा।

इसके अतिरिक्त प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय, आदि में वाच्यार्थ और उनके व्यंग्यार्थ की पारस्परिक भिन्नता होने के कारण भी व्यञ्जना का माना जाना आवश्यक है। जैसे—

'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ सभी को एक यही बोध होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया है'—इसके सिवा दूसरा कोई और वाच्यार्थ बोध नहीं हो सकता है। किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण (प्रसङ्ग) आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। यदि शत्रु पर आक्रमण करने के प्रसङ्ग में सेनापति अपनी सेना के प्रति यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि 'शीघ्र धावा करो, यह अवसर अच्छा है'। यदि अभिसार के प्रसङ्ग में यह वाक्य दूती नायिका से कहेगी तो इसका व्यंग्यार्थ यह होगा कि अभिसार के लिये प्रस्तुत हो जाओ। वासकसज्जा नायिका के प्रकरण में सखी के इस वाक्य में यह व्यंग्य होगा कि 'तेरा पति आना ही चाहता है'। भृत्य के प्रति स्वामी के इस वाक्य में 'अब हमें काम करने से निवृत्त होना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। शिष्य के प्रति गुरु के इस वाक्य में 'संध्यादि कर्म करने चाहिये' यह व्यंग्य होगा। गोपालक के प्रति गृहस्थ के इस वाक्य में 'गौओं को घर में ले आओ' यह व्यंग्य होगा। भृत्यों के प्रति दूकानदार के इस वाक्य में 'बिक्री की वस्तुओं को समेटकर रक्खो' यह व्यंग्य होगा। अपने साथियों के प्रति पथिक के इस वाक्य में 'अब कहीं विश्राम करना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। इत्यादि-इत्यादि। निष्कर्ष यह कि प्रकरण, वक्ता तथा बोधव्य की भिन्नता के कारण एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थ होते हैं।

'इत न स्त्रान वह आज अहो भगत नियरक विचर[1]' पद्य में भक्त को निश्शङ्क आने को कहा गया है, अतः वाच्यार्थ विधिरूप है। पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है, अतः व्यंग्यार्थ निषेध रूप है। 'कुच के तट चन्दन छूट्यो सबै....[2]' इस पद्य में वाच्यार्थ निषेध रूप है, पर व्यंग्यार्थ विधि रूप है। इसी प्रकार—

१ देखो पृष्ठ ११४।

२ देखो पृष्ठ ९३।

पूछत हौं मतिमानन सौं जन जे मति मत्सरता तें विहीनके;
सेवन जोग बताओ नितंब गिरीन के हैं अथवा तरुनीन के?
त्यों चित ध्याइवे जोग है जोग वा भोग-विलास कहो रमनीन के?
औ तन लाइवे जोग भभूत है कैं मृदु अंग हैं चंद-मुखीन के?
३१८

ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ संशयात्मक होता है। अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि यह किसी विरक्त की उक्ति है या किसी विलासी पुरुष की? किन्तु व्यंग्यार्थ द्वारा विरक्त वक्ता में शान्त-रस की और शृङ्गारी वक्ता में शृङ्गार-रस की व्यञ्जना निश्चयात्मक होती है।

दूती तू उपकारिनी तो सम हितू न और;
अति सुकुमार सरीर में सहे जु छत हित-मोर।३१९

यहाँ वाच्यार्थ स्तुति-रूप है, और व्यंग्यार्थ निन्दा-रूप। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप-भेद होने के कारण व्यञ्जना को मानना-पड़ता है।

वाच्यार्थ प्रथम बोध हो जाता है, और व्यंग्यार्थ उसके पीछे प्रतीत होता है, अतः काल-भेद के कारण भी व्यञ्जना का मानना आवश्यक है।

वाच्यार्थ केवल शब्द ही में रहता है, किन्तु व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है। इस विषय का 'ध्वनि'-प्रकरण में विवेचन किया जा चुका है। अतः आश्रय-भेद के कारण भी व्यञ्जना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ का बोध केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है[1]। अतः निमित्त भेद भी व्यञ्जना का प्रतिपादन करता है।

---

१ 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते;
वेद्यते सहि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलं।'—ध्वन्यालोक उ०, १-७

वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आस्वादन का आनन्द) उत्पन्न होता है, अतः यह कार्य-भेद भी व्यंञ्जना के मानने का एक कारण है।

[1]प्रिया-अधर छत-जुत निरखि किहिँ कै होइ न रोष ;
बरजत हू स-मधुप कमल सूँघत भई स-दोष ।३२०

इसमें वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है जिसके अधर पर क्षत दीख पड़ता था, और उसे ही यह वाक्य कहा गया है। 'अधर को भ्रमर ने काटा है, उपपति ने नहीं' इस व्यंग्य का विषय नायिका का पति है—उसी को सूचन करने के लिये यह व्यंग्योक्ति हैं। 'मैं अपने चातुर्य से इसका अपराध छिपा रही हूँ' यह जो दूसरा व्यंग्य है, उसका विषय पड़ोसिन है, क्योंकि यह बात पास में खड़ी हुई पड़ोसिन को व्यंग्योक्ति से सूचन की गई है। और 'मैंने इसके अपराध का समाधान कर दिया' इस तीसरे व्यंग्य का विषय नायिका की सपत्नी है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में विषय-भेद होने के कारण भी व्यञ्जना का मानना परमावश्यक है। इसी प्रकार—

"मायके तैं कब हौं कित ही निकसी न सदा घर ही महँ खेली ;
'वृंद' कहै अब हौं मनभावती आइकै खेलि हैं संग सहेली।

---

१ उपपति द्वारा अपनी कान्ता के अधर को दष्ट देखकर, विदेश से आये हुए नायक के कुपित होने पर उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये, नायिका की चतुर सखी का, नायक को सुनाते हुए, यह नायिका के प्रति चातुर्यगर्भित वाक्य है। हे सखि! दंतक्षत-युक्त अपनी प्रिया के अधर को देखकर किसे रोष नहीं होता? यह तेरा ही दोष है, क्योंकि मेरे रोकने पर भी तूने उस कमल को सूँघ ही तो लिया, जिसके भीतर भौंरा बैठा हुआ था, और उसने तेरे अधर पर व्रण कर दिया है। अतः अपने पति के कोप को सहन कर।

कालि ही कंटक वृक्षन के लगि कंटक अंग कहा गति मेली ;
हौं बरजों चित के हित तें वन-कुञ्जन में जिन जाय अकेली।"
३२१(३२)

नायिका के पति सखी की उक्ति है। यहाँ वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है जिसके अङ्गों पर उपनायक द्वारा किए गए नख-क्षत दीख पड़ते थे। और 'इसके अङ्गों में, वन की कुंजों में, कँटीले वृक्षों के काँटे लग गए हैं (अर्थात् नख-क्षत नहीं है)', यह व्यंग्यार्थ है, इस व्यंग्यार्थ का विषय समीप में बैठा हुआ नायिका का पति है।

लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की विलक्षणता भी देखिये—

जिस लक्षणावृत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ के सम्बन्ध आदि की अपेक्षा रखती है, किन्तु अभिधा-मूला व्यञ्जना में—विवक्षितअन्यपरवाच्य ध्वनि में—मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा नहीं रहती है। क्योंकि ध्वनि में वाच्य-अर्थ विवक्षित रहता है और उसके द्वारा ही व्यंग्य-अर्थ प्रतीत होता है। और देखिये—

'राम हौं कठोर हिय भुवन प्रसिद्ध मैं तो........' (पद्य संख्या ३१६)

इसमें 'राम हौं' का 'अनेक दुःखों को सहन करनेवाला' लक्ष्यार्थ है और—

क्रूर निसाचर रावन ने निज दारुनता ही के जोग कियो वहि ;
उच्च कुलोचित तेरे ही जोग प्रिये ! रहिवो उत दुःखन को सहि।
पै रघुवंस लजाइ कै वीर कहाइ बृथा धनुबानन को गहि ;
प्रानन सौं रखि मोह या राम ने हा ! कछु प्रेम के जोग कियो नहिं।
३२२

जनकनन्दिनी को उद्देश्य करके वियोगी श्रीरामचन्द्रजी की उक्ति है—'रावण ने तेरा हरण करके अपनी क्रूरता और नीचता के योग्य ही कार्य किया, और तू अपने धर्म-पालन के कारण असह्य दुःख सहन कर रही है, यह भी एक उच्च कुलोत्पन्न तेरे जैसी के योग्य ही है। किन्तु अपने प्राणों से मोह रखनेवाले इस राम ने प्रेम का पालन नहीं किया'। वक्ता

स्वयं श्री राम। अतः 'या राम ने' इस वाक्य में राम का अर्थ उपादान लक्षणा द्वारा 'कायर' होता है। इसी प्रकार—

दसहु दिसनि जाको सुजस मरुत सात-सुर गातु;
तात वही यह राम है त्रिभुवन-मल विख्यातु। ३२३

रावण के प्रति विभीषण की इस उक्ति में 'राम' पद का लक्ष्यार्थ है—'खर-दूषणादिकों का वध करने वाला'।

जिस प्रकार पूर्वोक्त 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य में अनेक व्यंग्य सूचित होते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में 'राम' पद के लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। अर्थात् जैसे व्यंग्य के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य आदि अनेक भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ के भी अनेक भेद होते हैं। अतएव यह प्रश्न होता है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद ही क्या है ? और लक्ष्यार्थ से व्यञ्जना को पृथक् मानने की आवश्यकता ही क्या है। उक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ अवश्य अनेक हो सकते हैं, पर लक्ष्यार्थ, एक या एक से अधिक, वाच्यार्थ की तरह नियत (मर्यादित) रहता है क्योंकि जिस अर्थ का वाच्य-अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध नहीं होता है, उसकी लक्षणा नहीं हो सकती है। अर्थात् जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा द्वारा एक ही वाच्य-अर्थ हो सकता है, उसी ?
उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है, जो वाच्य-अर्थ का नियत सबन्धी होता है। जैसे 'गङ्गा पर घर' में गङ्गा शब्द के प्रवाह रूप वाच्य-अर्थ का नियत (नित्य)[1] सम्बन्धी 'तट' है, अतः तट ही में गङ्गा शब्द की लक्षणा हो सकती है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। इसी प्रकार

१ प्रवाह के साथ तट का नित्य सम्बन्ध इसलिये है कि जल के प्रवाह का तट के साथ सदैव सम्बन्ध रहता है।

लक्ष्य-अर्थ भी वाच्य-अर्थ की भाँति नियत-सम्बन्ध में होता है, पर व्यंग्य अर्थ प्रकरण आदि के द्वारा (१) नियत-सम्बन्ध में, (२) अनियत सम्बन्ध में और (३) सम्बन्ध-सम्बन्ध में होता है। जैसे—'हौं इत सोवत सास उत' (देखो, पृष्ठ ६६) में 'इच्छानुकुल विहार' रूप एक ही व्यंग्य है, दूसरा कोई व्यंग्य नहीं है इसलिये व्यंग्यार्थ का वाक्य के साथ यहाँ नियत सम्बन्ध है। 'प्रिया अधर-छत-युत निरखि' (देखो पृष्ठ २६५) में विषय-भेद से अनेक व्यंग्य-अर्थ हैं। इन व्यंग्यों का एक ही ज्ञाप्य या बोध्य नहीं है, पर भिन्न-भिन्न हैं, अतएव अनियत सम्बन्ध है। और—

लखहु बलाका[1] कमल-दल बैठी अचल सुहाहि।
मरकत-भाजन माँहि जिमि संख-सीप[2] बिलसाहि॥ ३२४

उपनायक के प्रति यह किसी तरुणी की उक्ति है कि कमलिनी के पत्र पर निश्चल बैठी हुई यह बलाका बड़ी सुन्दर दीख पड़ती है। जैसे नीलमणि के पात्र में रक्खी शङ्ख से बनी हुई सीप। यहाँ बलाका को अचेतन-जड़ सीप की उपमा द्वारा बलाका की निर्भयता रूप व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। इस निर्भयता रूप व्यंग्यार्थ द्वारा स्थान की निर्जनता (एकान्त) होने रूप दूसरा व्यंग्य सूचित होता है। इस निर्जनता रूप व्यंग्यार्थ द्वारा रति के अनुकूल स्थान होना तीसरा व्यंग्य है। और इस अनुकूल स्थान रूप व्यंग्यार्थ द्वारा प्रतिबन्ध रहित विलास रूप चौथा व्यंग्य है। और इसके द्वारा रति की अभिलाषा प्रकट किया जाना पाँचवाँ व्यंग्य है। यहाँ उत्तरोत्तर सम्बन्ध से व्यंग्य की प्रतीति होती है। एक व्यंग्य

---

१ बकपक्षी की मादा।
२ शङ्ख से बनी हुई सीपी के आकार की कटोरी।

की प्रतीति हो जाने पर दूसरे व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति होती जाती है, यही सम्बन्ध-सम्बन्धिता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ विलक्षण है, और व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा, लक्षणा या तात्पर्या वृत्ति द्वारा नहीं हो सकता है। अतएव व्यञ्जना-शक्ति का माना जाना अनिवार्यतः आवश्यक है।

महिम भट्ट के मत का खण्डन

महिम भट्ट व्यञ्जना और ध्वनि-सिद्धान्त के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन पर 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका कहना है कि जिस व्यञ्जनावृत्ति के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का विशाल भवन निर्माण किया गया है, वह व्यञ्जना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि 'अनुमान' किसे कहते हैं। अनुमान में साधन द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है। साधन कहते हैं हेतु या लिङ्ग को—अनुमान किये जाने के कारण को, अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है। साध्य या लिङ्गी उसे कहते हैं जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाता है। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है—'धुआँ' साधन (हेतु) है, और 'अग्नि' साध्य। क्योंकि धुएँ से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, अतः यहाँ अग्नि भी है। अनुमान में व्याप्ति-सम्बन्ध रहता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि भी अवश्य है। और यह व्याप्ति-सम्बन्ध ही अनुमान है।

महिम भट्ट कहते हैं कि जिसे तुम व्यञ्जक कहते हो—जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान होना बतलाते हो—वह अनुमान का साधन (हेतु) है। अर्थात् जिस प्रकार धुएँ से अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी

प्रकार तुम्हारे माने हुए व्यञ्जक शब्द वा अर्थ का, जिसे तुम व्यंग्यार्थ मानते हो, अनुमान हो जाता है।

अपने मत की पुष्टि में महिम भट्ट ने ऐसे अनेक पद्य, जिनको ध्वनिकार ने ध्वनि के उदाहरणों में दिखाए हैं, उद्धृत करके उनमें 'अनुमान' होना सिद्ध किया है। जैसे—

अहो भगत निधरक विचर वह न स्वान इत आज ;
हत्यो ताहि, जो रहत इहिँ सरिता-तट मृगराज। ३२५

यह पद्य किसी कुलटा स्त्री द्वारा उस भक्त के प्रति कहा हुआ है जो उस कुलटा के एकान्त स्थल में पुष्प लेने के लिये प्रतिदिन आया करता था[1]। ध्वनिकार ने कहा है—'इस पद्य के वाच्यार्थ में कुत्ते से डरनेवाले उस भक्त को, सिंह द्वारा कुत्ते का मारा जाना कहकर निश्शङ्क आने के लिये कुलटा कह रही है। किन्तु व्यंग्यार्थ में उस कुलटा ने उसे, सिंह का भय दिखाकर, आने का निषेध किया है। क्योंकि जो व्यक्ति कुत्ते से भयभीत होता है, वह उसी स्थान पर सिंह के रहने की बात सुनकर वहाँ जाने का किस प्रकार साहस कर सकता है। और यह निषेध व्यंग्यार्थ है'।

महिम भट्ट का कहना है—'जिस वाच्यार्थ में निश्शङ्क आने के लिये कहा गया है, वह वाच्यार्थ ही न आने को कहने का साधन (हेतु) है; अर्थात् जिसको व्यंग्यार्थ बताया जाता है, वह व्यञ्जना का व्यापार नहीं, किन्तु वाच्यार्थ द्वारा ही उसका अनुमान हो जाता है। जैसे अग्नि का अनुमान करने के लिए धुएँ का होना हेतु है, उसी प्रकार सिंह के होने की सूचना देना वहाँ आने के निषेध का हेतु है'। इसी प्रकार के तर्कों द्वारा उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन किया है।

---

१ देखो, पृष्ठ ११४।

आचार्य मम्मट ने इन तर्कों का बड़ी सार-गर्भित युक्तियों द्वारा खण्डन किया है। श्रीमम्मट कहते हैं—"सिंह का होना जो तुम अनुमान का हेतु बताते हो, वह अनैकान्तिक है—निश्चयात्मक नहीं है। अनुमान वहीं हो सकता है जहाँ हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे अग्नि का अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ धुएँ का होना निश्चित हो। यदि धुएँ के अस्तित्व में ही संशय हो तो अग्नि का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कुलटा द्वारा सिंह का होना बताए जाने में उस भक्त के वहाँ न आने का हेतु निश्चयात्मक नहीं है, क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने किसी प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही किसी विशेष कारण से डरपोक व्यक्ति का भी भय वाले स्थान पर जाना हो सकता है। अतएव यहाँ हेतु नहीं—हेतु का आभास है। फिर वहाँ पर सिंह का होना, न तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, और न अनुमान-सिद्ध ही है। सिंह को बतलानेवाली एक कुलटा है, जिसका कथन आप्त-वाक्य (सत्यवादी ऋषियों का वाक्य) नहीं हो सकता है, प्रत्युत ऐसी स्त्रियों का झूठ बोलना तो स्वभाव-सिद्ध है। अतएव वहाँ सिंह है या नहीं? यह भी सन्देहास्पद है। इस प्रकार व्याप्ति-सम्बन्ध, जिसका होना अनुमान के लिये परमावश्यक है सन्दिग्ध है। ऐसी अवस्था में अनुमान सिद्ध नहीं होता है। महिम भट्ट के सभी आक्षेपों का इसी प्रकार समुचित उत्तर देकर मम्मटाचार्य ने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि व्यञ्जना का माना जाना आवश्यक है, और व्यञ्जना का व्यंग्यार्थ, अनुमान का विषय किसी भी प्रकार नहीं हो सकता है।

यहाँ तक काव्य के प्रथम भेद 'ध्वनि' का निरूपण किया गया है। अब काव्य के दूसरे भेद गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण किया जायगा।

पञ्चम स्तवक

गुणीभूतव्यंग्य

—:※:—

जहाँ वाच्यार्थ प्रधान होता है और व्यंग्यार्थ गौण होता है, उसको 'गुणीभूतव्यंग्य' कहते हैं।

'गौण' का अर्थ है अप्रधान, और 'गुणीभूत' का अर्थ है गौण हो जाना—अप्रधान हो जाना। वाच्यार्थ से गौण होने का तात्पर्य यह है कि व्यंग्य का वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना—वाच्यार्थ के समान चमत्कारक होना या वाच्यार्थ से न्यून चमत्कारक होना।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य में यही भेद है कि ध्वनि में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। और गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ प्रधान होता है।

गुणीभूतव्यंग्य के प्रधानतः आठ भेद होते हैं। (१) अगूढ़, (२) अपराङ्ग, (३) वाच्यसिध्यङ्ग, (४) अस्फुट, (५) सन्दिग्ध, (६) तुल्यप्राधान्य, (७) काकाक्षिप्त और (८) असुन्दर।

(१) अगूढ व्यंग्य

जो 'व्यंग्यार्थ' वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है, उसे अगूढ व्यंग्य कहते हैं।

कुछ-कुछ प्रकट होने वाला व्यंग्यार्थ ही चमत्कारक होता है—न कि सर्वथा स्पष्ट प्रतीत होने वाला। अतः स्पष्ट प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ प्रधान न रहकर, गौण हो जाता है[1]।

लक्षणा-मूलक अगूढ़ व्यंग्य—

उदाहरण—

पाननि जोरि नतानन[2] ह्वै सरनागत सत्रु किते ढिँग आइकै;
चाहते जाकी कृपा-अवलोकन ठाढ़े सदा मुख-ओर लखाइकै;
सो अब नाँचि रिझावत हौं अरु मेखला को रसरीन बनाइकै;
जीवत हौं न,अहो धिक है जरि जाय ये क्यों न हियो धधकाइकै;
३२६

विराट् राजा के यहाँ गुप्त रूप में पाण्डवों के रहने के समय, कीचक की नीचता को सुनाती हुई द्रौपदी के प्रति अर्जुन की यह उक्ति है। अर्जुन जीता हुआ ही कह रहा है, 'जीवत हौं न' अतः इस वाक्य के मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ 'मेरा प्रशंसनीय जीवन नहीं है'

---

१ 'नांध्रीपयोधरइवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तनइवातितरां निगूढः;
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।'

अर्थात् तैलङ्गिनी कामिनी के पयोधरों की भाँति न तो नितान्त प्रकट और गुर्जर रमणी के स्तनों की भाँति न सर्वथा ढका हुआ ही, किन्तु महाराष्ट्र–कामिनी के कुचों की भाँति कुछ खुला और कुछ ढका हुआ व्यंग्यार्थ शोभित होता है। किसी कवि ने यों भी कहा है—
सर्व ढके सोहत नहीं उघरैं होत कुवेस;
अरध ढके छवि देत अति कवि-अच्छर कुच केस।'

२ मुख नीचा किये।

यह लक्ष्यार्थ है। व्यंग्य यह है कि 'इस जीवन से मरना ही अच्छा है'। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है। 'जीवत हौं न' का वाच्यार्थ 'मेरा श्लाघनीय जीवन नहीं' इस अर्थान्तर में संक्रमण करता है। जिस प्रकार लक्षणा-मूला अविवक्षितवाच्य में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होती है, उसी प्रकार यहाँ अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमित अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य है। इस अगूढ़ व्यंग्य के मूल में उपादान लक्षणा रहती है।

"औरई कुंद-कली अली देत गुहे बिन पाँत सु जानन लागी;
औरई कोमल विद्रुम-पल्लव ओठनि सौं ठनि मानन लागी।
'बेनीप्रवीन' मृनाल बिना दृग औरइ कौंल बखानन लागी;
आवत ही सिखई गुरु जोवन ये उपमा उर आवन लागी।"
३२७(३१)

यहाँ 'सिखई गुरु जोबन' का मुख्यार्थ 'यौवन द्वारा शिक्षा देना' है। शिक्षा देने का कार्य चेतन का है, अतः अचेतन योवन द्वारा शिक्षा का कार्य असम्भव होने के कारण मुख्यार्थ का बाध है—मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाता है। अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है। 'यौवन के आने से अङ्गों में स्वतः लावण्य का आ जाना' व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट होने के कारण अगूढ़ है।

गृह-वापिन[1] मैं अरविंदन के वन ये सजनी! विकसाने लगे;
चहुँओर मधुव्रत वृंद यहाँ मकरन्द-लुभे मँडराने लगे।
तुव आनन की छवि चंदमुखी! तजि-चंद अबै पियराने लगे;
रवि हू उदयाचल-चुंवि भए लखु री यह कैसे सुहाने लगे।
३२८

यहाँ सूर्य-बिम्ब द्वारा उदयाद्रि का चुम्बन किया जाना मुख्यार्थ है। प्रभात का हो जाना व्यंग्यार्थ है। सूर्य द्वारा चुम्बन असम्भव होने के कारण वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'उदयाचल के साथ सूर्य की

१ घर में बने हुए तालाबों में।

रश्मियों का संयोग होना' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है अतः अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य है। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट बोध हो रहा है, अतः अगूढ़ है। इस अगूढ़ व्यंग्य में लक्षण-लक्षणा होती है।

"केलि-कला की झलानि कौं झेलि रची रस रासि सची मुख थाती;
अंगन अंग समोय रही कछु सोइ रही रस आसव-माती।
ऐसे में आय गयो है अचानक कंज-पराग-भरयो[1] उतपाती;
प्रीतम के हिय लागी तऊ उहिँ सीरे समीर जराइ दी छाती।"
३२९

यहाँ भी प्रभात होना व्यंग्यार्थ है, किन्तु 'कंज-पराग-भरयो' 'सीरे समीर' के कथन से प्रभात का होना स्पष्ट प्रतीत नहीं होता—उसकी प्रतीति विचार करने पर ही होती है। अतः यहाँ गूढ़ व्यंग्य है। अगूढ़ और गूढ़ व्यंग में यही विशेषता है।

अर्थ-शक्ति-मूलक अगूढ़ व्यंग्य—

हूआ था फणि पाश[2]-वन्धन यहाँ, द्रोणाद्रि लाया यहाँ—
तेरे देवर[3] के लिये शशिमुखी! जा मारुती[4] ही वहाँ।
सौमित्री-शर से सुरेन्द्र-जित भी स्वर्गस्थ हूआ यहीं;
कीया था दशकण्ठ का वध यहीं देखो किसी ने कहीं।
३३०

विमान पर बैठकर अयोध्या को लौटते समय विजयी श्रीरघुनाथजी की जनकनन्दिनी के प्रति यह उक्ति है। चौथे पाद का वाच्यार्थ है—'रावण का वध किसी ने यहीं कहीं किया था'। इसमें 'हमने किया था' व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है, इसलिये अगूढ़ है। जिस प्रकार अभिधा-मूला अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि में वस्तु से

१ कमलों की रज से भरा हुआ। ३ लक्ष्मणजी के लिये।
२ नाग-पाश। ४ हनूमानजी।

वस्तु-रूप गूढ़ व्यंग्य होता है, उसी प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु-रूप अगूढ़ व्यंग्य है। 'यहीं देखो किसी ने कहीं' के स्थान पर 'प्रिये! देखो यहीं तो कहीं' कर देने पर 'ध्वनि' हो जाती है। क्योंकि 'प्रिये! देखो यहीं तो कहीं' पद का प्रयोग किया जाने से रावण का वध करनेवाले श्रीरामचन्द्र जी की गूढ़-व्यंग्य द्वारा प्रतीति होती है।

"द्रोन कहै भृकुटी करि वंक भए सुत कायर मंगल गावैं;
राज-सभा बिच नाहर रूप रु काम परै पर स्यार कहावैं।
क्यूँ तुमसे नृप पूत दुसासन! गाल बजाइ कै वीरता पावैं;
सात्यकी तें बचे जन्म भयो नयो, सूप बजावैं कि थार बजावैं।"
३३१(५६)

सात्यकी से पराजित दुश्शासन के प्रति द्रोणाचार्य के ये वाक्य हैं। 'सात्यकी से पराजित होकर तुझे सकुशल आया हुआ देखकर हम तेरा नया जन्म हुआ समझते हैं। इस नये जन्म के हर्ष में सूप बजावें या थाली'। यहाँ 'तुझे कन्या समझें या पुरुष!' व्यंग्य है यह वाच्य के समान स्पष्ट है। क्योंकि पुत्र-जन्म के समय थाली और कन्या-जन्म के समय सूप बजाने की लोक-प्रसिद्ध प्रथा है।

'अगूढ़-व्यंग्य' शब्द-शक्ति-मूलक वस्तु रूप और अलङ्कार रूप नहीं हो सकता, और न असंलक्ष्यक्रम ही हो सकता है, क्योंकि शब्द-शक्ति-मूलक व्यंग्य की प्रतीति सहसा नहीं हो सकती है, वह गूढ़ व्यंग्य ही होता है। असंलक्ष्यक्रम में भी विभावादिकों के द्वारा 'व्यंग्य' की विलम्ब से प्रतीति होती है, वहाँ भी व्यंग्य 'गूढ़' ही होता है।

(२) अपराङ्ग व्यंग्य

जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग हो जाता है, उसे अपराङ्ग व्यंग्य कहते हैं।

अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रस, भाव आदि) या संलक्ष्यक्रमव्यंग्य जहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रस, भाव आदि) के या संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के अथवा वाच्यार्थ के अङ्ग हो जाते हैं, वहाँ उन्हें अपराङ्ग व्यंग्य कहते हैं।

यहाँ 'अङ्ग' से उस प्रकार के अङ्गों से तात्पर्य नहीं है, जैसे शरीर के अङ्ग हाथ पैर आदि हैं और कपड़े का अङ्ग सूत। यहाँ 'अङ्ग' कहने का तात्पर्य है 'अपने संयोग से अङ्गी को उद्दीपन करना'।

ध्वनि प्रकरण में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रस, भाव आदि) को ध्वनि के भेद कह आये हैं, क्योंकि वहाँ ये प्रधान व्यंग्य होकर ध्वनित होते हैं। अर्थात् अलङ्कार्य रूप (दूसरे द्वारा शोभायमान होने वाले) होते हैं। इस लिये वहाँ इनकी ध्वनि संज्ञा है। यहाँ इनको गुणीभूतव्यंग्य बताने का कारण यह है कि यहाँ ये अपराङ्ग (दूसरे के अङ्ग) होने के कारण गौण (अप्रधान) होते हैं। अर्थात् यहाँ यह प्रधान न रहकर केवल अलङ्कार रूप (दूसरे को शोभित करनेवाले) रहने से गुणीभूतव्यंग्य कहे जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों को जो रस के अङ्ग और शोभाकारक हैं, वे अलङ्कार क्यों नहीं माने जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार हाथ-पैर आदि शरीर के अवयव हैं और शरीर की शोभा भी करते हैं, पर ये अलङ्कार नहीं कहे जाते, उसी प्रकार व्यभिचारी भाव यद्यपि रस के अवयव हैं—उनसे रस की सिद्धि होती है—पर वे अलङ्कार नहीं कहे जाते।

रस में रस की अपराङ्गता—

जहाँ एक रस किसी दूसरे रस का अथवा भाव, रसाभास, भावा-

मास आदि का अङ्ग (अपराङ्ग) हो जाता है, वहाँ (रस का सम्बन्धी हो जाने के कारण) इसे 'रसवत्' अलङ्कार भी कहते हैं।

यहाँ 'रस' का अपराङ्ग होना कहा गया है, किन्तु रस किसी दूसरे का अङ्ग नहीं हो सकता है। अतः जहाँ कोई रस अपराङ्ग हो जाता है, वहाँ उस रस के स्थायी भाव को समझना चाहिये।

उदाहरण--

उरु जघनन सपरस करन, कुचन विमर्दनहार;
हा ! यह प्रिय को कर वही !, नीवी खोलनवार। ३३२

महाभारत युद्ध में मृत भूरिश्रवा के कटे हुए हाथ को अपने हाथ में लेकर यह उसकी स्त्री का कारुणिक क्रन्दन है 'यह' पद हाथ की वर्तमान दशा को सूचित करता है। और 'वही' पद पहले की जीवित अवस्था की उत्कृष्ट दशा का स्मरण कराता है। अर्थात् इस समय यह हाथ अनाथ की भाँति रण-भूमि की मिट्टी से मलिन है। इसको खाने के लिये गिद्ध दृष्टि डाल रहे हैं। यह वही हाथ है, जो पहले शत्रुओं का गर्व चूर्ण करने में समर्थ था, शरणागतों को अभय देने वाला था और काम के रहस्यों का मर्मज्ञ था। यहाँ स्मरण किया गया शृङ्गार-रस, करुण-रस को पुष्ट कर रहा है; अतः शृङ्गार-रस, करुण रस का अङ्ग हो जाने से अपराङ्ग शृङ्गार रस है। यहाँ असंलक्ष्यक्रम का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अङ्ग है[1]।

---

१ 'उरुजघनन सपरसकरन' उदाहरण में यह शङ्का हो सकती है कि जब यहाँ प्रकरणगत अपने मृतक पति के शोक में उसकी पत्नी का क्रन्दन ह[illegible] के कारण करुण-रस की प्रधानता संभव है, तब इसे ध्वनि न मा[illegible] गुणीभूत व्यंग्य क्यों माना जाता है? इसका उत्तर यह है कि [illegible] नहीं, जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य में एक के साथ दूसरे का संकर या संसृष्टि रूप से मिलाव न रहता हो।

भाव में रस की अपराङ्गता—

इच्छा मेरे न धन-जन या काम-भोगादिकों की,
होते हैं ये सुखद न सदा कर्म-आधीन जो कि।
है तेरे से सविनय यही प्रार्थना मातु ! मेरी,
गङ्गे ! पादाम्बुज-युगल की दीजिए भक्ति तेरी ॥३३३

पहले दोनों चरणों में वैराग्य का वर्णन होने से शान्त रस की व्यञ्जना है। उत्तरार्द्ध में श्रीगङ्गाजी के विषय में जो देव-विषयक रति—भक्ति-भाव—की व्यञ्जना है उसको शान्त रसकी व्यञ्जना पुष्ट कर रही है। इसलिए यहाँ शान्त रस, देव-विषयक रति-भाव का अंग हो गया है। यहाँ भाव में रस की अपराङ्गता है।

भाव में भाव की अपराङ्गता—

जब एक भाव किसी दूसरे भाव का अंग हो जाता है तब उसे, अत्यन्त प्रिय हो जाने के कारण, 'प्रेयस्' अलङ्कार कहते हैं।

जाते ऊपर को अहो ! उतर के नीचे जहाँ से छती,
है पैड़ी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।
स्वर्गारोहण के सदैव इनके हैं मार्ग कैसे नए,
देखो ! भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किए !३३४

अर्थात् ध्वनि में गुणीभूतव्यंग्य का और गुणीभूतव्यंग्य में ध्वनि का मिश्रण प्रायः रहता ही है। किन्तु जहाँ जिसकी प्रधानता होती है—जिसमें अधिक चमत्कार होता है, उसी के नाम से व्यवहार हुआ करता है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अतएव उक्त उदाहरण में करुणरस की अपेक्षा शृंगार रस की गौणता, में ही अधिक चमत्कार है। इसलिए यहाँ करुण-रस न मान कर शृङ्गार-रस की गौणता के कारण गुणीभूत-व्यंग्य माना गया है।

यहाँ स्वर्ग-मार्ग की विचित्रता का जो वर्णन किया गया है, उसमें 'विस्मय' भाव है, वह गङ्गा-विषयक रति-भाव का अङ्ग है, अतः यहाँ एक भाव दूसरे भाव का अङ्ग है।

रुधिर-लिप्त-वसना सिथिल खुले केस द्युति-हीन;
रजवति जुवति समान नृप! तू रिपु-सेना कीन्ह।३३५

यहाँ रजस्वला की अवस्था के वर्णन में ग्लानि-भाव की व्यञ्जना है। यह, शत्रु सेना की तादृश अवस्था में जो ग्लानि एवं त्रास भाव की व्यञ्जना है, उसका अङ्ग है। क्योंकि रजस्वला की उपमा से, शत्रु-सेना में जो ग्लानि और त्रास की व्यञ्जना होती है, उसकी पुष्टि होती है। इनके द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष ध्वनित होता है। और ये ग्लानि एवं त्रास भाव दोनों राज-विषयक रति-भाव के अङ्ग हैं।

रसाभास की अपराङ्गता—

इसे उर्जस्वी अलङ्कार कहते हैं।

लखि वन फिरत सुछंद, नृप! तुव रिपु-रमनीन सौं;
करतु विलास पुलिंद, तजि निज-प्रिय-वनितान कौं।३३६॥

यहाँ उभय-निष्ठ रति नहीं है। राजा की रिपु-रमणियों का प्रेम भीलों में नहीं है, केवल भीलों का (पुलिंदों का) ही प्रेम उन रमणियों में है। भीलों का प्रेम राज-रमणियों में होना अनुचित है, अतः रसाभास है। यह रसाभास कवि की राज-विषयक रति-भाव का अङ्ग है, क्योंकि इस वर्णन से राजा की प्रशंसा का उत्कर्ष होता है इसलिये भाव का रसाभास अङ्ग है।

भावाभास की अपराङ्गता—

इसे भी उर्जस्वी अलङ्कार कहते हैं।

सफल जनम निज हम गिन्यो तुव दरसन रन पाय ;
यों अरि नृप हू तुहि कहत जस फैल्यो भुवि माँय ।३३७

विजयी राजा की शत्रुओं द्वारा प्रशंसा की जाने में जो राज-विषयक रति-भाव है वह भावाभास है। क्योंकि विजित शत्रु द्वारा की गई विजयी राजा की चाटुकारी में प्रशंसा का आभास मात्र है। यह भावाभास कवि द्वारा की हुई राजा की प्रशंसा का उत्कर्षक है, अतः यहाँ भावाभास राज-विषयक रति-भाव का अङ्ग है।

"भौन भरे सिगरे ब्रज सौंह सराहत तेरेई सील सुभाइन ;
छाती सिरात सुने सबकी चहुँ ओर ते चोप चढ़ी चितचाइन।
एरी बलाइ ल्यौं मेरी भटू! सुनि तेरी हौं चेरी परौं इन पाइन ;
सौतिहु की अँखियाँ सुख पावति तो मुख देखि सखी सुखदाइन।"
३३८

'सौतिहु की अँखियाँ सुख पावति' में भावाभास है—नायिका विषयक सपत्नी का रति-भाव आभासमात्र है। सखी द्वारा नायिका के शील की जो प्रशंसा की गई है, वह सखी का नायिका विषयक रति-भाव है। इस रति-भाव का उक्त भावाभास अङ्ग है, क्योंकि इसके द्वारा नायिका के शील का उत्कर्ष सूचित होता है।

भाव-शान्ति की अपराङ्गता—

इसे 'समाहित' अलङ्कार भी कहते हैं।

गरजन अति तरजन करत रहे जु असिन घुमाइ ;
लखि तुहि रनमें अरिन कौ मद वह गयो बिलाइ ।३३९

यहाँ गर्व-भाव की शान्ति है। यह भाव-शान्ति राजा के महत्त्व की उत्कर्षक है, अतः राजविषयक रति-भाव का अङ्ग है। यहाँ 'मद' का अर्थ गर्व नहीं है—तलवार घुमाना आदि है अतः 'मद' शब्द से गर्व-सञ्चारी का शब्द द्वारा कथन नहीं समझना चाहिए।

"तेरे वैरि-भूपति अनूप रति-मन्दिर में ;
सुन्दरनि संग लै अनंग रस लीने हैं।
भनै 'उजियारे' विपरीत यह चोर माँह ;
भारे भए द्या भूप कौतुक नवीने हैं।
वैनी मृगनैनो को परी है कंठ आइ ताहि ;
तेरो तेग सुमरि सुभाइ चित चीने हैं।
छाँड़ि परजंक तैं मयंक-मुखी अंक तैं जु,
भाजत ससंक तैं अतंक भय-भीने हैं।"
३४०(४)

यहाँ रति-भाव की शान्ति है। यह राजा के महत्त्व को उत्कर्षक है। अतः वह राज-विषयक रति-भाव का अङ्ग है।

भावोदय की अपराङ्गता—

इसे 'भावोदय' अलङ्कार भी कहते हैं।

"वाजि गजराज सिवराज सेन साजत ही,
दिल्ली दलगीर दसा दीरघ दुखन की ;
तनिया न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न,
घामैं घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की।
'भूषन' भनत पति-बाँह बहियाँ न तेऊ,
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की ;
वालियाँ विथुरि जिमि आलियाँ नलिन पर[1],
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।"
३४१(३५)

---

१ अलि (भौंरे) जैसे कमलों पर मडराते हैं, उसी प्रकार कानों की बालियाँ मुख पर गिर रही हैं।

यहाँ शिवाजी की सेना के सुसज्ज होने पर यवन-रमणियों में त्रास-भाव का उदय ध्वनित होता है। यह भावोदय कविराज भूषण द्वारा की हुई शिवाजी की स्तुति का पोषक है, अतः राजविषयक रति भाव का अङ्ग है।

भाव-सन्धि की अपराङ्गता—

इसे 'भाव सन्धि' अलङ्कार भी कहते हैं।

इत जात सहे न अहो! लखिके मृदुगात महातप-ताप तए;
गिरजा-मुख की प्रिय बातन हू सौं अघात न है अति भात हिए।
छल-वेष कौं छोड़िबे की जो त्वरा अरु सैथिल सौं अभियुक्त भए;
वह शंकर या निज किंकर के हरिए भव-दुःख भयंकर ए॥ ३४२

यह श्रीमहादेवजी की स्तुति है। "कठोर तप के कारण पार्वतीजी के अङ्गों को क्षीण होते हुए देखकर उन्हें वर देने के लिये अपना कपट वेष छोड़ने की जिन्हें जल्दी लगी हुई है। पार्वतीजी के साथ श्रीशङ्कर की (ब्रह्मचारी के कपट-वेष में) जो बातें हो रही हैं, उस आनन्द का भी वे छोड़ना नहीं चाहते हैं, इसलिये उस कपट-वेष को छोड़ने को भी जिनका मन नहीं चाहता है। ऐसी अवस्था में फँसे हुए त्वरा (शीघ्रता) और शैथिल्य भावों से अभियुक्त श्रीशङ्कर मुझ किङ्कर के सांसारिक दुःखों को हरण करें।" यहाँ 'त्वरा' में आवेग और 'शैथिल्य' में धृति इन दोनों भावों को जो सन्धि है वह श्रीशङ्कर-विषयक रति (भक्ति) भाव का अङ्ग है। यद्यपि आवेग और धैर्य परस्पर विरोधी हैं, किन्तु यहाँ समान बल होने से एक से दूसरे का उपमर्दन नहीं है।

भाव-शबलता की अपराङ्गता—

इसे 'भाव-शबलता' अलङ्कार कहते हैं।

पट देहु लला! करि जोरि कहैं बरजोरी भला न इती पकरौ;
हम जाइ पुकारहिँगी नृपसौं बढ़ि जाइगौ नाहक ही झगरौ।

लखि लोग कहा कहि हैं ? समुझौ ! व्रज-गौरिनसौं न अनीत करौ ;
हँसि तीर बुलायके चीर दिए यदुवीर वही भव-भीर हरौ ॥
३४३

यहाँ 'करजोरि कहैं' में दीनता, 'बरजोरी' में असूया, 'जाइ पुकारहिंगी' में गर्व, 'वढ़ि जाइगो झगरो' में स्मृति, 'लखि लोग' में व्रीड़ा, 'कहा कहिहैं' में वितर्क, और 'अनीति न करौ' में विबोध भाव है। इन सब भावों का एक साथ प्रतीत होना भाव-शबलता है यहाँ यह भाव-शबलता श्रीकृष्ण-विषयक रति-भाव का अङ्ग है। अतः यहाँ भाव शबलता की अपराङ्गता है।

अपराङ्ग व्यंग्य में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव शबलता) के अपराङ्ग होने के जो भेद ऊपर दिखाये गये हैं, उनके नाम रसवत्, प्रेयस् आदि अलङ्कार बतलाये गये हैं। कुछ ग्रन्थों में इनको अलङ्कार प्रकरण में अलङ्कारों के अन्तर्गत लिखे गये हैं। किन्तु ये गौण व्यंग्यात्मक होने के कारण वास्तव में गुणीभूतव्यंग्य ही है। अलङ्कार तो वाच्यार्थ रूप होते हैं, न कि व्यंग्यार्थ। अलङ्कारता तो इनमें नाम मात्र है। अर्थात् अलङ्कारों का धर्म इनमें केवल यही है कि जिस प्रकार अलङ्कार दूसरे को (शब्दार्थ को) शोभित करते हैं, उसी प्रकार ये भी अपराङ्ग होकर दूसरे को (रस भावादि को) शोभित करते हैं। इसलिये काव्यप्रकाश में इन्हें गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत ही लिखे गये हैं।

वाच्यार्थ में शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपराङ्गता—

कीन्हों मैं भ्रमन जन थानन त्यों कानन में,
कनक-मृग-तृष्णा सौं मति भरमाई है ;
बोल्यौ बार-बार मुख वैदेही पुकार तेती—
बार धार आँखन सौं अश्रु की ढराई है।

कान लगे ताने ताकलंक भरता के बान,
धीरज न छाँड़ी सारी घटना घटाई है;
पाई है अवस्य अविरामता सौं रामता मैं,
जानकी हू आई पै न हाथ कहीं पाई है[1] ॥३४४॥

निराशा को प्राप्त होकर किसी राज-सेवक की यह उक्ति है। मैंने रामता—श्रीरामचन्द्रजी की समानता तो अवश्य प्राप्त कर ली, उन्होंने जो-जो कार्य किये थे वे सभी कार्य मैंने भी किये किन्तु वे तो जानकीजी के मिल जाने से कृतकार्य हो गये थे पर मेरे हाथ कुछ न आया। इस पद्य के शब्द-शक्ति द्वारा दो अर्थ होते हैं। ऊपर के तीनों पादों में भगवान रामचन्द्र के कार्यों की श्लिष्ट पदों द्वारा वक्ता ने अपने में समानता दिखाई है। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी ने कनक-मृग की तृष्णा से जनस्थान नाम के कानन (वन) में भ्रमण किया था, मैं भी जन अर्थात् लोगों के स्थानों में और जङ्गलों में कनक (सुवर्ण) की अर्थात् धन की मृग-तृष्णा से भटकता फिरा। उन्होंने वैदेही का (सीताजी का) नाम कह कहकर आँखों से अश्रुपात छुटाए थे, मैंने भी वै-देही अर्थात् 'ज़रूर दो' (कुछ तो ज़रूर दो) इस प्रकार कह-कहकर दुःख के आँसू बार-बार बहाए। उन्होंने लङ्का के भर्ता (स्वामी) रावण के ऊपर कान तक तानकर बाण चलाए थे, और धैर्य से बहुत-सी युद्ध की रचना रची थी, मैंने भी भर्ता के ताने अर्थात् अपने मालिक को वचनों के बाण सुने, जो मेरे लिए कलङ्क रूप थे। मैं ये घटनाएँ धैर्य से सहता रहा, किन्तु जिसके लिये उन्होंने ये कार्य किये थे, वह जानकी उनको तो मिल गई, [illegible] मैं यों ही रहा, प्राणों तक की नौबत आगई, पर पाई भी का[illegible]

---

१ जिस 'जनस्थाने भ्रान्तं'.................. [illegible] भट्ट वाचस्पति के नाम से कविकण्ठाभरण [illegible]

यहाँ 'जनथानन' इत्यादि शब्दों के दो अर्थ होने के कारण श्रीरामचन्द्र का सादृश्य (उपमा) शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन ध्वनि द्वारा वक्ता में प्रतीत होता है, इसलिये यहाँ प्रधान व्यंग्य हो सकता था। किन्तु शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि से प्रतीत होनेवाला यह सादृश्य चौथे पाद के 'रामता पाई' पद द्वारा प्रकट कर दिया गया है, अतः यह वाच्य हो गया है—छिपा हुआ व्यंग्य नहीं रहा है। अर्थात् ऊपर वाले तीनों पादों में जो व्यंग्यार्थ द्वारा दूसरे अर्थ प्रतीत होते हैं वे वाच्यार्थ के पोषक हो गए हैं, अतः वाच्यार्थ का अंग हो जाने के कारण वह व्यंग्यार्थ प्रधानता से गिरकर गुणीभूतव्यंग्य हो गया है। यह शब्द-शक्ति-मूलक इस लिये है कि 'जनथान', 'कनक-मृग-तृष्णा' और 'वैदेही', आदि पदों के स्थान पर इसी अर्थ के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता है। और 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अनुरणन' इसलिये है कि श्रीरामचन्द्र-विषयक जो वाच्यार्थ है उसके पश्चात् व्यंग्यार्थ सूचित होता है। यहाँ शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन रूप जो श्रीरामचन्द्र का उपमान भाव और वक्ता का उपमेय भाव अर्थात् व्यंग्य उपमा है, वह व्यंग्य 'रामता पाई' इस वाच्य का अङ्ग होने से अपराङ्ग गुणीभूतव्यंग्य है, न कि वाच्यसिद्ध्यङ्ग। क्योंकि 'रामता पाई' इस वाच्यार्थ की सिद्धि 'जनथान-भ्रमण' आदि विशेषण रूप वाच्यार्थ से ही हो जाती है—उसके लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है। 'वाच्यसिध्यङ्ग' में तो व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती जैसा कि वाच्यसिद्ध्यङ्ग के उदाहरणों में आगे स्पष्ट किया जायगा।

अर्थ-शक्ति मूलक संलक्ष्यक्रम का वाच्य के अङ्गभूत होना—

विरह-विकल नलिनी निकट आय, अनत रहि रात।
पाद-पतन सौं जतन करि अब रवि इहिँ विकसात ॥३४५

अनुनय के बिना ही मान छोड़ देने वाली नायिका से सखी की

यह उक्ति है। हे सखि! देख सारी रात अन्यत्र रह कर, प्रभात में विरह-व्याकुल कमलिनी के निकट आकर, सूर्य अब पाद-पतन से—पैरों में गिर कर या श्लेषार्थ से अपनी किरणों द्वारा इसे विकसित कर रहे हैं मना रहे हैं। यहाँ सूर्य और कमलिनी का वृत्तान्त वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ से नायक और नायिका का जो वृत्तान्त प्रतीत होता है, वह अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ है। कवि ने यह वर्णन सूर्य-कमलिनी का किया है, पर इसके द्वारा नायक और नायिका के शृङ्गार-रस का भी आस्वादन होता है; अतएव यहां इस व्यंग्यार्थ से उक्त वाच्यार्थ का उत्कर्ष होता है। शब्द बदल देने पर भी इस व्यंग्यार्थ की (नायक-नायिका के वृत्तान्त की) प्रतीति हो सकती है, इसलिये अर्थ-शक्ति-मूलक है। यह सूर्य-कमलिनी का वृतान्त जो वाच्यार्थ है, वह प्राकरणिक है। इस वाच्यार्थ द्वारा प्रसिद्धि वश जो अन्यासक्त नायक और नायिका का वृत्तान्त समान व्यवहार से प्रतीत होता है, वह व्यंग्यार्थ अप्राकरणिक है, और उस (व्यंग्यार्थ) की प्रधानता नहीं है—केवल वाच्यार्थ में आरोपित होकर वह वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ा देता है। इसलिये व्यंग्यार्थ यहां वाच्यार्थ का अङ्ग है, अर्थात् अपराङ्ग-गुणीभूत व्यंग्य है। यहां भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के प्रथम ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, अतः वाच्यसिद्ध्यङ्ग नहीं है। 'समासोक्ति' अलङ्कार में यही अपराङ्ग-गुणीभूतव्यंग्य होता है, क्योंकि समासोक्ति में वाच्य अर्थ की प्राधनता रहती है। अपराङ्ग व्यंग्य में अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतएव इसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार का विषय न समझना चाहिये।

(२) वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है, उसे वाच्यसिद्ध्यङ्ग कहते हैं।

जलद-भुजग-विष विषम अति बिरहिन दुखद अपार।
अरति अलस चित-भरम हू करतु मरन तन-छार।३४६

अर्थात् मेघ-रूप भुजङ्ग (सर्प) का विष अर्थात् जल[1] अत्यन्त विषम है। यह वियोगियों को विषयों से विरक्त करनेवाला एवं उनके आलस्य, चित्त-भ्रम और मरण का कारण है—शरीर को जला देता है। यहाँ मेघ को सर्प कहा है। यह अर्थ तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है जब तक विष अर्थात जल में विष (ज़हर) की व्यञ्जना नहीं होती है। विष का अर्थ जल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है, और व्यञ्जना द्वारा विष का व्यंग्यार्थ जहर प्रतीत होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है अर्थात् यहाँ व्यंग्यार्थ ही वाच्यार्थ को सिद्ध करता है।

"करत प्रकास सु दिसिन कौं रही ज्योति अति जागि ;
है प्रताप तेरो नृपति ! बैरी - वंस - दवागि।"३४७(६०)

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है। 'हे राजन ! सारी दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला तेरा प्रदीप्त यश शत्रुओं के वंश के लिये दावानल है'। यहाँ प्रताप को दावानल कहा गया है। जङ्गल में लगने वाली अग्नि को दावानल कहते हैं; अतएव जब तक जङ्गल की तरह जलनेवाली कोई वस्तु न कही जाय, तब तक प्रताप को दावानल कहना सिद्ध नहीं हो सकता है। 'वंस' पद बाँस और कुल दोनों का वाचक है। उसका अर्थ 'बैरी' शब्द की समीपता के कारण कुल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है। तदनन्तर व्यंग्य से शत्रु-कुल में बाँस के जंगल की प्रतीति होती है, और इसके द्वारा प्रताप को दावानल कहना सिद्ध हो जाता है; अतः यह भी वाच्यसिद्धयङ्ग व्यंग्य है।

अपराङ्ग व्यंग्य और वाच्यसिद्धयङ्ग व्यंग्य में यह भेद है कि 'अपराङ्ग-व्यंग्य' में व्यंग्य द्वारा वाच्यार्थ को सिद्ध करने की

---

१ विष का अर्थ जल भी है।

अपेक्षा नहीं रहती है—वहाँ व्यंग्य, वाच्यार्थ का केवल उत्कर्षक होता है। किन्तु वाच्यसिद्ध्यङ्ग-व्यङ्ग में वाच्यार्थ की सिद्धि करने के लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है।

(४) अस्फुट व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ स्फुट[1] रूप से प्रतीत नहीं होता हो उसे अस्फुट व्यंग्य कहते हैं।

अन देखे देखन चहैं देखें बिछुरन भीत ;
देखे बिन, देखेहु पै तुमसौं सुखन नहिं मीत ।३४८

मित्र के प्रति किसी की उक्ति है--'जब आप नहीं दीखते हैं—दूर रहते हैं—तब तो आपको देखने की उत्कट इच्छा बनी रहती है, इसलिये सुख नहीं मिलता। जब आप दृष्टिगत रहते हैं--समीप रहते हैं--तब पुनः वियोग होने का भय रहता है। अतएव न तो आपको बिना देखे ही सुख है, और न देखने पर ही'। यहाँ 'आप सदैव समीप ही रहिए' यह व्यंग्य है, किन्तु इसकी प्रतीति बड़ी कठिनता से होती है। अतः अस्फुट है।

"साजि सिंगार हुलास विलास अवास तें पीतम-पास पधारी ;
देह की दीपति ऐसी लसै जिहिं देखत दामिनि कोटिक वारी।
आगे ह्वै जाइकै आदर कै कर पै कर राखि लै आए मुरारी ;
भैंचकी हेरि हँसी विलखी तिय भीतर भौन भयो रँग भारी।"
३४९

यहाँ 'भैंचक' और 'बिलखने' में क्या व्यंग्य है, सो स्फुट प्रतीत नहीं होता है। बहुत कठिनता से हर्ष के कारण 'किलकिञ्चित्' भाव सूचित होता है, अतः अस्फुट है।

---

१ अच्छी तरह।

(५) सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ ऐसा निर्णय न हो सके कि वाच्यार्थ में चमत्कार अधिक है या व्यंग्यार्थ में ? वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता है।

ऊगत ही ससि उदधि ज्यों कछुइक धीरज छोर ;
त्रिनयन तव निरखन लगे उमा-वदन की ओर ।३५०

कामदेव द्वारा वसन्त ऋतु का आविर्भाव किया जाने पर पार्वतीजी के सम्मुख श्रीशिवजी की जो अवस्था हुई, उसका यह वर्णन है। 'श्री शिवजी का पार्वती के सम्मुख देखना' वाच्यार्थ है और 'अन्य अभिलाषाएँ' व्यंग्यार्थ हैं। इन दोनों ही अर्थों में समान चमत्कार है। यहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता है या वाच्यार्थ की ! यह सन्देह ही रहता है; इस लिये सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य है।

(६) तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान होता है, उसे तुल्यप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

विप्रन को अपराध नहिँ करिबो ही कल्यानु ;
परसुराम है मित्र पै दुर्मन ह्वैहि हैं जानु ।३५१

राक्षसों के उपद्रवों से क्रोधित परशुरामजी का रावण के पास भेजा हुआ यह सन्देश है। 'ब्राह्मणों का अपराध (तिरस्कार) नहीं करने में ही तुम लोगों का कल्याण है, मैं परशुराम तुम्हारा मित्र हूँ, किन्तु यदि तुम ब्राह्मणों पर आक्रमण करोगे तो हम दुर्मन हो जायँगे' यह वाच्यार्थ है। व्यंग्य यह है कि 'मैं यदि तुम लोगों पर बिगड़

जाऊँगा तो सारे राक्षस-कुल का सर्वनाश समझना'। यहाँ व्यंग्य और वाच्यार्थ दोनों प्रधान हैं—दोनों में समान चमत्कार है अतः तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य है।

(७) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य

'काकु' द्वारा आक्षिप्त[1] व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है।

'काकु' एक प्रकार की उक्ति होती है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दों का अर्थ वक्ता के कहने के साथ ही वाच्यार्थ के विपरीत अर्थ में बदल जाता है। यह व्यंग्य गौण इसलिये है कि सहज ही में तत्काल जान लिया जाता है।

"जो हरि कों तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई ;
ज्यों अपने भरतारहि छाँड़ि भई बिभिचारिनि कामिनि कोई।
'सुन्दर' ताहि न आदर जान फिरै बिमुखी अपनी पति खोई ;
बूड़ मरै किन कूप मझार कहा जग जीवत है सठ सोई ?"
३५२(५०)

'कहा जग जीवत है सठ सोई ?' यह काकु-उक्ति है। इसके कहने के साथ ही 'वह जीता नहीं है' (जीता हुआ ही मरा है) यह व्यंग्यार्थ, जो वाच्यार्थ से विपरीत है, प्रतीत होने लगता है।

अंध-सुत कौरवन सारे सत बंधुन कौं,
ह्वैकै क्रुद्ध-मत्त कहा युद्ध में पछारौं ना ?
करिकै कबंध ताहि रंध्रसौं जु पीवे काज,
दुःसासन उर हू सों रक्त कौं निकारौं ना।
मारौं ना सुयोधन हू बिदारौं ना ऊरू कहा ?;
मेरी वा प्रतिज्ञा हू की अवज्ञा विचारौं ना ?

---

१ काकु उक्ति द्वारा खिंचकर आया हुआ।

करौ क्यों न संध पाँच ग्रामन प्रबंध रूप,
भूप वो तिहारो है न चारो हौं निवारौं ना ?
३५३

कौरवों से पाँच गाँव लेकर सन्धि करने की बात सुनकर सहदेव के प्रति कुपित भीमसेन की यह उक्ति है। वाच्यार्थ में कौरवों को न मारने के लिये और सन्धि करने के लिये कहा गया है। किन्तु जिस भीमसेन ने दुर्योधनादि एक सौ कौरव भ्राताओं को मारने की, दुःशासन के रुधिर पीने की और दुर्योधन की उरू भङ्ग करने की प्रतिज्ञा की थी उसके द्वारा यह कथन सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ क्रोध के आवेश में कण्ठ की एक विशेष ध्वनि द्वारा, कहे हुए 'क्या मैं कौरव-बन्धुओं को न मारूँ' इत्यादि काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ ही तत्काल यह व्यंग्यार्थ आक्षिप्त हो जाता है कि 'मैं कौरव-बन्धुओं को अवश्य मारूँगा' इत्यादि। अतः यह काकाक्षिप्त व्यंग्य है।

ध्वनि-प्रकरण में पहिले काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य में 'काकु'-उक्ति के कारण ध्वनित होने वाले व्यंग्य को ध्वनि कहा गया है और यहाँ इसे गुणीभूतव्यंग्य माना गया है। इसका कारण यह है कि काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ, निषेधात्मक व्यंग्य तत्काल जान लिया जाता है, और वाक्य पूरा हो जाता है, उसके पश्चात् जहाँ कोई दूसरा व्यंग्यार्थ न हो वहाँ गुणीभूतव्यंग्य होता है। किन्तु काकु-उक्ति के प्रश्न का व्यंग्यार्थ रूप निषेध सूचित हो जाने के पश्चात् भी जहाँ अन्य व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है और जो तत्काल प्रतीत नहीं हो सकती—विलम्ब से काव्य-मर्मज्ञों को ही प्रतीत होती है—वहाँ काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य होता है। इसका विशेष विवेचन पहिले काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य में कर चुके हैं[१]।

---

१ देखो पृष्ठ ६४।

(८) असुन्दर व्यंग्य

व्यंग्यार्थ की अपेक्षा जहाँ वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है, उसे असुन्दर व्यंग्य कहते हैं।

उड़े विहग वन-कुंज में वह धुनि सुनि ततकाल ;
सिथलित तन विकलित भई गृह-कारज-रत बाल ।३५४

'समीर के वन-कुञ्ज में पक्षियों के उड़ने के शब्द सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका व्याकुल हो गई'। इस वाच्यार्थ में 'सङ्केत किया हुआ प्रेमी कुञ्ज में पहुँच गया और नायिका न जा सकी' यह व्यंग्यार्थ है। वाच्यार्थ में पक्षियों के शब्द श्रवण-मात्र से सारे अङ्गों में शिथिलता और विकलता हो जाने में जैसा चमत्कार है वैसा इस व्यंग्यार्थ में नहीं है, इसलिये असुन्दर व्यंग्य है।

गुणीभूत व्यंग्य के भेदों की संख्या

ध्वनि के जो ५१ शुद्ध भेद होते हैं, उनमें से 'वस्तु से अलङ्कार व्यंग्य' के निम्नलिखित ६ भेद छोड़ देने पर शेष जो ४२ भेद रहते हैं वही गुणीभूतव्यंग्य के शुद्ध भेद होते हैं—

३ स्वतः सम्भवी वस्तु से अलङ्कारव्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत।

३ कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्धवस्तु से अलङ्कारव्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत।

३ कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति सिद्धवस्तु से अलङ्कार व्यंग्य—पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत।

ये नौ भेद गुणीभूतव्यंग्य के नहीं हो सकते। क्योंकि प्रथम तो वस्तु रूप वाच्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ का अलङ्कार स्वतः ही अधिक चमत्कारक होता है, क्योंकि अलङ्कार की योजना ही इसलिये की जाती है। दूसरे, व्यंग्य होने पर अलङ्कार का चमत्कार और भी बढ़ जाता है। अतएव व्यंग्य-अलङ्कार गुणीभूत नहीं हो सकता[1]।

गुणीभूत व्यङ्ग के उक्त ४२ शुद्ध भेद, अगूढ़ आदि आठों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग के ३३६ शुद्ध भेद होते हैं। ३३६ शुद्ध भेदों के, परस्पर में एक दूसरे से मिश्रित होने पर, (३३६ से ३३६ गुणन करने पर) १,१२,८९६ भेद होते हैं। ये १,१२,८९६ भेद तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि भेद से (चार के गुणन करने पर) ४,५१,५८४ सङ्कीर्ण (मिश्रित) भेद होते हैं। और इनमें ३३६ शुद्ध भेद जोड़ देने पर ४,५१,९२० गुणीभूतव्यङ्ग के भेद होते हैं।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रित भेद

सजातीय से सजातीय के मिश्रण से अर्थात् ध्वनि से ध्वनि, गुणीभूत व्यंग से गुणीभूतव्यंग्य और अलङ्कार से अलंकार का जिस प्रकार मिश्रण होकर भेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विजातीय से विजातीय के मिश्रण होने से (जैसे ध्वनि से गुणीभूतव्यङ्ग एवं अलङ्कार के मिलाप से) असंख्य मिश्रित भेद हो जाते हैं।

ध्वनि से ध्वनि के सजातीय मिश्रण के अर्थात् ध्वनि की संसृष्टि और संकर के उदाहरण ध्वनि प्रकरण में दिखाये जा चुके हैं।

---

१ 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा ;
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।'
—ध्वन्यालोक २।२२।

ध्वनि के साथ गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण (संकर) का उदाहरण 'उरुजघननसपरसकरन' (पृष्ठ ३०५) है। उसमें करुण-रस की प्रधानता को लेकर ध्वनि है, और शृङ्गार-रस की गौणता को लेकर गुणीभूत व्यङ्ग है, और इनका अङ्गाङ्गी भाव संकर है।

ध्वनि के साथ अलङ्कार के मिश्रण का उदाहरण 'करके तल सों जु कपोलन की…' (पद्य सं० ३७४) है। उसमें श्लेष, रूपक और व्यतिरेक ये तीनों अलङ्कार विप्रलम्भ-शृङ्गार के अङ्ग होने के कारण असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि और अलङ्कारों का अङ्गाङ्गी भाव संकर है।

गुणीभूतव्यंग्य के साथ अलङ्कार के मिश्रम का उदाहरण—

"बैठी जहाँ गुरुनारि समाज में गेह के काज में है बस प्यारी,
देख्यो तहाँ वनते चलि आवत नंदकुमार कुमार बिहारी।
लीन्हैं सखी कर-कंज में मंजुल मंजरी-वंजुल कुंज विन्हारी;
चंदमुखी मुखचंद की कांति सौं भोर के चंद-सो मंद निहारी।"
३५५(६)

यहाँ 'कुञ्ज में मिलने का सङ्केत करके नायिका का वहाँ न जा सकना' व्यंग्यार्थ है। इस व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है। अतः गुणीभूतव्यंग्य है। नायिका के मुख की म्लानता को प्रभात के चन्द्रमा की जो उपमा दी गई है, उससे उक्त व्यंग्यार्थ की पुष्टि होती है। इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य का उपमा अलङ्कार अङ्ग हो जाने से गुणीभूत-व्यंग्य और अलङ्कार का अङ्गाङ्गी भाव संकर है।

इसी प्रकार अन्य मिश्रित भेदों के उदाहरण होते हैं। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का विषय विभाजन

'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' आदि अलङ्कारों में वाचक शब्द के अभाव में जो उपमा आदि अलङ्कार व्यंग्य रहते हैं, वे गुणीभूतव्यंग्य

होते हैं। वाच्यार्थ-अलङ्कारों में जो अलङ्कार 'व्यंग्य' रूप होते हैं (अलङ्कारों की ध्वनि निकलती है और जो ध्वनि-प्रकरण में दिखाये जा चुके हैं), वे प्रधानता से ध्वनित होते हैं, और इसलिये उन्हें ध्वनि का भेद माना गया है। किन्तु दीपक, तुल्ययोगिता आदि में जो उपमा आदि व्यंग्य होते हैं, वे प्रधानता से ध्वनित नहीं होते। दीपक आदि में उपमा आदि जो व्यंग्यार्थ रहते हैं उनके ज्ञान के बिना ही 'दीपक' आदि अलङ्कारों की रचना के चमत्कार में ही आस्वाद आ जाता है—व्यंग्य रूप से रहनेवाले उपमादि तक दूर जाने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। वहाँ कवि का तात्पर्य व्यंग्यार्थ में नहीं होता है। ध्वनिकार का कहना है कि वाच्यार्थ के अलङ्कार में अन्य अलङ्कार की प्रतीति होने पर भी जहाँ उस—अन्य अलङ्कार—की प्रतीति में कवि का तात्पर्य नहीं होता वहाँ ध्वनि नहीं होती है[1]।

शब्द द्वारा स्पष्ट कर देने से व्यंग्यार्थ की रमणीयता कम हो जाती है अतः जो व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है, वह गुणीभूत हो जाता है। जैसे—

गोपराग-हत दृष्टि सौं कछुइ न सकी निहारु;
स्खलित भई हौं नाथ! अब पतितन लेहु उधारु।

पतितन लेहु उधारु? देहु अवलंबन केसव!
सरन आप ही एक, खिन्न सब अबलन को अब।
यों सलेस कहि वचन सुखद मृदु सरस राग-भृत;
मुदित किए नँदलाल, बाल दृग-गोपराग-हत।३२९

---

१ 'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते;
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः।'
—ध्वन्यालोक २। ३०

श्रीकृष्ण के समीप गई हुई किसी गोपी को दूर खड़े हुए श्रीकृष्ण में अन्य गोप का भ्रम हो गया। श्रीकृष्ण के समीप पहुँचने पर उस गोपी की श्रीनन्दनन्दन के प्रति यह उक्ति है—'हे केशव, गो-पराग अर्थात् गौओं के खुरों से उड़ी हुई धूलि से दृष्टि धुँधली हो जाने से मैं स्पष्ट नहीं देख सकी और मार्ग भूल गई हूँ। मुझ भटकती हुई को आप सहारा दीजिये। आप ही दुर्बलों के शरण्य हैं'। इस प्रकार श्लेष से मधुर वाक्य कहकर व्रजांगना ने श्रीनन्दनन्दन को प्रसन्न कर लिया। यह वाच्यार्थ है। इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि 'मेरी दृष्टि गोप-राग अर्थात् किसी अन्य गोप के राग से हृत (भ्रान्त) हो जाने से मैं कुछ देख न सकी—आपको पहचान न सकी—इसलिये मैं स्खलित हो गई हूँ—मैंने भूल की है—अब आपके चरणों में गिरी हुई हूँ। आप मुझे स्वीकार करें। खिन्न अबलाओं के (काम-तप्त रमणियों के) आप ही एकमात्र शरण्य हैं'। यह व्यंग्यार्थ 'सलेश' पद द्वारा प्रकट कर दिया गया है। अतः व्यंग्य की रमणीयता कम हो जाने से वह गुणीभूतव्यंग्य हो गया है। यदि यहाँ 'सलेश' पद न होता तो यह ध्वनि हो सकती थी।

गुणीभूत होकर भी व्यंग्य रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से ध्वनि अवस्था को प्राप्त हो जाता है[1]।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से गुणीभूतव्यंग्य को भी ध्वनि समझा जायगा, तो गुणीभूतव्यंग्य का कोई विषय ही नहीं रहेगा? इसका उत्तर यह है कि ध्वनि या गुणीभूत का निर्णय इनकी प्रधानता पर ही निर्भर है। रसात्मक वर्णन में जहाँ

---

१ 'प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्;
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।"
—ध्वन्यालोक ३। ४१

व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी, वहाँ उसकी ध्वनि संज्ञा होगी, और जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होगा, वहाँ वह गुणीभूतव्यंग्य ही होगा। अर्थात् ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य, इन दोनों में जहाँ जिसका माना जाना युक्ति-युक्त हो—जिसमें अधिक चमत्कार हो--वहाँ उसी को मानना चाहिये--सर्वत्र ध्वनि नहीं[1]।

देखिये—

फूलन को गजरा गुहि लाल ने प्यारी कौं चाह्यो कराइबो धारन ;
टेरत में मुख वें निकस्यो तब भूलिकें सौंति को नाम अकारन।
हास हुलास गयो उड़ि भामिनि बोलि कछू न कियो जु उचारन ;
भूमि लगी पद सौं जु कुरेदन और लगी अँसुवा दृग ढारन।
३५७

करिवे को सिँगार विदा के समै हुलसाय हिये सजनी मिली आई ;
पद-पंकज में महँदी को रचाय सखी इक यों कहिकै मुसकाई।
'पिय सीस की चंदकला छुहिबो करै' आसिष ये है हमारो सदाई ;
मुख ते न कह्यो कछु पै गिरिजा मनि-माल को लै तिहिँ ओर चलाई।
३५८

तात्पर्य का विचार करने पर इन दोनों पद्यों में शृङ्गार-रस की व्यञ्जना है। क्योंकि यहाँ पहले पद्य में भाव-शान्ति और दूसरे पद्य में व्रीड़ा, अवहित्था, ईर्ष्या और गर्व-भाव ध्वनित होते हैं, अतः असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि है। किन्तु 'बोलि कछू न कियो जु उचारन' और 'मुख ते न कह्यो कछु' इन वाक्यों द्वारा भाव-शान्ति और व्रीड़ा आदि

---

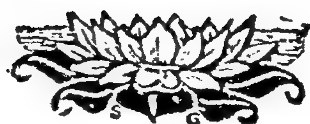
१ "प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना।"
—ध्वन्यालोक ३।४०

व्यंग्यार्थ के भाव स्पष्ट हो गए हैं, अतएव उनकी 'ध्वनि' संज्ञा न रह कर अगूढ़ गुणी-भूतव्यंग्य प्रधान हो गया है।

इसी प्रकार जहाँ रसादि व्यंग्यार्थ केवल नगरी आदि के वर्णन के अंग हो जाते हैं, वहाँ भी गुणीभूतव्यंग्य ही समझना चाहिए। जैसे—

नीवी ग्रंथी-शिथलित जहाँ चीर बिंबाधरों के—
खैंचे जाते चपल कर से काम-रागी-प्रियों के।
वे भोली ह्री-विवश, मणि के दीप चाहैं बुझाना,
हो जाता है विफल उनका चूर्ण मुष्टी-चलाना।३५९

यहाँ सम्भोग-शृङ्गार अलकापुरी के वर्णन का अङ्ग है, अतः गुणीभूतव्यंग्य है।



षष्ठ स्तवक

—❀—

गुण

काव्य का आत्मा रस है। गुण रस के धर्म हैं। अर्थात् गुण रस में रहते हैं। गुण रस के अन्तरङ्ग धर्म हैं और अलङ्कार रस के धर्म नहीं हैं। इसलिये अलङ्कारों के पहले गुणों के विषय में विवेचन किया जाना समुचित है।

'गुण' के महत्व के विषय में भगवान् वेदव्यास आज्ञा करते हैं कि गुण-रहित काव्य, अलङ्कार युक्त होने पर भी आनन्द-प्रद नहीं होता है। जैसे कामिनी के लालित्य आदि गुण-रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।[1]

गुण का सामान्य लक्षण

जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।

---

१ 'अलङ्कृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्;
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।
—अग्निपुराण, ३४६।१

जैसे शूरता आदि चेतन आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण काव्य के आत्मा रस के धर्म हैं। इसलिये गुण रस के धर्म कहे गये हैं।

'गुण' को रस का उत्कर्षक कहा जाने का कारण यह है कि इसमें दोष का अभाव है। किसी वस्तु का उत्कर्ष तभी हो सकता है जब उसमें कोई दोष नहीं होता है।

'गुण' रस के साथ नित्य रहने वाले हैं। जहाँ रस की स्थिति होती है, वहाँ गुण, रस का अवश्य उपकार करते हैं। इसलिये रस के साथ गुण की अचलस्थिति कही गई है।

रसयुक्त काव्य में ही गुण रहते हैं—नीरस काव्य में नहीं। सुकुमार वर्णोंवाले नीरस काव्य को भी लोग 'मधुर' कह देते हैं, किन्तु ऐसा कहना औपचारिक है। जैसे शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, किन्तु किसी व्यक्ति में वस्तुतः शूरत्व न रहने पर भी केवल उसके शरीर की स्थूलता देखकर अदूरदर्शी लोग उसे शूरवीर कह देते हैं। इसी प्रकार जिनकी बुद्धि रस-विवेचन तक नहीं पहुँच सकती है, वे लोग वर्ण-रचना (पद-समूह) की आपात रमणीयता देखकर नीरस काव्य को भी माधुर्य-युक्त काव्य कह देते हैं। आचार्य मम्मट का मत है कि वास्तव में माधुर्य आदि गुण केवल वर्ण-रचना के आश्रित नहीं हैं किन्तु वे रस के धर्म हैं और समुचित वर्ण, समास और रचना द्वारा व्यञ्जित होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ वर्ण-रचना में भी गुणों की स्थिति मानते हैं।[1]

---

१ 'तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः'—रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ५५। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमारे 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' के द्वितीय भाग में किया गया है।

गुण और अलङ्कार

गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य के उत्कर्षक हैं। किन्तु इनके सामान्य लक्षणों पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। 'गुण' रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण रस के साथ नित्य रहते हैं। पर अलङ्कार रस-रहित--नीरस काव्य में भी रहते हैं। 'गुण' रस का सदैव उपकार करते हैं, पर 'अलङ्कार' रस के साथ रहकर कभी रस के उपकारक होते हैं और कभी उपकारक न होकर प्रत्युत अनुपकारक भी होते हैं। इनके कुछ उदाहरण; देखिये—

रस और अलङ्कार

"हौं ही ब्रज वृंदावन मोही में बसत सदा,
जमुना-तरंग स्यामरंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुञ्जनि में सुनियत गुञ्जनि अलीन की।
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की;
भरि रही भनक बनक ताल ताननि की,
तनक तनक तामैं खनक चुरीन की।"३६०(२०)

यहाँ 'तरंग', 'रंग', 'कुञ्जनि', 'गुञ्जनि', 'भनक', 'बनक' इत्यादि में अनुप्रास शब्द का अलङ्कार है। यह शब्दालङ्कार पहले तो शब्दों को अलंकृत करता है—उनकी शोभा बढ़ाता है—तदनन्तर शृंगार-रस का उपकार करता है, क्योंकि अनुस्वार की अधिकता शृङ्गार-रस व्यञ्जक है।

छिन-छिन विष की-सी लहर बढ़त-बढ़त ही जाहिँ;
लगी निगोड़ी लगन यह छोड़ी छूटत नाहिँ।३६१

यहाँ लगन को 'विष की सी लहर' कहने में 'उपमा' अलङ्कार है। यह अलङ्कार अर्थ को अलंकृत करता हुआ रस का उपकार करता है, क्योंकि लगन को—पूर्वानुराग को—विष के समान फैलने की उपमा देने से विप्रलम्भ शृङ्गार का उत्कर्ष होता है। अतः यहाँ अर्थालङ्कार उपमा रस का उपकारक है।

जब रसात्मक काव्य में अलङ्कार का समावेश उचित अवसर पर किया जाता है, और उसका अन्त तक निर्वाह नहीं किया जाता है, अथवा निर्वाह किया भी जाता है तो अलङ्कार को प्रधानता न देकर उसे रस का अङ्गभूत रक्खा जाता है, उसी अवस्था में 'अलङ्कार' रस का उपकारक हो सकता है। जैसे—

"बाढ्यौ ब्रज पै जो ऋन मधुपुर-बासिनि कौ,
　　तासौं ना उपाय काहूँ भाय उमहन कौं;
कहै 'रत्नाकर' बिचारत हुतीं हीं हम,
　　कोऊ सुभ जुक्ति तासौं मुक्त ह्वै रहन कौं।
किन्यौ उपकार दौरि दौउनि अपार ऊधौ,
　　सोई भूरि भारसौं उबारता लहन कौं;
ले गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
　　आये तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौं॥"३६२(१४)

यहाँ उद्धवजी के प्रति गोपाङ्गनाओं की इस उक्ति में 'सुख-मूर कान्ह' और 'प्रान ब्याज' में रूपक अलङ्कार है। इस रूपक द्वारा यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार की पुष्टि होने के कारण 'रूपक' प्रधान न रहकर विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो गया है। अतएव उचित अवसर पर समावेश किये जाने के कारण अलङ्कार यहाँ रस का उपकारक है।

"दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न;
नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहिर निकसत बैन।"३६३(२५)

गुण और अलङ्कार

गुण और अलङ्कार दोनों ही काव्य के उत्कर्षक हैं। किन्तु इनके सामान्य लक्षणों पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। 'गुण' रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण रस के साथ नित्य रहते हैं। पर अलङ्कार रस-रहित—नीरस काव्य में भी रहते हैं। 'गुण' रस का सदैव उपकार करते हैं, पर 'अलङ्कार' रस के साथ रहकर कभी रस के उपकारक होते हैं और कभी उपकारक न होकर प्रत्युत अपकारक भी होते हैं। इनके कुछ उदाहरण देखिये—

रस और अलङ्कार

"हौं ही ब्रज वृंदावन मोही में बसत सदा,
जमुना-तरंग स्यामरंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुञ्जनि में सुनियत गुञ्जनि अलीन की।
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की;
भरि रही भनक बनक तालताननि की,
तनक तनक तामैं खनक चुरीन की।"३६०(२०)

यहाँ 'तरंग', 'रंग', 'कुञ्जनि', 'गुञ्जनि', 'भनक', 'बनक' इत्यादि में अनुप्रास शब्द का अलङ्कार है। यह शब्दालङ्कार पहले तो शब्दों को अलंकृत करता है—उनकी शोभा बढ़ाता है—तदनन्तर शृंगार-रस का उपकार करता है, क्योंकि अनुस्वार की अधिकता शृङ्गार-रस व्यञ्जक है।

छिन-छिन विष की-सी लहर बढ़त-चढ़त ही जाहिँ;
लगी निगोड़ी लगन यह छोड़ी छूटत नाहिँ।३६१

यहाँ लगन को 'विष की सी लहर' कहने में 'उपमा' अलङ्कार है। यह अलङ्कार अर्थ को अलंकृत करता हुआ रस का उपकार करता है, क्योंकि लगन को—पूर्वानुराग को—विष के समान फैलने की उपमा देने से विप्रलम्भ शृङ्गार का उत्कर्ष होता है। अतः यहाँ अर्थालङ्कार उपमा रस का उपकारक है।

जब रसात्मक काव्य में अलङ्कार का समावेश उचित अवसर पर किया जाता है, और उसका अन्त तक निर्वाह नहीं किया जाता है, अथवा निर्वाह किया भी जाता है तो अलङ्कार को प्रधानता न देकर उसे रस का अङ्गभूत रक्खा जाता है, उसी अवस्था में 'अलङ्कार' रस का उपकारक हो सकता है। जैसे—

"बाढ़यौ ब्रज पै जो ऋन मधुपुर-बासिनि कौ,
तासौं ना उपाय काहूँ भाय उमहन कौं;
कहै 'रत्नाकर' विचारत हुतीं हीं हम,
कोऊ सुभ जुक्ति तासौं मुक्त ह्वै रहन कौं।
किन्यौ उपकार दौरि दौरनि अपार ऊधौ,
सोई भूरि भारसौं उबारता लहन कौं;
ले गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आये तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौं॥"३६२(१४)

यहाँ उद्धवजी के प्रति गोपाङ्गनाओं की इस उक्ति में 'सुख-मूर कान्ह' और 'प्रान ब्याज' में रूपक अलङ्कार है। इस रूपक द्वारा यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार की पुष्टि होने के कारण 'रूपक' प्रधान न रहकर विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग हो गया है। अतएव उचित अवसर पर समावेश किये जाने के कारण अलङ्कार यहाँ रस का उपकारक है।

"दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न;
नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहिर निकसत बैन।"३६३(१५)

नायक और नायिका के वचनों को यहाँ जो सूम की उपमा दी गई है, वह शृङ्गार रस में व्रीड़ा-भाव की पुष्टि करती है; अतः उपमा का उचित अवसर पर उपयोग किया जाने के कारण यहाँ उपमा अलङ्कार प्रधान न रहकर शृङ्गार रस का अङ्ग होकर रस का उपकारक है।

"होठन बीच हसै विकसै चख भौंह कसै कुच-कोर दिखावै;
बान-कटाच्छ को लच्छ करै, परतच्छ ह्वै और कबौं दुरि जावै।
छाँह छुवावै छबीली न आपुनी लाल नवेले कौं यों ललचावै;
हाथी कौं चाबुक को असवार ज्यों साथ लगायकै हाथ न आवै।"
३६४ (३८)

यहाँ नायिका को जो चाबुक सवार की उपमा दी गई है, वह पूर्वानुराग-शृङ्गार की पुष्टि करती है; अतः यहाँ भी उपमा अलंकार अङ्गभूत होकर रस का उपकारक है। इसके विपरीत—

राहू-तिय को कीन्ह हरि रति-सुख चुंबन-सेस[1];
आलिंगन ते हीन ही चक्रघात आदेस ।३६५

यहाँ भगवान् विष्णु के ऐश्वर्य का वर्णन है, अतः देव-विषयक रति-भाव है। पर्यायोक्ति[2] अलङ्कार के चमत्कार ने इस भाव को दबा दिया है। राहु के सिरच्छेदन को सीधी तरह से न कहकर भङ्ग्यन्तर से (दूसरे प्रकार से) कहे जाने में पर्यायोक्ति का चमत्कार प्रधान हो जाने के कारण रति भाव गौण हो गया है। इस प्रकार अलङ्कार की प्रधानता होना रस के प्रतिकूल है।

१ अमृत दान के समय भगवान् ने मोहिनी रूप में राहु दैत्य का सिर चक्र से काट कर उसकी स्त्री का रति-सुख केवल चुंबन-मात्र ही कर दिया सिर के नीचे का शरीर न रहने के कारण आलिङ्गन-सुख नहीं रहा।

२ पर्यायोक्ति में किसी बात को सीधी तरह से न कहकर भङ्गयन्तर से (घुमा-फिराकर दूसरी तरह से) कही जाती है।

किसी अवसर पर ग्रहण किये हुए अलङ्कार को रस की अनुकूलता के लिये छोड़ देना ही उचित होता है। जैसे—

तू नव-पल्लव रक्त दिखावतु रु मैं हू प्रिया-गुन रक्त लखावतु;
धावतु तो पै सिलीमुख त्यौं कुसुमायुध-प्रेरित मोहू पै आवतु।
कामिनि के पद-घात सौं तू बिकसात रु मोहू वो मोद बढ़ावतु;
पै तू असोक रु मैं हूँ स-सोक यहो समता अपनी नहिं पावतु[1]।
३६६

'रक्त', 'शिलीमुख' आदि श्लिष्ट पदों से यहाँ श्लेष अलङ्कार की रचना प्रारम्भ की गई थी। वियोग शृङ्गार को पुष्ट करने के लिये चौथे चरण में असोक, और 'स-सोक' अश्लिष्ट पदों का प्रयोग करके अन्त में श्लेष अलङ्कार को छोड़ दिया गया है। यह रसानुकूल होने से रस का उपकारक है।

किसी अवसर पर रस की अनुकूलता के लिये अलङ्कारों का अत्यन्त निर्वाह न करना उचित होता है। जैसे—

"आए भोर गोविंद विभावरी बिताए अंत,
झूमति झुकति गति आलस अतुल तें;
नैन झपकौले बैन कहत कछू के कछू,
सिथलित अंग रति-रंग के बहुल तें।

---

१ वियोगी पुरुष की अशोक वृक्ष के प्रति उक्ति है—'तू नवीन पत्रों से रक्त (अरुण वर्ण) है, मैं भी अपनी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुझ पर शिलीमुख (भृङ्ग) आते हैं; मुझ पर भी काम के शिलीमुख (बाण) आते हैं। तू कामिनी के चरण के आघात से प्रफुल्लित हो जाता है, मुझे भी वह आनन्द-प्रद है। हम दोनों में ये सभी समानता होने पर भी एक बड़ी असमानता यह है कि तू अशोक है, किन्तु मैं सशोक—प्रिया के वियोग से शोकाकुल हूँ।

मदन दली-सी छैल-छल सौं छली-सी दीसी,
सूखत अधर घने स्वास की उछुल तें;
बाहु-वल्लरी के खास पास में फँसाय बाल,
गाल गुलचावत गुलावन के गुल तें ”३६७(१२)

नायिका की बाहु-लता में पाश का जो आरोप किया गया है, उस रूपक का अत्यन्त निर्वाह नहीं किया गया है यह उचित है। क्योंकि पाश में बाँधने के रूपक को दृढ़ करने के लिये यदि उसके अनुकूल अन्य सामग्रियों का भी वर्णन किया जाता तो रस-भङ्ग हो जाना अनिवार्य था। इसके विपरीत—

“मुरली सुनत बाम काम-जुर लीन भई,
धाई धुर लीक सुनि बिँधी बिधुरनि सौं;
पावस नदी-सी यह पावस न दीसी परै,
उमड़ी असंगत तरगित उरनि सों।
लाज-काज सुख-साज बंधन समाज नाँघि,
निकसी निसंक सकुचै नहिं गुरुनि सौं;
मीन ज्यों अधीनी-गुन कीनी खैंच लीनी 'देव'
बंसीधर बंसी डार बंसी के सुरनि सौं।”३६८(२०

यहाँ बंशी में (मुरली) में बंसी का (मछली मारने के यंत्र-वडिस का) आरोप करने में रूपक है। इस रूपक का गोपियों को मीन की उपमा देकर अन्त तक निर्वाह किया गया है। यह रस के प्रतिकूल है, क्योंकि बंसी (वडिस) द्वारा मीनों का प्राण नष्ट होता है। इस प्रकार अप्रासङ्गिक अलङ्कारों का निर्वाह करने में रस भङ्ग हो जाता है।

रसात्मक काव्य में यदि किसी अलङ्कार का अन्त तक निर्वाह करना अभीष्ट ही हो तो औचित्य का विचार रखकर अलङ्कार को वर्णनीय रस के अङ्गभूत रक्खा जाय तभी वह रस का उत्कर्षक होता है। जैसे—

माधवी की लतिकान बनी जु कलिंद-सुता-तट मंजुल कुंजन ;
क्वैइलयान की कूज जहाँ मधुरी मधुपावलि की मद-गुंजन ।
लै बनसी बनसी सम कै मधुराधर के मधु सौं मनरंजन ;
श्रीनँदनंदन ने धुनि की ब्रज-बालन मानमयी भख-भंजन ।
३६९

मुरली को यहाँ भी बंसी (मच्छी मारने के यन्त्र) की उपमा दी गई है, किन्तु इस उपमा का अन्त तक निर्वाह करने के लिये गोपी जनों के मान को मीन कल्पना किया गया है— न कि साक्षात् गोपियों को। गोपाङ्गनाओं के मान का मुरली की ध्वनि से नष्ट होना सुसङ्गत है। यहाँ उपमा शृङ्गार रस की पुष्टिकारक होने के कारण रस की अङ्गभूत है। अतः रस की उपकारक है।

श्यामाओं में मृदुल-वपु को, दृष्टि भीता-मृगी में,
चन्द्राभा में वदन-छवि को, केश बर्हाकृती में।
भ्रू-भंगी को चल लहरि में, देखता मानिनी मैं,
तेरी एकस्थल सदृशता हा ! न पाता कहीं मैं।३७०

मेघदूत में विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा की श्यामा (प्रियङ्गु-लता) आदि में उत्प्रेक्षा की गई है। इस सादृश्य का अन्त तक निर्वाह किया गया है। किन्तु यहाँ महाकवि कालिदास ने इस सादृश्य को विप्रलम्भ-शृंगार का अङ्गभूत बनाए रक्खा है।

"फूँकि-फूँकि मंत्र मुरली के मुख जंत्र कीन्हीं,
प्रेम परतंत्र लोक-लोक तें डुलाई हैं ;
तजे पति, मात, तात, गात न सँभारे कुल-
वधू अधरात वन-भूमिन भुलाई हैं।
नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गुपाल गुन,
गारुड़ सिंगार रूपकला अकुलाई हैं—

मदन दली-सी छैल-छल सौं छली-सी दीसी,
सूखत अधर घने स्वास की उछुल तें;
बाहु-बल्लरी के खास पास में फँसाय बाल,
गाल गुलचावत गुलावन के गुल तें"३६७(१२)

नायिका की बाहु-लता में पाश का जो आरोप किया गया है, उस रूपक का अत्यन्त निर्वाह नहीं किया गया है यह उचित है। क्योंकि पाश में बाँधने के रूपक को दृढ़ करने के लिये यदि उसके अनुकूल अन्य सामग्रियों का भी वर्णन किया जाता तो रस-भङ्ग हो जाना अनिवार्य था। इसके विपरीत—

"मुरली सुनत बाम काम-जुर लीन भई,
धाई धुर लीक सुनि बिँधी बिधुरनि सौं;
पावस नदी-सी यह पावस न दीसो परै,
उमड़ी असंगत तरगित उरनि सौं।
लाज-काज सुख-साज बंधन समाज नाँघि,
निकसी निसंक सकुचै नहिं गुरुनि सौं;
मीन ज्यों अधीनी-गुन कीनी खैंच लीनी 'देव'
बंसीधर बंसी डार बंसी के सुरनि सौं।"३६८(२०

यहाँ वंशी में (मुरली) में बंसी का (मछली मारने के यंत्र-वडिस का) आरोप करने में रूपक है। इस रूपक का गोपियों को मीन की उपमा देकर अन्त तक निर्वाह किया गया है। यह रस के प्रतिकूल है, क्योंकि बंसी (वडिस) द्वारा मीनों का प्राण नष्ट होता है। इस प्रकार अप्रासङ्गिक अलङ्कारों का निर्वाह करने में रस भङ्ग हो जाता है।

रसात्मक काव्य में यदि किसी अलङ्कार का अन्त तक निर्वाह करना अभीष्ट ही हो तो औचित्य का विचार रखकर अलङ्कार को वर्णनीय रस के अङ्गभूत रक्खा जाय तभी वह रस का उत्कर्षक होता है। जैसे—

माधवी की लतिकान बनी जु कलिंद-सुता-तट मंजुल कुंजन ;
क्वैइलयान की कूज जहाँ मधुरी मधुपावलि की मद-गुंजन।
लै बनसी बनसी सम कै मधुराधर के मधु सौं मनरंजन ;
श्रीनँदनंदन ने धुनि की व्रज-बालन मानमयी झख-भंजन।
३६९

मुरली को यहाँ भी बंसी (मच्छी मारने के यन्त्र) की उपमा दी गई है, किन्तु इस उपमा का अन्त तक निर्वाह करने के लिये गोपी जनों के मान को मीन कल्पना किया गया है— न कि साक्षात् गोपियों को। गोपाङ्गनाओं के मान का मुरली की ध्वनि से नष्ट होना सुसङ्गत है। यहाँ उपमा शृङ्गार रस की पुष्टिकारक होने के कारण रस की अङ्गभूत है। अतः रस की उपकारक है।

श्यामाओं में मृदुल-वपु को, दृष्टि भीता-मृगी में,
चन्द्राभा में वदन-छवि को, केश बर्हाकृती में।
भ्रू-भंगी को चल लहरि में, देखता मानिनी मैं,
तेरी एकस्थल सदृशता हा ! न पाता कहीं मैं। ३७०

मेघदूत में विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा की श्यामा (प्रियङ्गु-लता) आदि में उत्प्रेक्षा की गई है। इस सादृश्य का अन्त तक निर्वाह किया गया है। किन्तु यहाँ महाकवि कालिदास ने इस सादृश्य को विप्रलम्भ-शृंगार का अङ्गभूत बनाए रक्खा है।

"फूँकि-फूँकि मंत्र मुरली के मुख जंत्र कीन्हीं,
प्रेम परतंत्र लोक-लीक तें डुलाई हैं ;
तजे पति, मात, तात, गात न सँभारे कुल-
वधू अधरात वन-भूमिन भुलाई हैं।
नाथ्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गुपाल गुन,
गारडू सिंगार रूपकला अकुलाई हैं--

लीलि-लीलि लाल दृग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
कीलि-कीलि व्यालिनी-सी ग्वालिनी बुलाई हैं।"
३७१(२०)

इस वर्णन में मुरली की ध्वनि में मन्त्र का आरोप किया गया है। गोपाङ्गनाओं को व्यालिनी की उपमा देकर इस रूपक का अन्त तक निर्वाह किया गया है। इसके द्वारा विप्रलम्भ-शृङ्गार की पुष्टि होती है। यहाँ रूपक अलङ्कार विप्रलम्भ का अङ्ग बना हुआ है, अतः यहाँ अलङ्कार का निर्वाह किया जाना रस का उपकारक है।

इसके सिवा शृङ्गार-रस में, विशेषतया विप्रलम्भ-शृङ्गार में, यमक, सभङ्ग-श्लेष एवं चित्रबन्ध अलङ्कारों के समावेश में इन अलङ्कारों की ही प्रधानता हो जाती है, और इनके चमत्कार में बुद्धि के संलग्न हो जाने से वर्णनीय रस का तादृश आनन्दानुभव नहीं हो सकता[1]। शृङ्गारात्मक काव्य में, विभावादि के आयोजन में यमक आदि किसी ऐसे अलङ्कारों का काकतालीय[2] निस्पादन (सिद्ध) हो जाने में तो कोई हानि नहीं है, किन्तु आग्रह-पूर्वक अलङ्कारों का अप्रासङ्गिक समावेश किये जाने में रस आस्वादनीय नहीं रहता। देखिए—

कर के तल सौं जु कपोलन की पतरावलि भंजु मिटाइ रह्यो;
पुनि स्वासन सौं अधरानहु को लै सुधा-रस मोजु मनाइ रह्यो।
लगि कंठ ढरावतु स्वेदहु त्यों कुच-मंडल चारु हिलाय रह्यो;
यह रोष कियो मनभावतो तू, नहिँ प्यारी! मैं तोहि सुहाय रह्यो।
३७२

---

१ 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्;
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।'
—ध्वन्यालोक २।१६

२ विना यत्न के स्वयं।

हथेली पर कपोल रक्खे हुए हैं, दीर्घ निस्वासों से अधर शुष्क हो रहे हैं, प्रस्वेद टपक रहे हैं, कण्ठ अवरुद्ध हो रहा है, और हिचकियों से हृदय उछल रहा है; ऐसी कुपित नायिका के प्रति नायक की उक्ति है—'तूने अब अपना प्रियतम क्रोध ही को बना लिया है, क्योंकि वह तेरे कपोलों की पत्रावली मिटा रहा है, निस्वासों से अधर-रस पान कर रहा है, कण्ठ से लगकर (गद्गद् कण्ठ हो जाने से) प्रस्वेद छुटा रहा है, और कुच-मण्डल को हिला रहा है'।

यहाँ प्रियतम द्वारा किए जाने वाले कार्यों की श्लिष्ट (द्व्यर्थक) शब्दों द्वारा क्रोध में समानता दिखाई जाने में श्लेष अलङ्कार है। क्रोध में प्रियतम का आक्षेप किये जाने में रूपक अलङ्कार भी है। तुझे क्रोध मेरे से अधिक प्रिय है, इस कथन में व्यतिरेक अलङ्कार भी है। ये तीनों अलङ्कार यहाँ वियोग-शृङ्गार के वर्णन में अनायास सिद्ध हो गए हैं—इनका आग्रह-पूर्वक समावेश नहीं किया गया है। अतः यहाँ इनके द्वारा रस के आनन्दानुभव में कुछ बाधा उपस्थित नहीं होती है, प्रत्युत ये वियोग-शृङ्गार के पोषक होकर रस के अङ्ग हो जाने के कारण रसके उपकारक हैं। इसके विपरीत—

"देखी सो न जुही फिरति सोनजुही से अंग ;
दुति लपटनु पट सेत हू करति बनौटी रंग।" २७३(२९)

इसमें 'सोनजुही' पद के यमक की प्रधानता ने नायिका-वर्णनात्मक शृङ्गार-रस को दबा दिया है।

"बस न चलत तुम सौं कछू बस न हरहु हरि लाज ;
बसन देहु ब्रज माँहि अब बसन देहु ब्रजराज[1]।" ३७४

---

१ तुमसे कुछ बस नहीं चलता, बस लज्जा का हरण मत करिए ब्रज में बसने दीजिये, अब वस्त्रों को दे दीजिये।

गोपीजनों की इस उक्ति में दैन्य सञ्चारी की व्यञ्जना 'बसन' पद के यमक द्वारा दब जाने से अलङ्कार के प्रधान हो जाने के कारण यहाँ 'यमक' शब्दालङ्कार रस का अनुपकारक हो गया है।

"देखत कछु कौतुक इतै देखौ नेक निहारि;
कब की इकटक डटि रही टटिया अँगुरिन डारि।"३७५(२९)

नायक के प्रति नायिका के पूर्वानुराग का सखी द्वारा वर्णन होने से यहाँ शृङ्गार-रस है। 'ट' की कई बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास अलङ्कार भी है। यह शब्दालङ्कार रस का उपकारक नहीं, प्रत्युत अपकर्ष करनेवाला है, क्योंकि 'ट' वर्ण की रचना शृङ्गार-रस के विरुद्ध है।

रस-रहित अलङ्कार—

"दुसह दुराज प्रजानि को क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द;
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद।"३७६(२९)

यहाँ पूर्वार्द्ध की सामान्य बात का उत्तरार्द्ध की विशेष बात से समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, किन्तु यहाँ कोई रस की व्यञ्जना नहीं। अतः स्पष्ट है कि रस के बिना भी अलङ्कार की स्थिति हो सकती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलङ्कार का रस के साथ होना या उनके द्वारा रस का उपकार होना नियत—नित्य—नहीं है। जिस प्रकार योग्य स्थान पर धारण किये हुए 'हार' आदि भूषणों से शरीर की शोभा होती अवश्य है, पर इनके न होने पर भी शरीर की कुछ हीनता प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार रस भी प्रसङ्गानुकूल प्रयुक्त किये गए अलङ्कारों से अलंकृत—शोभित—अवश्य होता है, पर उनके न होने से भी रस की

कुछ हानि नहीं होती है। किन्तु 'गुण' रस के साथ अनिवार्य रहते हैं[१]।

गुणों की संख्या

गुणों की संख्या के विषय में मत-भेद है। श्रीभरत मुनि ने दस गुण बतलाये हैं[२]। आचार्य दण्डी ने गुणों की संख्या और नाम तो भरत मुनि के अनुसार ही लिखे हैं, किन्तु उनके लिखे हुए गुणों के लक्षण भिन्न हैं[३]। वामनाचार्य के अनुसार शब्द के दश और अर्थ के दश गुण होते हैं[४]। महाराज भोज के मत के अनुसार गुणों की संख्या और भी अधिक है[५]। किन्तु भामह के मतानुसार आचार्य मम्मट ने केवल तीन ही गुण माने हैं, और अन्य शेष गुणों में से कुछ को तो इन तीनों गुणों के अन्तर्गत बताया है और शेष को गुण ही नहीं माना है, उन्हें दोषों के अभाव रूप बतलाये हैं[६]। श्रीमम्मट के इस मत को प्रायः सभी उत्तरकालीन साहित्याचार्यों ने स्वीकार किया है। इन तीन गुणों के नाम हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

---

१ यह विषय बहुत विवादास्पद है। उपरोक्त विवेचन ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के मतानुसार है। इसके विशद विवेचन के लिये हमारा संस्कृतसाहित्य के इतिहास का दूसरा भाग देखिए।

२ देखिए नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर-संस्करण, अध्याय १५। ९२-१०३।

३ देखिए, काव्यादर्श, परिच्छेद १। ४१-९३।

४ देखिए, काव्यालङ्कारसूत्र-अधिकरण ३ अध्याय प्रथम और द्वितीय।

५ देखिए, सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णयसागर-संस्करण, प्रथम परिच्छेद; पृष्ठ ४२-७३।

६ देखिए काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास।

(१) माधुर्य गुण

जिस काव्य-रचना से अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाता है, उस रचना में माधुर्य गुण होता है।

द्रवीभूत का अर्थ है चित्त का आर्द्र हो जाना—पिघल जाना। काठिन्य[1] दीप्तत्व[2] और विक्षेप[3] चित्तवृत्तियों के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत आनन्द के उत्पन्न होने के कारण माधुर्य गुण-युक्त रस के आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है। यह गुण सम्भोग-शृङ्गार से करुण में, करुण से वियोग-शृङ्गार में, और वियोग-शृङ्गार से शान्त रस में अधिकाधिक होता है। यहाँ शृङ्गार का कथन उपलक्षण-मात्र है, अर्थात् शृङ्गार के आभास आदि में भी माधुर्य गुण होता है।

ट, ठ, ड, ढ को[4] छोड़कर स्पर्श[5] वर्ण (अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म), वर्गान्त वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) से युक्त अर्थात् अनुस्वार-सहित वर्ण (जैसे अङ्ग, रञ्जन, कान्त, कम्प), ह्रस्व 'र' और 'ण', समास का अभाव,

---

१ किसी प्रकार का आवेश न होने पर अनाविष्टचित्त की स्वभाव-सिद्ध कठिनता को काठिन्य कहते हैं। यह चित्तवृत्ति वीर आदि रसों में होती है।

२ क्रोध और अनुताप आदि के कारण चित्त का दीप्तत्व रौद्र आदि रसों में होता है।

३ विस्मय और हास्य आदि से होने वाली चित्त की अवस्था को विक्षेप कहते हैं। यह अद्भुत और हास्य आदि रसों में होती है।

४ ट, ठ, ड, ढ का बार-बार प्रयोग किया जाना माधुर्य गुण में दोष माना गया है, न कि इन वर्णों का सर्वथा अभाव।

५ 'क' से 'म' तक के वर्णों की व्याकरण में स्पर्श संज्ञा है।

अथवा दो-तीन या अधिक से अधिक चार-पद मिले हुए समास, और मधुर कोमल पद रचना ये सब माधुर्य-गुण के व्यञ्जक हैं। उदाहरण—

अलि-पुंजन की मद-गुंजन सौं, बन-कुंजन मंजु बनाय रह्यो;
लगि अंग अनंग-तरंगन सौं, रति-रंग उमंग वढ़ाय रह्यो।
विकसे सर कंजन कंपित कै, रज रंजन लै छिरकाय रह्यो;
मलयानिल मंद दसौं दिसि मैं, मकरंद अमंद फलाय रह्यो।
३७७

इसमें प्रायः ट, ठ, ड, ढ, रहित स्पर्श वर्ण हैं। पुंज, गुंज, अंग, मंद और कंप आदि शब्द वर्ग के अन्त के वर्णों से (ञ, ङ, न, म से) युक्त हैं—स्वानुस्वार हैं। 'र' ह्रस्व है। मद-गुंजन, वन-कुंजन आदि में छोटे-छोटे समास हैं। अतः यहाँ माधुर्य-गुण की व्यञ्जना है।

(२) ओज गुण

जिस काव्य-रचना के श्रवण से मन में तेज उत्पन्न होता है, उस रचना में ओज गुण होता है।

इसके द्वारा चित्त ज्वलित-सा हो जाता है अर्थात् ओज गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त में आवेग उत्पन्न होता है। यह वीर-रस में रहता है। वीर-रस से बीभत्स में और बीभत्स से रौद्र में इसकी अधिकाधिक स्थिति रहती है।

कवर्ग आदि के पहले और तीसरे वर्णों का, दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग होना अर्थात् क, च आदि का, ख, छ आदि के साथ जैसे कच्छ, पुच्छ, ग, ज, आदि का घ, झ, के साथ जैसे दिग्घ, जुज्झ, 'र' का वर्णों के ऊपर और नीचे अधिक प्रयोग, जैसे वक्र, अर्थ, निद्रा, ट, ठ, ड, ढ की अधिकता, बहुत से पद मिले हुए लम्बे समास और कठोर वर्णों की रचना ओज गुण को व्यक्त करते हैं।

"क्रुद्ध ह्वै प्रबुद्ध वीर जुद्धत विरुद्ध गति,
उद्धत त्रिसुद्ध रन रंग के उमंग में;

प्रबल सुभट्ट ठट्ट दंत करकट्टत हैं,
अट्टै हैं दुपट्टैं औ उचट्टैं जोम संग में।
भिंडिपाल पट्टि सपरिघ औ, कृपान सूल,
कटत कड़ाका दे भड़ाका, लागि जंग में;
'रसिकबिहारी' वीर रंचहू न लावैं पीर,
वीरन के प्रान कढ़ि जात तीर संग में।"३७८(४२)

यहाँ 'क्रुद्ध' और 'प्रबल' में रकार मिला हुआ है। 'प्रबुद्ध', 'जुद्ध', 'भट्ठ' आदि में पहले वर्ण के साथ इसी वर्ग के दूसरे वर्ण मिले हुए हैं। टवर्ग की अधिकता है, और कठोर रचना है।

इसके सिवा रस-प्रकरण में रौद्र और वीर-रस के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे ओज गुण-युक्त हैं।

(३) प्रसाद गुण

सूखे ईंधन में अग्नि की भाँति, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति जो गुण तत्काल चित्त में व्याप्त हो जाता है वह प्रसाद गुण है।

प्रसाद गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है--खिल उठता है।

यह सभी रसों में और सारी रचनाओं में हो सकता है। शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसा सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण का व्यञ्जक होता है।

"श्रीरामचंद्र कृपालु भजु मन हरन, भव-भय दारुनं;
नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज-पद-कंजारुनं।

कंदर्प अगनित अमित छवि नव-नील-नीरज सुन्दरं ;
पट पीत मानहुँ तड़ित-रुचि सुचि नौमि जनकसुतावरं ।
भजु दीनबंधु दिनेस दानव-दैत्य-वंस-निकंदनं ;
रघुनंद, आनँदकंद, कोसलचंद, दसरथनंदनं ।
सिर मुकट कुंडल तिलक चारु उदारु अंग विभूषनं ;
आजानुभुज, सर-चाप-धर, संग्राम-जित खर-दूषनं ।
इति वदत 'तुलसीदास' संकर शेष-मुनि-मन-रंजनं ;

यह सरल सुबोध और मृदु (मधुर) पदावली-युक्त बड़ी सुन्दर प्रसाद-गुण-व्यञ्जक रचना है ।

गत जब रजनी हो, पूर्व सन्ध्या बनी हो ;
उडुगण क्षय भी हों, दीखते भी कहीं हों ।
मृदुल, मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा ;
तब पिक ! करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा ।
अति सरस सुरीला शब्द सौंदर्य गाती ;
रसिक जन सभी की नींद तू है छुटाती ।
मनहरण सुनाके माधुरी वो प्रभाती ;
असलित चित को भी सत्य ही है लुभाती ।
विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे ;
उस समय दिखाते शब्द-चातुर्य सारे ।
रव तव उनके वे व्यर्थ है तू बनाती ;
जब पिक ! अपनी तू चातुरी है दिखाती ।
सघन उपवनों में, वाटिका में कभी तू—
गिरि-सरित-तटों के प्रान्त में भी कभी तू ।

सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू;
सु-मधुर मतवाली कूक को कूजती तू।
सहृदय जन तेरे शब्द से हैं लुभाते,
कवि जन गुण तेरे नित्य सानन्द गाते।
बस अधिक कहें क्या मान काफी यही तू,
अनुपम गुणवाली भाग्यशाली बड़ी तू।३८०।

माधुर्य आदि गुणों की व्यञ्जना के लिये वर्ण-रचना आदि के उक्त नियम सर्वत्र एक समान हैं। किन्तु वक्ता, वाच्य, अर्थ, अभिधेय और प्रबन्ध—महाकाव्य या नाटक—की विशेष-विशेष अवस्था के कारण उक्त नियमों के विपरीत भी कहीं-कहीं वर्ण, समास और रचना की जाती है। जैसे आख्यायिका में शृङ्गार-रस के वर्णन में भी कोमल पदावली नहीं होती है। कथा में रौद्र रस के वर्णन में भी अत्यन्त उद्धत वर्ण आदि नहीं होते हैं, और नाटकादि में रौद्र रस में लम्बे समास आदि नहीं होते हैं। निष्कर्ष यह है कि उचित-अनुचित का विचार करके वर्णादि का प्रयोग किया जाता है।

यहाँ माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक वर्ण एवं रचना के जो उदाहरण दिखाये गये हैं, वेही वर्ण-ध्वनि एवं रचना-ध्वनि के उदाहरण हैं। वैदर्भी गौडी और पांचाली[1] रीतियों को रचना कही जाती है। ये

---

१ इन रीतियों को श्री मम्मट ने उपनागरिका, परुषा और कोमला-वृत्ति के नाम से लिखा है। इनमें माधुर्य गुण-व्यञ्जक वर्णों की रचना को उपनागरिका, ओज गुण-व्यञ्जक वर्णों की रचना को परुषा और इन दोनों में प्रयुक्त वर्णों से अतिरिक्त वर्णों की रचना को कोमलावृत्ति बतलाया गया है (देखो, काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास)। आचार्य वामन ने 'काव्यालङ्कारसूत्र' में रीति को बड़ी प्रधानता दी है। उसने काव्य का

रीतियाँ गुणों के आश्रित हैं। 'गुण' रस के धर्म और नित्य सहचारी होने के कारण वर्ण एवं रचना में गुण और रस की व्यञ्जना-ध्वनि–एक ही साथ होती है। जब तक रस में रहने वाले गुणों का स्वरूप न समझ लिया जाय, उनके (गुणों के) व्यञ्जक वर्ण एवं रचना के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये ध्वनि के प्रकरण (पेज २८१) में वर्ण, रचना की ध्वनि के उदाहरण छठे स्तवक में दिखलाने को कहा गया है।



आत्मा रीति को ही बताया है। इस विषय का आलोचनात्मक विस्तृत विवेचन हमने 'संस्कृतसाहित्य के इतिहास' के द्वितीय भाग में रीति सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया है।

सप्तम स्तवक

दोष

काव्य में 'गुण' आदि का होना आवश्यक है, पर उससे कहीं अधिक उसका निर्दोष होना आवश्यक है।

जिस प्रकार सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक ही चिह्न से दुर्भग हो जाता है उसी प्रकार थोड़े-से 'अनौचित्य' के कारण काव्य भी दूषित हो जाता है[1]। कारण यह है कि दोष काव्य के आस्वाद में उद्वेग उत्पन्न कर देता है[2]।

दोष का सामान्य लक्षण

मुख्य अर्थ का जिससे अपकर्ष हो उसे दोष कहते हैं।

मुख्य अर्थ। कवि जिस वस्तु में जहाँ चमत्कार दिखाना चाहता है, वही 'मुख्य अर्थ' होता है। जहाँ रस और भाव आदि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार होता है, वहाँ रस भाव आदि मुख्य अर्थ है। जहाँ वाच्य अर्थ में उत्कृष्टता होती है वहाँ, वाच्य अर्थ' और जहाँ शब्द में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'शब्द' मुख्य अर्थ समझना चाहिये। रस, भाव आदि का उपकारक होने के कारण वाच्यार्थ को और रस, भाव आदि तथा वाच्यार्थ का उपयोगी होने के कारण शब्द को भी यहाँ मुख्यार्थ माना गया है।

---

१ 'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।'

२ 'उद्वेगजनको दोषः'—अग्निपुराण।

अतएव शब्द में, वाच्यार्थ में और रस, भाव आदि व्यंग्यार्थ में दोष हो सकता है। फलतः दोष भी सामान्यतः तीन भेदों में विभक्त हैं—(१) शब्द-दोष, (२) अर्थ-दोष और (३) रस दोष।

अपकर्ष। अपकर्ष तीन प्रकार से होता है—(१) काव्य के आस्वाद (आनन्द) के रुक जाने से, (२) काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करने वाली किसी वस्तु के बीच में आ जाने से, और (३) काव्य के आस्वाद में विलम्ब करनेवाले कारणों की स्थिति हो जाने से। इन तीनों में एक भी जहाँ होता है वहाँ दोष आ जाता है। काव्यप्रकाश में ७० प्रकार के दोष बताए गए हैं—३७ शब्द के, २३ अर्थ के और १० रस के।

शब्द-दोष

वाक्य के अर्थ का बोध होने के प्रथम जो दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द के आश्रित हैं। अतः वे शब्द के दोष हैं। शब्द के दोष—(१) पदांशगत, (२) पदगत और (३) वाक्यगत होते हैं। इनके भेद इस प्रकार हैं—

(१) श्रुति-कटु। कानों को अप्रिय मालूम होने वाली कठोर वर्णों की रचना होना। जैसे—

कार्तार्थी[1] तब होहुँगी, मिलिहैं जब प्रिय आय।३८१

यह विप्रलम्भ-शृङ्गार का वर्णन है। 'कार्तार्थी' पद श्रुति-कटु है। इसमें कठोर वर्णों की रचना नियम विरुद्ध है। यह दोष शृङ्गारादि कोमल रसोंमें ही होता है। वीर, रौद्र आदि रसो में ऐसे प्रयोग में दोष नहीं, प्रत्युत गुण हैं। 'यमक' आदि अलङ्कारों में भी ऐसे पदों के प्रयोग में दोष नहीं माना जाता है।

---

१ कृतार्थी।

(२) च्युतसंस्कार। व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग होना। जैसे—

"छंद को प्रबंध त्यों ही व्यंग नायिकादि भेद,
उद्दीपन भाव अनुभाव पति बामा के ;
भाव संचारी असथाई रस भूषण हू,
दूषण अदूषण जो कबिता ललामा के।
काव्य को विचार 'भानु' लोक उक्ति सार कोष,
काव्य-परभाकर में साजि काव्य सामा के ;
कोबिद कबीसन को कृष्ण मानि भेट देत,
अंगीकार कीजै चारि चाँउर सुदामा के।"
३८२(१३)

यहाँ 'असथाई' पद में च्युत-संस्कार दोष है। स्थायी का अपभ्रंश व्रजभाषा में 'थायी' हो सकता है। पर असथाई तो अस्थायी या अस्थिर का ही अपभ्रंश हो सकता है, न कि स्थायी का।

(३) अप्रयुक्त। अप्रचलित प्रयोग किया जाना। जैसे—

पुत्र-जन्म उत्सव समय स्पर्स कीन्ह बहु गाय। ३८३

दान के अर्थ में 'स्पर्श' पद का यहाँ प्रयोग किया गया है। यद्यपि स्पर्श का अर्थ दान भी है[1]। पर दान के अर्थ में इसका प्रयोग काव्यों में देखा नहीं जाता है[2]। अतः काव्य में ऐसा प्रयोग दोष माना गया है।

(४) असमर्थ। अभीष्ट अर्थ की प्रतीति का नहीं होना। जैसे—

कुञ्जहनन कामिनि करत। ३८४

यहाँ गमन के अर्थ में 'हनन' पद का प्रयोग किया गया है। यद्यपि

---

१ विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। —अमरकोष।

२ श्रीमद्भागवत में दान के अर्थ में 'स्पर्श' का प्रयोग है। किन्तु पुराणादि आर्ष ग्रन्थों में यह दोष नहीं हो सकता है।

'हन्' धातु का गति अर्थ भी है[1]। किन्तु हनन पद की सामर्थ्य से यहाँ 'गमन' अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है।

(५) निहतार्थ दो अर्थोंवाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाना। जैसे—

यमुना-संबर विमल सौं, छूटत कलिमल कोस।३८५

यद्यपि शंबर पद जल का पर्यायवाची है[2] और यहाँ जल के अर्थ में 'शंबर' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु काव्य में 'शंबर' का प्रयोग शंबर नाम के असुर के लिये ही होता है। अतः 'शंबर' शब्द उसी असुर के नाम में प्रायः योगरूढ़ है। जल के अर्थ में यह शब्द अप्रसिद्ध है। उपर्युक्त 'अप्रयुक्त' दोष एकार्थी शब्द में होता है, पर यह दोष अनेकार्थी शब्द में होता है। इन दोनों में यही भेद है।

(६) अनुचितार्थ। अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार करनेवाला प्रयोग किया जाना। जैसे—

ह्वै के पसु रन-यज्ञ में, अमर होहिँ जग सूर।३८६

शूर-वीरों को पशु के समान कहने में उनकी कायरता प्रतीत होती है, क्योंकि यज्ञ में पशु स्वेच्छा से नहीं, किन्तु परवश होकर मरते हैं। शूरवीर उत्साह-पूर्वक स्वेच्छा से रण में खड़े होते हैं। अतः शूरवीरों को पशु की समता देने में अभीष्ट अर्थ का अर्थात् उनकी उत्कृष्टता का तिरस्कार होता है।

(७) निरर्थक। पाद-पूर्ति के लिये अनावश्यक पद का प्रयोग किया जाना। जैसे—

---

१ हन् हिंसागत्योः।

२ नीरक्षीरांबुशम्बरम्।

आम्र-प्रवाल शिखि-पिच्छ प्रसून-गुच्छ,
धारैं गरैं कमल उत्पल-माल स्वच्छ।
सोहैं विचित्र छवि गोप-समाज माँही,
गावैं प्रवीन-नट रंग-थली यथाही।३८७

यहाँ 'यथा ही' में 'ही' शब्द निरर्थक है। केवल पाद-पूर्ति के लिये रक्खा हुआ है, अतः दोष है।

(८) अवाचक। जिस वांछित अर्थ के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उस शब्द का, उस वांछित अर्थ का वाचक न होना। जैसे—

अधिक अँधेरी रात हू तुव दरसन दिन होय।३८८

मित्र के प्रति किसी ने यह कहना चाहा है—'आपके दर्शनों से अँधेरी रात भी मेरे लिये प्रकाशमय हो जाती है'। यहाँ प्रकाश के अर्थ में 'दिन' का प्रयोग किया है। सूर्य होने से ही 'दिन' कहा जा सकता है, सूर्य के सिवा जो प्रकाश है वह दिन नहीं कहा जा सकता है। अतः दिन शब्द का जिस अर्थ की इच्छा से प्रयोग किया गया है उस अर्थ का वह अवाचक है।

(९) अश्लील। यह दोष तीन प्रकार का होता है। (१) व्रीड़ा-व्यञ्जक, (२) घृणा-व्यञ्जक और (३) अमङ्गल-व्यञ्जक।

मद-अंधन कों जय करन तुव साधन जु महान।३८९

यहाँ राजा की प्रशंसा में कहा है कि तेरा साधन (सैन्य बल) महान् है। यहाँ 'साधन'-शब्द का प्रयोग व्रीड़ा-व्यञ्जक[1] होने के कारण अश्लील है।

---

१ 'साधन' नाम पुरुष के गुह्याङ्ग का भी है।

पिचकारी प्यारी दई; मुख पै डारि गुलाल;
मिची आँख पिय की निरखि वायु दीन ततकाल ।३९०

यहाँ 'वायु' पद से अधोवायु का भी स्मरण होता है, इसलिये 'वायु' शब्द घृणा-व्यञ्जक है।

चोरत हैं पर उक्ति कौं जे कवि ह्वै स्वच्छंद;
वे उत्सर्ग रु वमन को उपभोगत मतिमंद ।३९१

यहाँ भी 'उत्सर्ग[1]' और वमन[2]' पद घृणा-व्यञ्जक है।

"छाकि-छाकि तुव नक सों यों पूछत सब गाँउ;
किते निवासन नासिकै लियो नासिका नाँउ।"३९२

यहाँ 'नासिकै' पद अमङ्गल-सूचक है।

(१०) सन्दिग्ध। ऐसे शब्द का प्रयोग, जिससे वाञ्छित और अवाञ्छित दोनो अर्थ प्रतीत हों। जैसे—

बंद्या पर करिए कृपा। ३९३

बंद्या का अर्थ वन्दनीया और क़ैद की हुई दोनों ही है। अतः सन्देहास्पद है कि 'बंद्या' शब्द का यहाँ किस अर्थ में प्रयोग किया गया है।

(११) अप्रतीतार्थ। ऐसे शब्द का प्रयोग जो किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध न हो। जैसे—

तत्त्वज्ञान प्रकास सों दलिताशय जो आहि;
विधि-निषेधमय कर्म सब बाधक हो हिँ न ताहि ।३९४

'आशय' शब्द का अर्थ मिथ्या ज्ञान है। किन्तु 'आशय' का प्रयोग केवल योग-शास्त्र में ही होता है—सर्वत्र नहीं।

---

१ मल। २ कै।

(१२) ग्राम्य। ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाना जो केवल ग्राम्य जनों—गँवारों—की बोलचाल में आता हो। जैसे—

"...'दीन' अनूप छटायुत कै रघुलाल के गाल गुलाल को रंग है।" ३६५(३३)

'गाल' शब्द ग्राम्य है। काव्यप्रकाश आदि में 'कटि' शब्द को भी ग्राम्य माना है पर यह संस्कृत काव्य में दूषित है। हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग प्रायः सभी महाकवियों ने किया है। आजकल के ग्रामीण तो 'कटि' शब्द का अर्थ तक नहीं जानते हैं। हाँ, कटि शब्द के पर्यायवाची 'कमर'-शब्द का प्रयोग हिन्दी में ग्राम्य माना जायगा।

(१३) नेयार्थ। असङ्गत लक्षणावृत्ति का होना। जैसे—

तेरे मुख ने चंद्र के दई लगाय चपेट। ३६६

यहाँ 'चपेट' लगाने में मुख्यार्थ का बाध है। 'तेरे मुख की कान्ति चन्द्रमा से अधिक है' यह अर्थ लक्षणा से होता है। किन्तु लक्षणा रूढि या प्रयोजन से ही होती है। यहाँ न रूढि है और न प्रयोजन ही।

(१४) क्लिष्ट। ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाना जिसका अर्थ-ज्ञान बहुत कठिनता से हो। जैसे—

अहि-रिपु-पति-प्रिय-सदन है मुख तेरो रमनीय। ३६७

अहि = सर्प, उसका शत्रु = गरुड़, गरुड़ के पति = विष्णु, उनकी पत्नि = लक्ष्मी, उनका सदन अर्थात् निवास = स्थान-कमल, उसके समान मुख। कमल के लिये इतने शब्दों के प्रयोग करने में कुछ चमत्कार नहीं है, प्रत्युत अर्थ का ज्ञान बहुत कष्ट-कल्पना और विलम्ब से होता है, अतः दोष है।

(१५) अविमृष्टविधेयांश। विधेय अर्थात् अभीष्ट अर्थ के अंश का प्रधानता से प्रतीत न होना, उसका गौण हो जाना। जैसे—

मैं रामानुज हों अरे! गरज डरावत काहि। ३६८

लक्ष्मणजी ने अपने को श्रीराम का सम्बन्धी सूचन करके अपना उत्कर्ष बताना चाहा है। किन्तु सम्बन्धकारक षष्ठी विभक्ति का लोप होकर समास हो जाने से 'राम' पद की प्रधानता दब गई है। 'मैं राम का हूँ अनुज निशिचर गरज से डरता नहीं' यदि इस प्रकार समास-रहित प्रयोग किया जाता तो राम के सम्बन्ध की प्रधानता बनी रहती, और दोष नहीं रहता। यह दोष प्रायः समास में होता है।

नव-पुष्प कदंब गुही कल किंकिनि मौलसिरी की सुहाय रही ;
अति पीन नितंबन सौं खिसलै तिहिँ बारहिँबार उठाय रही।
सनु-फूलन के बिसिखासन की सु द्वितीय प्रतंच सजाय रही ;
स्मर की वा धरोहर कौं गिरिजा कर-कंजन लै सम्हराय रही।३९९

श्रीशङ्कर को पार्वतीजी पर मोहित करने के लिये कामदेव के माया-जाल में श्रीपार्वतीजी के सहायक होने का यह वर्णन है। नितम्बों पर से खिसलती हुई कौंधनी में, जिसे पार्वतीजी ऊपर को उठा रही थीं, कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा—डोरी—की उत्प्रेक्षा की गई है। अर्थात् पार्वतीजी खिसलती हुई कौंधनी क्या उठा रही हैं, मानो कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा को, जो कामदेव की उनके पास रक्खी हुई धरोहर थी, सजा रही हैं। प्रत्यञ्चा का दूसरापन बताना ही यहाँ उत्प्रेक्षा का प्रधान प्रयोजन है। किन्तु 'द्वितीय प्रत्यञ्चा' पद समास में आ जाने से दूसरेपन का प्रधानत्व नहीं रहता है। अतः दोष है। 'मानो कामदेव के धनुष पर दूसरी ही प्रत्यञ्चा चढ़ा रही है' ऐसा हो जाने से दूसरेपन का प्रधानत्व हो जाता है।

(१६) विरुद्धमतिकृत। ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनके द्वारा अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती हो। जैसे—

सरद-चंद्र-सम विमल हो सदा उदार-चरित्र।
गुन-गान कहें न जातु हैं आप अकारज-मित्र।४००

यहाँ कहने का अभिप्राय तो यह है कि 'आप कार्य के बिना ही अर्थात् स्वार्थ रहित मित्र हैं'। किन्तु 'अकारज मित्र' पद से प्रतीत यह होता है कि आप अकार्य में अर्थात् अयोग्य कार्य में मित्र हैं, अतः 'अकारज' पद अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध मति उत्पन्न करता है।

नाथ अम्बिका-रमन हो मंगलमोद-निधान ।४०१

यहां अम्बिका-रमण' पद विरुद्ध मति उत्पन्न करता है। अम्बिका नाम माता का है। 'माता का पति' ऐसा कहने में अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार होता है। पूर्वोक्त च्युतसंस्कारदोष के उदाहृत कवित्त के 'पतिवामा' वाक्य में भी यह दोष है।

इन शब्दगत १६ दोषों में च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक ये दोष पदगत ही होते हैं, शेष दोष पद और वाक्य दोनों में होते हैं। निम्नलिखित शब्दगत २१ दोष केवल वाक्य में ही होते हैं—

(१७) प्रतिकूल वर्ण। अभीष्ट-रस के अर्थात् प्रकरणगत रस के प्रतिकूल वर्णों की वाक्य-रचना होना। जैसे—

"झटकि चढ़ति उतरति अटा नैंक न थाकति देह।
भई रहति नट को बटा अटकी नागर-नेह॥"
४०२(२९)

यहाँ शृङ्गार-रस में टवर्ग के वर्णों की प्रतिकूल रचना है।

(१८-२०) आहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग और विसन्धि । ये दोष संस्कृत ही में हो सकते हैं, हिन्दी में प्रायः नहीं होते हैं।

(२१) हतवृत्त। (क) पिङ्गल के लक्षणानुसार वर्ण या मात्रा होने पर भी उच्चारण या श्रवण का समुचित न होना। (ख) पाद के अन्त के लघु वर्ण का दीर्घ वर्ण—गुरु वर्ण का कार्य न दे सकना। (ग) रस के अनुकूल छन्द का न होना।

"दुसाध्य रोग वियोग का, तनिक न मिलती चैन।"४०३

'दुसाध्य रोग वियोग का' इसमें दोहा-छन्द के लक्षणानुसार १३ मात्रा हैं, पर बोलने और सुनने में दुःसह है।

न चलत न कहै कछू उदार!
क्षितिधर! सोचत अर्थ तू अपार। ४०४

यह पुष्पिताग्रा छन्द है। इसके पदान्त में दीर्घ वर्ण होता है। पर यहाँ प्रथम पाद में अन्त का ह्रस्व वर्ण होने से दोष है। यद्यपि छन्द-शास्त्र में पादान्त में ह्रस्व वर्ण विकल्प से दीर्घ माना गया है, किन्तु 'वसंततिलक', 'इन्द्रवज्रा' आदि छन्दों में ही पाद के अन्त का ह्रस्व वर्ण दीर्घ वर्ण का कार्य कर सकता है—सर्वत्र नहीं।

करुण-रस में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा आदि; शृङ्गार-रस आदि में, पृथ्वी, स्रग्धरा आदि; वीर रस में शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदि; छन्द अनुकूल होते हैं। हास्य-रस में 'दोधक' और शान्ति-रस में 'झूलना' छन्द प्रतिकूल है।

(२२) न्यून पद। अभीष्ट अर्थ के वाचक-शब्द का न होना जैसे—

कृपावलोकन होय तो सुरपति सौं का काम। ४०५

'कृपावलोकन' के पहले 'आपकी' न होने से अभीष्ट अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है।

"वंसी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है,
वंसी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है।
धाये धाये सघन वन में घूमते गो चराते,
धाया धाया जगत धन में घूमता गो चराता।"
४०६(३३)

लाला भगवानदीनजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"हे कृष्ण! मैं आपसे कम नहीं हूँ। तुम्हारे पास मधुर-सुरवाली वंशी है, तो

मेरे पास भी मधुर भाषिणी वंशवाली प्यारी कुलाङ्गना है, इत्यादि। किन्तु यह अर्थ, प्रथम पाद के 'साथ में' के पहले 'आपके' और दूसरे पाद के 'साथ में' के पहले 'मेरे' हुए बिना प्रतीत नहीं हो सकता अतः 'न्यून पद' दोष है।

(२३) अधिक पद। अनावश्यक शब्द का प्रयोग होना। जैसे—

"लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद;
आवत नारि नवोढ लौं सुखद वायु-गति मंद।"४०७

पुष्प की रज को ही 'पराग' कहते हैं। 'पराग' कहने से ही पुष्प-रज का बोध हो जाता है। 'पुहुप' पद अनावश्यक है।

(२४) कथित पद। एक बार कहे हुए शब्द का अनावश्यक दुबारा प्रयोग किया जाना। जैसे—

रति-लीला श्रम को हरत, लीला-युत चलि पौन ,४०८

यहां 'लीला' शब्द का दुबारा प्रयोग अनावश्यक है यह दोष 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' ध्वनि और 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार में नहीं होता है।

(२५) पतत्प्रकर्ष। किसी वस्तु की उत्कृष्टता कहकर, फिर ऐसा वर्णन करना जिससे उसकी न्यूनता सूचित होती है। जैसे—

"कहँ मिश्री कहँ ऊख-रस नहिँ पीयूष समान;
कलाकंद-कतरा अधिक तो अधरारस पान।"४०९(२८)

अधर-रस को मिश्री, ऊख-रस और पीयूष से भी अधिक उत्कृष्ट बताकर फिर उसको कलाकंद से उत्कृष्ट कहना पूर्वोक्त उत्कर्ष का पतन है।

(२६) समाप्तपुनरात्त। वाक्य समाप्त हो जाने पर उसी वाक्य से सम्बन्ध रखने वाले पद का प्रयोग। जैसे—

"नासतु हैं घन तिमिर को विरहिन कों दुख देतु;
रजनीकर की कर अहो! कुमुदन को सुख हेतु।"४१०

चन्द्रोदय-वर्णन-सम्बन्धी वाक्य तीसरे चरण में समाप्त हो गया है। फिर भी चौथे चरण में चन्द्रमा का एक और विशेषण जोड़ दिया गया है अतः दोष है।

(२७) अर्थान्तरैकवाचक। छन्द के पूर्वार्द्ध के वाक्य के कुछ भाग का छन्द के उत्तरार्द्ध में होना। जैसे—

"रजनीकर की सुभ्रकर सजनी ! करत जु गौर;
जगको, तज अब मान तू पीतम करत निहौर।४११

यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्य का कर्म कारक—'जग को'—उत्तरार्द्ध में है, यही दोष है।

(२८) अभवन्मतसम्बन्ध। वाक्य का अन्वय भले प्रकार से न होना। जैसे—

तेरे परत कटाक्ष जे तब स्मर छोड़त बान।४१२

यहाँ 'जे' शब्द का अन्वय काल-बाचक 'तब' शब्द के साथ नहीं हो सकता है। 'जे' के स्थान पर 'जब' कहना चाहिये। यहाँ पद के अर्थ का अन्वय नहीं होने से सारा वाक्य दूषित हो जाता है। पूर्वोक्त 'अविमृष्टविधेयांश' दोष में वाक्य का अन्वय तो हो जाता है, पर जिस अंश की प्रधानता होनी चाहिए, वह नहीं होती है।

(२९) अनभिहितवाच्य। आवश्यक वक्तव्य का न कहा जाना। जैसे—

तोही में रत नित रहौं विरत न होंहुँ कदापि;
कहा दोष को लेश तू लखि मुहि तजत तथापि।४१३

'लेश' के साथ 'भी' होना आवश्यक है। 'भी' न होने से यह प्रतीत होता है कि तुमने मेरा कोई बड़ा भारी अपराध देखा है। लेश—

मात्र अपराध देखकर ऐसा नहीं करते। पूर्वोक्त 'न्यूनपद' में वाचक पद की न्यूनता रहती है, और इसमें द्योतक पद की। इनमें यही भेद है।

(३०-३१) अस्थानस्थ पद और समास। पद या समास का अयोग्य स्थान पर होना। जैसे—

सौत लखत पिय ने दई निज-कर गूँथि रसाल;
म्लान भई हू प्रेम वस न किहिँ तजी वह माल। ४१४

यहाँ कहना तो यह है कि 'सपत्नि के देखते हुए प्रिय के द्वारा बना कर दी हुई माला के म्लान हो जाने पर भी किसी एक रमणी ने उसे नहीं त्यागा'। किन्तु 'न किहिँ तजी' वाक्य का 'किसने नहीं तजी अर्थात् सभी ने तजी' यह अर्थ होता है यह अस्थानपद है। 'किहिँ इक तजी न' पाठ होना चाहिये।

"मतिरामहरी चुरियाँ खरकैं।" ४१५ (१३)

'मतिराम' कवि ने कहा तो यह है कि 'हरी चूड़ियाँ खनकती हैं' पर 'मतिरामहरी' का समास हो जाने से 'राम ने मति हरी' ऐसा अर्थ हो जाता है। यह अस्थान-समास है।

(३२) सङ्कीर्ण। एक वाक्य के पद का दूसरे वाक्य में होना। जैसे—

छोड़ चंद्र अलि! गगन में उदय होत अब मान; ४१६

नायिका के प्रति मान-मोचन के लिये सखी की यह उक्ति है—'अब तू मान छोड़ दे, आकाश में चन्द्रोदय हो रहा है'। 'छोड़' पहले वाक्य में है और 'मान' दूसरे वाक्य में। अतः दोष है।

(३३) गर्भित। वाक्य के बीच में दूसरे वाक्य का आ जाना। जैसे—

पर अपकारी खलन को मलिन जनन को संग;
कहौं नीति तोसौं यही तजिए परँहु प्रसंग। ४१७

दोहे का तीसरा पाद बीच में आ गया है, अर्थात् चौथा पाद पहले आकर, उसके बाद तीसरे पाद का कथन करना चाहिये था।

(३४) प्रसिद्धि त्याग। प्रसिद्ध प्रयोग के विरुद्ध शब्द का प्रयोग होना। जैसे—

"'जोन्ह'[1] ते खाली छपाकर[2] भो छन में छनदा[3] अब चाहत चाली;
कूजि उठी चटकाली चहुँ दिसि फैल गई नभ ऊपर लाली।
साली मनोज-बिथा उर में निपटै निठुराइ धरी बनमाली ;
आली! कहा कहिए कहि 'तोष' कहूँ पिय प्रीति नई प्रतिपाली।"
४१८(१८)

'चटकाली' (एक जाति की चिड़िया) के शब्द के लिये 'कूज उठी' पद का प्रयोग किया गया है। चिड़ियों के शब्द के लिये चहकना; मयूरों के लिये कूजना; सिंह और बद्दल के लिये गरजना; मेढ़कों के शब्द के लिये रव; नूपुर, किङ्किणी, घण्टा और भौंरों के लिये रणित, झिञ्जित, गुञ्जित आदि का प्रयोग प्रसिद्ध है। इनके विपरीत प्रयोग होने में दोष है। 'अप्रयुक्त' दोष सर्वथा निषेध किये हुए शब्दों के प्रयोग में होता है। 'प्रसिद्धि त्याग' दोष वहाँ होता है जहाँ प्रसिद्ध अर्थ का त्याग होने से चमत्कार का अभाव हो जाता है।

"लखि निर्जन भौंन जरा उठि सैन सौं चूमे सनैं अधरैं सुखदाई;
छल-मीलित नैन सु पी-मुख कौ अवलोकन हो पुलकावलि छाई।
जुत लाज भई झट नम्रमुखी छवि वा कवि सौं बरनी कब जाई;
दस आनँद के हँस साहस सौं ससि की-सी कली चिर कंठ लगाई।"
४१९(३८)

चन्द्रमा की 'कली' का प्रयोग अप्रसिद्ध है--कहीं देखा-सुना नहीं जाता है।

---

१ चाँदनी। २ चन्द्रमा। ३ रात्रि।

(३५) भग्न-प्रक्रम। प्रस्ताव के योग्य शब्द का प्रयोग न होना। जैसे—

निसानाथ के जात ही गई साथ ही रात ;
यासों बढ़ि कुल-तियन को और न धरम दिखात।४२०

'गई' शब्द का प्रयोग भग्न-प्रक्रम है। प्रथम पद में 'निशानाथ के जात ही' पाठ है, अतः दूसरे पाद में 'जात साथ ही रात' ऐसा होना चाहिए। एक जगह 'जात' और दूसरी जगह 'गई' के प्रयोग में क्रम-भङ्ग होता है। 'जात' शब्द के दो बार हो जाने से 'कथित-पद' दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य भाव में अर्थात् विषय-भेद से एक पद का दो बार प्रयोग हो सकता है। जैसे—

उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहिँ होवतु अस्त ;
संपति और विपत्ति में सज्जन होतु न व्यस्त।४२१

रवि के उदय और अस्त-काल में रक्तता का विधान है, क्योंकि दूसरी बार 'रक्त' के स्थान पर 'ताम्र' आदि पर्यायवाची शब्द कर देने पर अच्छा प्रतीत नहीं होता है। एक-आकार की प्रतीति को—जो यहाँ आवश्यक है—दबा देता है। ऐसे स्थल पर कथित-पद में दोष नहीं होता है।

(३६) अक्रम। जिस पद के पीछे जो पद उचित हो वहाँ उस पद का क्रमशः प्रयोग न होना। जैसे—

समय सबल निरबल करत कहत मनहुँ यह बात ;
सरद सरस करि हंस-रव बरहिन सुर बिरसात।४२२

'यह' शब्द 'समय सबल निरबल करत' इस पहले चरण के अन्त में होना चाहिए था।

(३७) अमतपरार्थता। अमत अर्थात् अनिष्ठ अर्थान्तर प्रतीत होना अर्थात् प्रकरण के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

राम-मदन-सर-दुसह-हत निसिचरि मनहु स काम ;
गई रुधिर-चंदन लगा जीवितेस के धाम ।४२३

यह ताड़का के बध का वर्णन है। प्रसङ्गानुकूल बीभत्स-रस है। श्रीरामचन्द्रजी में कामदेव का, और ताड़का में निशिचरी (अर्थात् रात्रि में गमन करनेवाली अभिसारिका नायिका) का आरोप होने से शृङ्गार-रस की भी प्रतीति होती है, अतएव प्रकरण के विरुद्ध प्रतीति होने में दोष है।

अर्थ-दोष

(१) अपुष्ट। ऐसे अर्थ का होना जिसके न होने पर भी अभीष्ट अर्थ की कोई क्षति नहीं होती हो। जैसे—

उदित विपुल नभ माहिँ ससि अरी ! छोड़ अब मान ।४२४

यहाँ आकाश का विशेषण 'विपुल' अपुष्ट है। चन्द्रमा का उदय ही मान-मोचन का कारण हो सकता है, आकाश का बड़ा होना मान छोड़ने के कारण की पुष्टि नहीं करता है। 'अधिक पद' दोष में अन्वय के समय ही शब्द की निरर्थकता का ज्ञान हो जाता है, पर यहाँ निरर्थक शब्द का अन्वय तो हो जाता है, किन्तु अर्थ के समय निरर्थकता का ज्ञान होता है। इन दोनों में यही भेद है।

(२) कष्टार्थ। अर्थ का कठिनता से प्रतीत होना। जैसे—

बरसत जल-निज-करन-खैंचि दिनकर, नहिं घन यह ;
जमुना सविता-सुता मिली सुर-सरिता सौं वह।
को न करत विश्वास कहो ? या व्यास-वचन में ;
मूढ़-मृगी समुझै न तऊ जल रवि-किरनन में ।४२५

अप्रस्तुत वाच्यार्थ यह है कि अपनी किरणों द्वारा खींचे हुए जल को सूर्य बरसाता है, न कि मेघ। यमुनाजी सूर्य से उत्पन्न हुई हैं, और

वह गङ्गाजी में मिलती हैं। व्यासजी के इन वाक्यों में कौन विश्वास नहीं करता! अर्थात् जब यमुना और वर्षा सूर्य से ही उत्पन्न हैं तो सूर्य की किरणों में जल होना ही चाहिये, फिर भी मूर्ख मृगी सूर्य की किरणों में जल के होने में विश्वास नहीं करती। यह अप्रस्तुत अर्थ बड़ा दुर्बोध है। इस पद्य में मुग्धा नायिका का नायक पर अविश्वास करना जो व्यंग्य-रूप प्रस्तुत अर्थ है, उसका ज्ञान तो हो ही नहीं सकता है। अतः कष्टार्थ दोष है। पूर्वोक्त 'क्लिष्टत्व' दोष में शब्द का परिवर्तन कर देने पर अर्थ की प्रतीति में क्लिष्टता नहीं रहती है, पर यहाँ शब्द परिवर्तन कर देने पर भी क्लिष्टता बनी रहती है। इनमें यही भेद हैं।

(३) व्याहत। किसी वस्तु का पहले महत्त्व दिखाकर फिर उसकी हीनता का सूचित होना, या पहले हीनता दिखाकर फिर महत्त्व का सूचित होना। जैसे—

औरन के मन-हरन कौं चंद्रकलादि अनेक;
मोहि सुखद दृग-चंद्रिका प्रिया वही है एक।४२६

जिस चन्द्रकला को पूर्वार्द्ध में वक्ता ने अपने लिये आनन्द-जनक नहीं माना है, उसी को उत्तरार्द्ध में 'दृग-चन्द्रिका' पद द्वारा सुख-कारक माना है। अतः व्याहत है।

(४) पुनरुक्त। एक शब्द या वाक्य द्वारा अर्थ विशेष की प्रतीति हो जाने पर भी उसी अर्थ वाले दूसरे शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादन करना। जैसे—

सहसा कबहुँ न कीजिए विपद-मूल अविवेक;
आपुहि आवतु संपदा जहाँ होय सुविवेक।४२७

पूर्वार्द्ध में जो बात है, वही उत्तरार्द्ध में है। पूर्वार्द्ध में अविचार को विपदा का मूल कहा है। इसी बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

सुविचार से सम्पदा मिलती है। तथापि इस बात को उत्तरार्द्ध में 'सुविचार से सम्पदा मिलती है' इस वाक्य द्वारा दुबारा कहा गया है। यही पुनरुक्त दोष है।

"इक तो मदन-विसिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिँ ;
दूजे बद बदरा अरी ! घिरि-घिरि विष बरसाहिँ।"४२८

'मुरछि परी' कह कर फिर 'सुधि नाहिं' कहना पुनरुक्त है। क्योंकि मूर्च्छा और सुधि न रहना एक ही बात है। पूर्वोक्त 'अपुष्ट' दोष में अर्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती।

(५) दुष्क्रम। लोक या शास्त्र विरुद्ध क्रम का होना। जैसे—

नृप ! मोको हय दीजिये अथवा मत्त-गजेंद्र।

घोड़े से पहले हाथी माँगना चाहिये। विकल्प से जो वस्तु माँगी जाती है, वह उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी की होती है। जो घोड़ा ही नहीं देगा वह हाथी क्या देगा ? अतः क्रम विरुद्ध है।

"यह बसंत न, खरी गरम अरी ! न सीतल बात ;
कह क्यों प्रकटे देखियत पुलक पसीजे गात।"४२९(२९)

गर्मी से पसीना हुआ करते हैं, और शीत से रोमाञ्च। पूर्वार्द्ध में पहले गरम और फिर शीतल शब्द है। इसी क्रम से उत्तरार्द्ध में पहले 'पसीजे' और फिर 'पुलक' कहना चाहिए। यहाँ पहले 'पुलक' और तदनन्तर 'पसीजे' है, यही अक्रम है।

(६) ग्राम्य। गँवारी भाषा का प्रयोग किया जाना। जैसे—

हौं सोवत इत आय तू मेरे नेरे सोइ।४३०

इसमें सरसता नहीं है। ऐसे वर्णन सहृदयों को उद्वेग-जनक होते हैं।

(७) सन्दिग्ध। कोई निश्चित अर्थ का न होना। जैसे—

सेवनीय रमनीन के अथवा गिरिन नितंब ।

यहाँ यह सन्दिग्ध है कि इस वाक्य का कहने वाला कोई शृङ्गार-रसिक है या विरक्त ?

(८) निर्हेतु । किसी बात के हेतु का नहीं कहा जाना है । जैसे—

किया ग्रहण था तुझे पिता ने परिभव-भय के ही कारण ;
यद्यपि था न उचित ही तेरा विप्रों को करना धारण।
त्याग दिया है तुझे उन्होंने जब कि पुत्र-वध सुना वहाँ ;
अरे ! शस्त्र मैं भी करता हूँ अब तेरा यह त्याग यहाँ ।४३१

द्रोण-वध के कारण शोकातुर अश्वत्थामा की अपने शस्त्र के प्रति यह उक्ति है । मेरे पिता ने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियों से पराभव होने के भय से ही तुझे ग्रहण किया था । उन्होंने पुत्र का वध सुनकर—राजा युधिष्ठिर के मुँह से मेरा मरना सुनकर—तुझे त्याग दिया है । मैं भी अब तुझे छोड़ता हूँ । द्रोणाचार्य द्वारा शस्त्र के त्यागने का हेतु पुत्र वध को सुनना बताया गया है, इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा शस्त्र के त्यागने का कोई हेतु कहना चाहिये था । पर यहाँ ऐसा कोई हेतु नहीं कहा गया है, अतः दोष है ।

(९) प्रसिद्धि-विरुद्ध । अप्रसिद्ध बात का उल्लेख होना । जैसे—

कंकन याकों जो कहैं है उनकी यह भूल ;
मदन दियो निज-चक्र यह मृगलोचनि कर-मूल ।४३२

यहाँ हाथ के भूषण—कङ्कण—को कामदेव का शस्त्र कहा है। कामदेव का शस्त्र धनुष ही लोक में प्रसिद्ध है, न कि चक्र । चक्र का सम्बन्ध तो भगवान् विष्णु के साथ प्रसिद्ध है। यदि स्वयं कामदेव को चक्र-युक्त कहा जाय, तो कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक का प्रसिद्ध शस्त्र दूसरा भी धारण कर सकता है । पर कामदेव के शस्त्र की उपमा तो उसके धनुष से ही दी जा सकती है, न कि दूसरे किसी शस्त्र से । अतः दोष है ।

भूलि न जइयो पथिक ! तुम तिहिँ सरिता-पथ ओर ;
तरुनि-पदाहत अंकुरित नव-असोक उहिँ ओर ।४३३

रक्त अशोक को देखकर, विरहानुभवी किसी पथिक की अन्य पथिकों से यह उक्ति है। कामिनी के पाद-आघात से अशोक का पुष्पित होना ही कवि-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है, न कि अङ्कुरोद्गम का होना। अतः यहाँ अप्रसिद्ध बात का उल्लेख है। यदि लोक-विरुद्ध भी कोई बात का कवि-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध होती है तो दोष नहीं माना जाता है।

(१०) विद्या-विरुद्ध। शास्त्र-विरुद्ध वर्णन किया जाना। जैसे—

रद-छद सद नख-पद लगे कहँ देत सब बात ।४३४

यहाँ रद-छदों—अधरों पर नख-क्षतों का होना कहा गया है, यह काम-शास्त्र के विरुद्ध है। इसी प्रकार जहाँ धर्मशास्त्र अथवा नीति-शास्त्र आदि के विरुद्ध वर्णन होता है, वहाँ भी यह दोष होता है।

(११) अनवीकृत। अनेक अर्थों का एक ही प्रकार से होना और उनमें कोई विलक्षणता का न होना। जैसे—

सदा करत नभ गौन रवि सदा चलत है पौन ;
सदा धरत भुवि सेष सिर धीर सदा रहँ मौन ।४३५

चारों चरणों में 'सदा' पद का प्रयोग है। इसके अर्थ में विलक्षणता नहीं है, अतः दोष है। ऐसे वर्णनों में विलक्षणता हो जाने पर दोष नहीं रहता है। जैसे—

इक हय-युत-रवि गौन शेष सदा धरनी धरत ;
निसि दिन वहत जु पौन नृपति-धर्म हू है यही ।४३६

इसमें उपर्युक्त बात का स्वरूप बदल जाने से विलक्षणता आगई है। 'कथित पद' दोष में पर्यायवाची शब्द के बदल देने से दोष नहीं रहता है। 'अनवीकृत' दोष में पर्यायवाची शब्द के बदल देने पर भी दोष रहता है। इन दोनों में यही भेद है।

(१२) सनियम परिवृत्तता। जिस बात को नियम से कहना चाहिए उसको नियम से नहीं कहना। नियम का अर्थ है किसी वस्तु का एक स्थान पर नियम किये जाने पर उसका अन्यत्र निषेध होना।

दीखत के रमनीय ये जग में विषय-विलास ;
है तिनमें रत तू वृथा करत कहा सुख-आस ।४३७

यहाँ 'दीखत' पद के साथ 'ही' होना चाहिये। 'ही' के प्रयोग से यह नियम हो जाता है कि 'विषय-विलास केवल देखने में ही सुरम्य है, वस्तुतः नहीं।'

(१३) अनियम परिवृत्तता। जिस बात को नियम से न कहना चाहिए, उसको नियम से कहना। जैसे—

हैं नेत्र नील-अरबिंद खिले सुहाएँ,
तन्वंगि ! मंजुल मृनालमयी भुजाएँ।
आवर्त्त ही ललित नाभि न क्या बता तू ?
लावण्य-अंबु-परिपूरित वापिका तू ।४३८

यहाँ नायिका को लावण्य-रूप जल की वापिका (बावड़ी) बताया है। नेत्रों में खिले-कमल का, भुजाओं में मृनाल का और नाभि में आवर्त (जल के भँवर) का आरोप किया गया है। 'आवर्त' के साथ 'ही' का प्रयोग अनुचित है—केवल 'आवर्त' होना चाहिए। क्योंकि, 'ही' के प्रयोग से यह नियम हो गया है कि आवर्त ही नाभि है, और कोई वस्तु नाभि नहीं है, अतः दोष है।

(१४) विशेष परिवृत्तता—जिस अर्थ के लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना चाहिए, उसके लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना। जैसे—

क्यों न करहु काजर छिरक सजनी ! रजनी कारि ;
काहू बिधि चूरन करहु ससिहि सिला पै डारि ।४३९

विरहिणी के कहने का अभिप्राय यह है कि इस चाँदनी रात को प्रकाश-हीन करदो। 'रजनी' शब्द अँधेरी और चाँदनी दोनों प्रकार की रात्रि का बोध कराता है। इसलिये चाँदनी रात के वाचक 'उजेरी' आदि किसी विशेष शब्द का प्रयोग होना चाहिये था। अतः यहाँ विशेष शब्द के स्थान पर सामान्य शब्द का प्रयोग होने के कारण दोष है।

(१५) अविशेष परिवृत्तता—जिस अर्थ के लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना चाहिये, उसके लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना। जैसे—

विद्रुम-निधि तू है जलधि ! महिमा कही न जाय ।४४०

समुद्र को केवल एक ही रत्न-विशेष विद्रुम का निधि कहना अनुचित है; क्योंकि समुद्र केवल विद्रुम का ही नहीं, किन्तु अनेक रत्नों का निधि है। अतः विद्रुम के स्थान पर 'रत्न' आदि सामान्य-वाचक शब्द होना चाहिये था।

(१६) साकांक्ष—अर्थ की संगति के लिये किसी शब्द या वाक्य की आकांक्षा (आवश्यकता) का रहना। जैसे—

भंग भई निज याचना पुनि अरि को उतकर्ष ;
स्त्री रत्नहु दसमुकुट ! तुम क्यों सहि सकौ अमर्ष।

सीताजी के लिये याचना करके हताश हुए माल्यवान् की रावण के प्रति यह उक्ति है। 'स्त्री रत्नहु' के आगे 'छोड़िबो' इत्यादि पदकी आकांक्षा रहती है। क्योंकि केवल 'स्त्री रत्नहु' के साथ 'तुम क्यों सहि सकौ अमर्ष' का अन्वय नहीं हो सकता है।

(१७) अपदयुक्त। जहाँ अनुचित स्थान में ऐसे पद (अर्थ) का प्रयोग हो, जिससे प्रकरणार्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो। जैसे—

आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि-भक्ति,
लंकापुरी, विमल-वंश, अपार-शक्ति।
है धन्य, ये यदि न रावणता कहीं हो,
एकत्र सर्व-गुण किन्तु कहीं नहीं हो।४४२

रावण में रावणत्व (सब लोगों को रुलाने वाली क्रूरता) रूप दोष दिखलाना ही प्राकरणिक अर्थ है। किन्तु यहाँ चौथे पाद के अर्थान्तरन्यास के कारण उस दोष में लघुता आगई है। अर्थात् रावण की अत्यन्त क्रूरता, यह कह देने से कि 'सब गुण एक स्थान पर नहीं हो सकते' एक साधारण बात हो गई है। अतएव चौथे पाद में जो बात कही गई है, उसे नहीं कहना चाहिये था।

(१८) सहचर भिन्न। उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट का, या निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन होना। जैसे—

गलित पयोधर कामिनी, सज्जन संपति-हीन;
दुर्जन को सनमान यह हिय-दाहक हैं तीन।४४३

यहाँ कामनी और सज्जन के साथ में दुर्जन का वर्णन है, यही सहचर-भिन्नता है।

(१९) प्रकाशित विरुद्ध। अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

राज्यासन को लहहु नृप ! तेरो जेष्ठ कुमार।४४४

राजा के प्रति यह कहना कि 'आपका जेष्ठ कुमार राज्यासन को प्राप्त करे' राजा का मरना सूचित करता है। क्योंकि राजा की जीवित अवस्था में राजकुमार को राज्यासन नहीं मिल सकता। राजा का मरना सूचित होना प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति है। पूर्वोक्त 'विरुद्धमतिकृत' शब्द के आश्रित है—वहाँ शब्द-परिवर्तन से दोष नहीं रहता है।

यहाँ शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी दोष रहता है, इन दोनों में यही भेद है।

(२०) विध्ययुक्त। अविधेय (विधान करने के अयोग्य) का विधान होना। जैसे—

बन्दिन सोँ प्रतिबुद्ध ह्वै अब सुख सोय नृपाल!
करौं अपाण्डव भुवि अबै काटौ सब रन-जाल।४४५

द्रोणाचार्य के निधन के कारण कुपित अश्वत्थामा की दुर्योधन के प्रति यह उक्ति है—'हे राजन, अब तक तुम्हें पाण्डवों के भय से निद्रा नहीं आती थी, अब तुम वन्दीजनों की स्तुति से उठकर निःशङ्क सुख से सोना'। कहना यह चाहिये था कि अब सुख से सोकर वन्दीजनों की स्तुति से उठना। सोने के पश्चात्, वन्दीजनों की स्तुति का विधान है, न कि पहिले। अतः अविधेय का विधान है।

(२१) अनुवाद अयुक्त। विधि के अनुकूल अनुवाद का नहीं होना जैसे—

गौरीपति-चूड़ाभरन ! हरन बिरहि-जन प्रान ;
निरदयता कीजै न ससि! मुहि अबला जिय जान।४४६

विरहिणी की चन्द्रमा से प्रार्थना है। चन्द्रमा को 'विरही जनों के प्राण-हरण' सम्बोधन दिया गया है, वह प्रार्थना के प्रतिकूल है। क्योंकि जिसे विरही जनों का प्राण-घातक कहा जाय, उसी से निर्दयता न करने की प्रार्थना करना अनुचित है। अतः अनुवाद-अयुक्त दोष है।

(२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत। किसी अर्थ का त्याग करके फिर उसी का स्वीकार करना। जैसे—

"मान ठानि बैठ्यो इत परम सुजान कान्ह,
भौंहैं तानि बानक बनाइ गरबीली

कहै 'रतनाकर' विसद उत बाँकौं बन्यौ
विपिन-विहारी-वेष बानक लडीली को ॥
लखि लखि आज की अनूप सुखमा को रूप
रोपै रस रुचिर मिठास लौन-सीली को।
ललकि लचैबौ लोल लोचन लला कौ इत
मचलि मनैबो उत राधिका रसीली को ॥"
४४७(१४)

यहाँ तीसरे चरण तक वर्णन की समाप्ति हो चुकी है, फिर चौथे चरण में उसी विषय का वर्णन किया जाने में त्यक्त पुनःस्वीकृत दोष है।

(२३) अर्थ अश्लील। लज्जास्पद आदि अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

मारन उद्यत ह्वै रह्यो छिद्रान्वेषी स्तब्ध;
जब याको ह्वै पतन तब फिरि न वेगि ह्वै क्षुब्ध ॥४४८॥

यहाँ दूसरे के छिद्र को ढूँढनेवाला, मारने को उद्यत और स्तब्ध ऐसे किसी दुष्ट का पतन करने को कहा गया है। यहाँ पुरुष के गुह्याङ्ग-विशेष के वर्णन की भी प्रतीति होती है, इसलिये अश्लील है।

यहाँ तक शब्द के ३७ और अर्थ के २३ सब ६० प्रकार के दोष बताये गये हैं।

दोषों का परिहार।

उपर्युक्त दोषों में कोई कोई दोष कहीं-कहीं दोष नहीं भी होता है, और कहीं-कहीं प्रत्युत गुण भी हो जाता है। देखिये—

कर्णावतंस इसके अति दर्शनीय,
हैं शोभनीय श्रुति-कुण्डल अद्वितीय;
आमोद से दिशि प्रमोदित होरही हैं,
आती प्रलोभित जहाँ भ्रमरावली हैं ॥४४९

'अवतंस' और 'कुण्डल' कानों में पृथक् पृथक् स्थानों पर पहनने के आभूषण होते हैं। केवल 'अवतंस' और 'कुण्डल' कहने मात्र से यह

ज्ञान हो सकता है कि ये कानों में पहनने के आभूषण हैं। तथापि यहाँ 'कर्ण' और 'श्रुति' शब्द भी हैं। किन्तु इस प्रयोग में पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि कर्ण और श्रुति शब्दों के प्रयोग के कारण कर्ण की समीपता प्रतीत होती है, जिससे कानों में पहने हुए अवतंस और कुण्डलों से कामिनी की शोभा का उत्कर्ष सूचित किया गया है। बिना पहने हुए अन्यत्र रक्खे हुए आभूषण तादृश शोभित नहीं होते। अतः ऐसे वर्णनों में 'पुनरुक्ति' दोष नहीं होता है।

ललित हाव वय तरुन लखि स्मित-रमनी मुखचंद;
कुसुम-माल जिमि मधुकरन किहि कों ह्वै न अनंद ।४५०

यद्यपि 'माला' शब्द से ही पुष्पमाला की प्रतीत हो सकती है, किन्तु यहाँ पुष्पमाला कहने से अर्थान्तरसंक्रमित-ध्वनि द्वारा उत्कृष्ट पुष्पों का सूचन होता है। ऐसे प्रयोगों में पुनरुक्त या अपुष्ट दोष नहीं होता है।

लोक-प्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतुक' दोष नहीं होता है। जैसे—

ससि-गत लहत न कमल-गुन कमल-गत न ससि आभ।
श्रियहि उमा-मुख पाय भो उभयाश्रित गुन-लाभ ।४५१

रात्रि में चन्द्रमा के आश्रित रहकर श्री को (शोभा को) कमल के सौरभादि गुण प्राप्त नहीं हो सकते हैं, और दिन में कमल के आश्रित हो जाने से उसे चन्द्रमा के कान्ति आदि गुण प्राप्त नहीं हो सकते; किन्तु पार्वतीजी के आश्रित होकर उस (श्री या शोभा) को कमल और चन्द्रमा दोनों के गुण प्राप्त हो गए हैं। यहाँ रात्रि में चन्द्रमा के आश्रित श्री को कमल के गुणों के न मिलने में कमल का रात्रि में संकुचित हो जाना ही हेतु है, और दिन में चन्द्रमा के गुण न मिलने में दिन में चन्द्रमा का निस्तेज हो जाना हेतु है। ये दोनों

यद्यपि यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहे गये हैं, पर ये हेतु लोकप्रसिद्ध हैं। इनके न कहने पर भी स्वयं इनका ज्ञान हो जाता है, इसलिये निर्हेतुक दोष नहीं है।

श्लेष और यमक आदि अलङ्कारों में 'अप्रयुक्त' और 'निहतार्थ' दोष नहीं माने जाते हैं। सुरतारम्भ-गोष्ठी में व्रीडा-व्यञ्जक अश्लील, वैराग्य की कथाओं में बीभत्स व्यञ्जक अश्लील, और भावि-वर्णन में अमङ्गल-व्यञ्जक अश्लील दोष नहीं माना जाता है, प्रत्युत गुण समझा जाता है। जैसे—

उदर फटे मंडूक-सम श्रवत रु रहत उतोन;
अस तिय के व्रण में कहो ह्वै रत कृमि बिन कौन।४५२

इसमें व्रीडा और बीभत्स-व्यञ्जक स्त्री के गुह्यांग का वर्णन है, किन्तु वैराग्य के प्रसङ्ग में होने के कारण दोष नहीं है।

'व्याजस्तुति' अलङ्कार आदि में वाच्यार्थ के महत्व से 'सन्दिग्ध' दोष, भी गुण समझा जाता है। जैसे—

पृथुकार्तस्वर पात्र है भूसित परिजन देह[1];
नृप! अपने दोऊन के हैं समान ही गेह।४५३

यहाँ दो अर्थवाले पदों से सन्दिग्ध अर्थ है। किन्तु राजा और

---

१ किसी राजा के प्रति उक्ति है—'हे राजन्! आपके घर में पृथुकार्तस्वर पात्र हैं, अर्थात् पृथु (बहुत-से) कार्तस्वर (सुवर्ण) के पात्र हैं; मेरे घर में भी पृथुकार्तस्वर पात्र हैं, अर्थात् पृथुक् (बालक) आर्तस्वर—क्षुधा-पीडित दीन ध्वनि के पात्र—हो रहे हैं। आपके घर में परिजनों के देह भूषित हैं, अर्थात् आभूषणों से शोभित हैं; मेरे घर में भी परिजनों के शरीर भू-सित अर्थात् पृथ्वी पर सोते हैं। अतः आपके और मेरे घर में समानता है।

कवि दोनों में अपने-अपने अनुकूल वाच्यार्थ के बोधक होने के कारण दोष नहीं है।

जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों व्यक्ति वर्णनीय शास्त्र-विषय के ज्ञाता होते हैं, वहाँ 'अप्रतीत' दोष नहीं होता है।

जहाँ वक्ता नीच पात्र होता है, वहाँ 'ग्राम्य' दोष नहीं होता है।

जहाँ अध्याहार के कारण अर्थ की शीघ्र ही प्रतीति हो सकती हो, वहाँ न्यून पद दोष नहीं होता है।

'अधिक पद' दोष भी कहीं दोष न रहकर गुण हो जाता है। जैसे—

स्वारथ हित खल करत जो ठगिवे मीठी बात ;
सो न सुजन जानत न पै जानत कृपा दिखात ।४५४

खल पुरुष अपने स्वार्थ के लिए ठगने को मीठी-मीठी बातें सज्जनों के सामने करते हैं, उनकी वे बातें क्या सज्जन नहीं जानते हैं? जानते हैं, पर जानकर भी उन पर कृपा दिखाते हैं। यहाँ 'जानत' पद दो बार है। दूसरी बार का 'जानत' पद अधिक होने पर भी वह दूसरे लोगों से सज्जनों की पृथक्ता दिखाने के लिये है, अर्थात् खलों की करतूत को जानते हुए भी सज्जन ही उन पर कृपा करते हैं—दुर्जन नहीं।

'लाटानुप्रास', और 'कारणमाला' अलङ्कारों में और अर्थान्तर संक्रमितध्वनि में, 'कथित पद' दोष न रहकर प्रत्युत गुण हो जाता है। जैसे—

सहृदय जब आदर करैं तब ही गुन प्रकटाहिं ;
भानु अनुग्रह पाय ही कमल कमल दरसाहिं ।४५५

दूसरी बार के 'कमल' पद में अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि है। दूसरी बार का 'कमल' पद कमल को विकास, सौरभ और सौन्दर्य आदि गुण-युक्त सूचित करता है। लाटानुप्रास और कारणमाला के उदाहरण द्वितीय भाग में हैं।

अनुप्रासादि अलङ्कारों में एक ही पद्य में कहीं विषयान्तर हो जाने पर 'पतत्प्रकर्ष'-दोष नहीं माना जाता है।

रस दोष

(१) रस, स्थायी भाव या व्यभिचारी भावों का स्व-शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना रस दोष है।

रस व्यंग्यार्थ है। इसका आस्वादन केवल व्यञ्जना द्वारा ही हो सकता है। अतः 'रस' का शृङ्गार आदि विशेष शब्दों द्वारा अथवा सामान्य शब्द 'रस' द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना अनुचित[1] है। जैसे—

हौं बलि चलि वाको छिनक लीजै आजु निहार;
उमगत है चहुँ ओर छवि मानहु रस शृंगार।४५६

यहाँ 'रस' और 'शृंगार' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया गया है अतः दोष है।

इसी प्रकार स्थायी और व्यभिचारी भावों का भी शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाना दोष है। जैसे—

प्रिय को मुख देखि लजाय गये चरमांबरसौं करुना भरि आये;
अति त्रासित सर्प-विभूषनसौं, सिर चंद्रकला लखि विस्मित छाए।

---

१ "व्यभिचारिरसस्थायिभावनां शब्दवाच्यता''' ।"
—काव्यप्रकाश ७। ६०-६२

"रसस्थायिव्यभिचारिणां स्वशब्देन वाच्यत्वं ।"
—हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृष्ठ ११०

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि''''"
"दोषा रसागतामताः।—"साहित्यदर्पण ७। १२-१५

"निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वानाभिधातुमुचितः अनास्वादापत्तेस्तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात्। एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।"
—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५०

लखि जह्नुसुता कौं अमर्ष भरे नृ-कलापन सों भय पाय डराए;
नव-संगम यों रस-युक्त घने गिरिजा दृग वे हमैं मोद बढ़ाए।
४५७

इस पद्य में व्रीड़ा, त्रास और अमर्ष व्यभिचारी भावों का; विस्मय तथा भय स्थायी भावों का, एवं करुण रस का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, अतः दोष है किन्तु इसी पद्य को यदि—

दयितानन देखि विनम्र भए चरमांबर सौं झट ही मुकलाएँ।
लखि सर्प-विभूषन कंपित भे ससि कौं लखिकै अनिमेष जनाएँ।
नृ-कपालन सौं अति म्लान तथा लखि जह्नुसुता अति बंक लखाएँ
नव-संगम में प्रिय कौं लखिकै गिरिजा-दृग वे नित मोद बढ़ाएँ।
४५८

इस रूप में कर दिया जाय तो स्थायी और व्यभिचारियों का शब्द द्वारा कथन न होकर, उनकी 'विनम्र' आदि अनुभावों द्वारा व्यञ्जना होती है; और दोष नहीं रहता है। अतः रस, स्थायी भाव और व्यभिचारी भावों की अनुभावों द्वारा व्यञ्जना होना ही समुचित है।

कहीं-कहीं व्यभिचारी भाव आदि का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाने पर भी दोष नहीं माना जा सकता है। ऐसा वहीं हो सकता है, जहाँ अनुभाव और विभाव के द्वारा उस भाव की, जिसकी प्रतीति कराना अभीष्ट हो, स्वशब्द के कहे विना स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती हो। जैसे—

अति उत्सुक सौं झट आगे बढ़ीं पुनि लाज सौं जो हटि आँईं भईं;
समुझाय-बुझाय सखीजन सौं प्रिय-सम्मुख जो फिर लाँईं भईं।
नव-संगम में लखि कै प्रिय कौं हिय में भय हू कछु पाँईं भईं;
सुद-मंगल-दायक हों गिरिजा हँसिके हर हीय लगाँईं भईं।
४५९

यहाँ औत्सुक्य और लज्जा आदि व्यभिचारी भावों का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, पर यहाँ दोष नहीं। क्योंकि इन व्यभिचारी भावों की

अनुभावों द्वारा यहाँ स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती है। 'झट' अनुभाव केवल औत्सुक्य का ही व्यञ्जक नहीं है, भय आदि के कारण भी शीघ्रता की जा सकती है। 'पीछे हट जाना' या 'मुँह फेर लेना' अनुभाव केवल लज्जा ही से नहीं, किन्तु क्रोध, घृणा या भय से भी हो सकता है, अतः यहाँ लज्जा शब्द के स्पष्ट कहे बिना लज्जा की स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती थी। यदि यहाँ शृङ्गार रस के विरोधी 'भय' को विभावादि द्वारा पुष्ट किया जाता तो भयानक रस की व्यञ्जना होने के कारण दोष हो जाता। अतः यहाँ भय का भी स्वशब्द द्वारा कथन किये जाने में दोष नहीं है।

"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे ;
बिहँसे करुना-ऐन, चितइ जानकी लखन तन।"४६० (१७)

यहाँ 'बिहँसे' पद से 'हास' स्थायी भाव का शब्द द्वारा कथन अवश्य है, किन्तु दोष नहीं है। क्योंकि केवट के अटपटे वचन जो अनुभाव है, उनसे केवल हास्य की ही नहीं, 'विस्मय' आदि की भी प्रतीति हो सकती है, अतएव हास का स्पष्ट कथन आवश्यक था।

(२) विभाव और अनुभावों की कष्ट-कल्पना[1] से जहाँ रस की प्रतीति होती है वहाँ दोष माना जाता है। जैसे—

चहति न रति यह विगत मति चितहु न कित ठहराय ;
विषम दसा याकी अहो कीजै कहा उपाय।४६१

---

१ 'कष्टकल्पनयाव्यक्तिरनुभावविभावयोः।'
—काव्यप्रकाश, ७।६०

'आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।'
—साहित्यदर्पण, ७।६०

'एवं विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये विलम्बेनप्रत्यये वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।'—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५०

यह वियोगी नायिका की दशा का वर्णन है। 'रति न चहत' आदि अनुभावों द्वारा केवल वियोग ही सूचित नहीं होता है, किन्तु करुण, भयानक और बीभत्स रस भी। अतएव यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार के विभाव 'विरहिणी नायिका' की प्रतीति कष्ट-कल्पना से होती है।

कीन्ह धवल छवि चन्द्रमा भुवि-मण्डल दिवि लोकु,
भ्रू-विलास कछु हास-युत रमनी-मुख अवलोकु ।४६२

यहाँ शृङ्गार-रस के आलम्बन-विभाव 'नायिका' और उद्दीपन-विभाव 'चन्द्रोदय' का वर्णन तो है, किन्तु नायक के 'रति-कार्य' अनुभावों का वर्णन नहीं है। यह समझना कठिन है कि नायिका के 'भ्रू-विलास और हास' अनुभाव स्वाभाविक विलास-मात्र हैं या सम्भोग-शृङ्गार के रति-कार्य। अतः दोष है।

(३) जहां वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री (विभावादि) का वर्णन होता है वहाँ दोष माना जाता है[1]। क्योंकि विरोधी रस की सामग्रियों द्वारा उस (विरोधी) रस की व्यञ्जना होने लगती है, जिससे वर्णनीय रस का आस्वाद नष्ट हो जाता है, या दोनों ही रस नष्ट हो जाते हैं।

---

१ 'विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।'
ध्वन्यालोक, ३।१८, पृष्ठ १६१

'यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषुवैराग्यकथाभिरनुनये।'—ध्वन्यालोक, पृष्ठ १६२

'प्रतिकूलविभावादिग्रहो।'—काव्यप्रकाश, ७।६१

'विभावादिप्रातिकौल्यं रसादेर्दोषः।'
—हेमचन्द्र-काव्यानुशासन, पृष्ठ ११२

'परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः।'
—साहित्यदर्पण, ७।१३

'समबलप्रबलप्रतिकूलरसाङ्गानां निबन्धनन्तु:प्रकृतरसपोषकप्रातीपिकमिति दोषः।'—रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५०

रस दोष की स्पष्टता करने के प्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि किस रस के साथ किस रस का विरोध है और किस रस के साथ किस रस का अविरोध (मैत्री) है।

रसों का पारस्परिक विरोध—

शृङ्गार के विरोधी करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक और शान्त हैं।

हास्य के विरोधी भयानक और करुण हैं।

करुण के विरोधी हास्य और शृङ्गार हैं।

रौद्र के विरोधी हास्य, शृङ्गार, और भयानक हैं।

भयानक के विरोधी हास्य , शृङ्गार, वीर, रौद्र और शान्त हैं।

शान्त के विरोधी रौद्र, शृङ्गार, हास्य, भयानक और वीर हैं।

बीभत्स का विरोधी शृङ्गार है।

वीर के विरोधी भयानक और शान्त हैं।

रसों का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार से हुआ करता है—

(क) एक आलम्बन विरोध—अर्थात् विरोधी रसों का केवल एक ही आलम्बन होने के कारण विरोध—

वीर का शृङ्गार के साथ एक आलम्बन में विरोध है। क्योंकि जिस आलम्बन के कारण शृङ्गार-रस उत्पन्न होता है, उसी आलम्बन के कारण वीर-रस के उत्पन्न होने में दोनों ही रस आस्वादनीय नहीं रह सकते।

रौद्र, वीर और बीभत्स के साथ सम्भोग शृङ्गार का एक आलम्बन में विरोध है, क्योंकि जिसके साथ प्रेम-व्यापार हो रहा हो, उस पर क्रोध और घृणा होने पर शृङ्गार का आस्वाद नहीं रह सकता—रस-भङ्ग हो जाता है।

विप्रलम्भ-शृङ्गार का भी वीर, करुण, रौद्र एवं भयानक के साथ एक आलम्बन के कारण उक्त प्रकार से विरोध है।

(ख) आश्रय विरोध—अर्थात् परस्पर विरोधी रसों का केवल एक ही आश्रय होने के कारण विरोध—

वीर-रस का भयानक के साथ एक आश्रय में विरोध है, क्योंकि निर्भीक और उत्साही पुरुष वीर होता है, उसमें यदि भय उत्पन्न हो, तो वीरत्व कहाँ?

(ग) नैरन्तर विरोध—अर्थात् दो विरोधी रसों के बीच में किसी तीसरे अविरोधी रस की व्यञ्जना न होने से विरोध—

शान्त का शृङ्गार के साथ और बीभत्स के साथ नैरन्तर विरोध है।

पारस्परिक अविरोध अर्थात् मैत्री

वीर-रस का अद्भुत एवं रौद्र के साथ, शृङ्गार का अद्भुत के साथ, भयानक का बीभत्स के साथ अविरोध (मैत्री) है, क्योंकि इनका उक्त तीनों ही प्रकार से विरोध नहीं—इनका एक आलम्बन, एक आश्रय और नैरन्तर समावेश हो सकता है।

यहाँ रसों का विरोधाविरोध साहित्यदर्पण के अनुसार लिखा गया है। इस विषय में कुछ आचार्यों का मतभेद प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में कोई मतभेद नहीं है। किसी आचार्य ने 'एक आलम्बन' को, किसी ने 'एक आश्रय' को और किसी ने 'नैरन्तर' को लक्ष्य में रखकर रसों की एकत्र स्थिति में विरोधाविरोध बतलाया है।

रसों के विरोधाविरोध-प्रकरण में 'रस' पद से 'स्थायी भाव' समझना चाहिए, क्योंकि रस तो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य है। अर्थात् रसास्वाद के समय अन्य किसी की प्रतीति ही नहीं हो सकती, ऐसी अवस्था में विरोध होना

भी सम्भव नहीं है। अतः स्थायी भावों का ही विरोध होता है[1]। इसी प्रकार एक रस दूसरे रस का अङ्ग भी नहीं हो सकता है। अतएव जहाँ-जहाँ एक दूसरे रस का अङ्ग कहा गया है, या आगे कहा जायगा, वहाँ उस रस का स्थायी भाव ही समझना चाहिये[2]।

उदाहरण—

"मधु कहता है व्रजवाले! उन पद-पद्मों का करके ध्यान;
लाओ जहाँ पुकार रहा है श्रीमधुसूदन मोद निधान;
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर यत्न-विधान;
यौवन के सु रसाल योग में काल रोग है अति बलवान"
४६३(४०)

मानिनी नायिका के प्रति उक्ति है अतः विप्रलम्भ शृङ्गार है। यहाँ 'काल-रोग' के कथन द्वारा यौवन की अस्थिरता बतलाई गई है। यह शृङ्गार रस के विरोधी शान्त रस का उद्दीपन विभाव है, अतः दोष है।

रसों का पारस्परिक विरोध का परिहार

(क) जिन रसों की एक आलम्बन में अभिव्यक्ति होने के कारण विरोध होता है, उन रसों के पृथक्-पृथक् आलम्बन होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

निरखत सिय-मुख-कमल छवि रघुवर बारहिं बार;
निसिचर-दल-कलकल सुनत बाँधत जटा सँभार।४६४

---

१ 'रसशब्देनात्र स्थायिभावउपलक्ष्यते'—काव्यप्रकाश, वामनाचार्य, व्याख्या पृष्ठ ५५८; और 'प्रदीप' 'उद्योत' टीका, आनन्दाश्रम सं०, पृष्ठ ३७७—३७८।

२ 'मतान्तरेऽपि रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गित्वेनाविरोधित्वमेव'—ध्वन्यालोक, पृष्ठ १७५।

यहाँ शृङ्गार और वीर दो परस्पर विरोधी रस का आश्रय तो एक भगवान् श्रीरामचन्द्र ही हैं, किन्तु शृङ्गार रस का आलम्बन श्रीजनकनन्दिनी हैं, और वीर रस का आलम्बन राक्षस सेना। यहाँ पृथक्-पृथक् आलम्बन होने के कारण विरोध नहीं रहा है।

(ख) जिन रसों की एक आश्रय में स्थिति होने के कारण विरोध होता है, वहाँ आश्रय-भेद (पृथक्-पृथक् आश्रय) होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

धनुष चढ़ावत तोहि लखि सनमुख रन-भुवि माय;
मृगगन जिमि मृगराज ढिँग अरि जन जाहिँ पलाय।४६५॥

यहाँ वीर और भयानक दो परस्पर में विरोधी रसों का आलम्बन वर्णनीय राजा है, किन्तु विरोध नहीं। क्योंकि उत्साह का आश्रय वर्णनीय राजा है, और भय का आश्रय है उस राजा के शत्रुगण अतः आश्रय-भेद होने के कारण विरोध नहीं रहा है।

उतैं वे निकारैं वरमाला हस्य संपुट सौं
इतैं अखै तून तैं निकारत ही वान के,
उतैं देव-वधू माल-ग्रंथि कौं सँधान करैं
गांडीव की मुरवी पै होत ही सँधान के।
इतैं जापै कोप की कटाक्ष भरे नैन परैं
उतैं भर काम के कटाक्ष प्रेम-पान के;
मारिबे को मरबे को दोनों एक साथ चलैं
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अच्छरान के।"४६६(५६)

यहाँ रौद्र और शृङ्गार दोनों विरोधी रसों का एक ही आलम्बन कौरव-सेना के वीर पुरुष हैं किन्तु रौद्र का आश्रय अर्जुन है और शृङ्गार का आश्रय देवाङ्गनाएँ। अतः आश्रय-भेद हो जाने से दोष नहीं रहा है।

(ग) नैरन्तर विरोधी रसों के बीच में किसी ऐसे तीसरे तटस्थ रस का जो दोनों का विरोधी न हो समावेश किया जाने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

आलिंगित सुरतियन सौं नभ विमान-थित वीर;
निरखत स्यारन सौं घिरे रन निज परे सरीर।४६७

युद्ध में मरने के बाद स्वर्ग प्राप्त होने पर देवाङ्गनाओं के साथ विमान में स्थित वीर जनों का यह वर्णन है। यहाँ पूर्वार्द्ध में देवाङ्गना आलम्बन है, अतः शृङ्गार-रस है। उत्तरार्द्ध में उन राजाओं के मृतक शरीर आलम्बन हैं, अतः बीभत्स है। यद्यपि शृङ्गार और बीभत्स, परस्पर विरोधी रसों का यहाँ समावेश है, किन्तु इन दोनों के बीच में निश्शङ्क प्राण त्यागने की ध्वनि निकलती है, जिससे वीर-रस का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वीर-रस की प्रतीति हो जाती है। वीर-रस इन दोनों का विरोधी नहीं है[1]—उदासीन है। अर्थात् शृङ्गार-रस के आस्वाद में रुकावट पैदा करने वाले बीभत्स के पहले वीर-रस का आस्वादन हो जाता है, अतः विरोध नहीं रहता है।

रसों के विरोध का परिहार और भी कई कारणों से हो जाता है। जैसे स्मरण किये गए विरोधी रस का किसी दूसरे के साथ समावेश हो जाना, या परस्पर में विरोधी दो रसों का साम्य विवक्षित होना, अर्थात् दोनों विरोधी रसों की समान रूप से व्यञ्जना होना; या परस्पर में विरोधी रसों में एक रस का दूसरे रस या भाव का अङ्ग हो जाना; या दोनों ही रसों का किसी अन्य रस या भाव आदि के अङ्ग हो जाना; या वर्णनीय

१ यद्यपि पहले वीर रस और शृङ्गार रस का विरोध बतलाया गया है, वह इन दोनों का एक आलम्बन होने में दोष है। यहाँ एक आलम्बन नहीं है।

रस के विभावों द्वारा विरोधी रस के विभावों का वाधित हो जाना; इत्यादि इत्यादि। जैसे—

स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार—

कहि-कहि मृदु मीठे बचन रस की चितबन डार;
आ सनमुख क्यों करत नहिँ, प्रिये! आज सतकार।४६८

मृत नायिका के समक्ष ये नायक के वाक्य हैं। नायिका के विषय में शृङ्गार-रस की व्यञ्जना है, और साथ ही मृतक नायिकाआलम्बन, अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि सञ्चारी भावों से करुण रस की व्यञ्जना है। शृङ्गार और करुण विरोधी रसों का समावेश है। किन्तु यहाँ भूतकाल के शृङ्गार-रस का स्मरण-मात्र है, अतः विरोध नहीं है।

"है याद उस दिन की गिरा तुमने कही थी मधुमयी;
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँदकर मैं रह गयी।
'यह करतल-स्पर्शन प्रिये! मुझसे न छिप सकता कहीं',
फिर इस समय क्या नाथ! मेरे हाथ वे ही हैं नहीं।"
४६९(४०)

मृत अभिमन्यु के समीप उत्तरा का यह कारुणिक क्रन्दन है। ऊपर के पद्य के अनुसार यहाँ भी करुण के साथ विरोधी शृङ्गार-रस का पूर्व कालिक स्मरण मात्र है।

साम्य विवक्षित होने के कारण परिहार—

इतै प्रिया-दृग स्रवत उत परत समर-धुनि कान;
प्रेम रु रन दुहुँ मिलि सुभट हिय किय दोल[1] समान।४७०

---

१ झूला (हिँडोला)।

यहाँ रण में जाने को उद्यत सुभट के हृदय में अपनी प्रिया के नेत्रों में अश्रुपात देखकर वियोग-शृङ्गार की व्यञ्जना है। और संग्राम का भेरी-नाद सुनकर उत्साह होने में वीर-रस की व्यञ्जना है। शृङ्गार और वीर परस्पर में विरोधी रसों की यहाँ समान रूप से व्यञ्जना है, अतः दोष नहीं है।

रक्त-मना[1] मृगराज-वधू दसनच्छत[2] कीन्ह अतंत प्रमोदित ;
त्यों नखतें जु बिदारन ह्वै प्रगटे व्रन[3] तो तन में जित ही तित।
मोद समात न गात मनो पुलकावलि के मिस है वह सोभित ;
देखि के तोहि सरक्त[4] सखे ! मुनिराज विरक्तहु डाह करैं चित।
४७१

क्षुधा-पीड़ित सिंहिनी को दया-वश अपना शरीर खिलाते हुए बौद्ध के प्रति किसी चाटुकारी के ये वाक्य हैं[5]। यहाँ शृङ्गार और दया-वीर परस्पर विरोधी रसों का समावेश है। कामिनी द्वारा किए गए दन्तक्षतादि से जिस प्रकार शृङ्गार-रस की व्यञ्जना होती है, उसी प्रकार यहाँ सिंहिनी द्वारा किए गए दन्तक्षतादि से दया-वीर-रस की व्यञ्जना होती है। शृङ्गार और दया-वीर दोनों विरोधी रसों की यहाँ समान रूप से व्यञ्जना

---

१ रुधिर में मन जिसका, अथवा अनुरक्त होकर।
२ सिंहिनी द्वारा दाँतों से किये गये घाव अथवा अनुरक्त नायिका द्वारा किए हुए दन्तक्षत।
३ सिंहिनी द्वारा नखों से किए गए घाव अथवा नायिका द्वारा किए गए नखक्षत।
४ रुधिर-युक्त ; अथवा अनुरक्त।
५ 'व्याघ्री जातक' नामक बौद्ध-ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथा का इसी प्रकार वर्णन है।

होना कवि को अभीष्ट है। शृङ्गार-रस के सादृश्य से दया-वीर की पुष्टि भी होती है। अतः ऐसे वर्णनों में विरोध नहीं रहता है।

पीत-वदन कृस सरस हिय अलसित तू दरसाय ;
सखि! तेरे तन में बढ़्यो चेत्रिय रोग जनाय ।४४२

वियोगिनी के प्रति उसकी सखी के ये वाक्य हैं। 'पीत-वदन, कृश' आदि अनुभाव करुण-रस के व्यञ्जक हैं, न कि शृङ्गार-रस के। ध्वनिकार[1] का मत है कि इनके द्वारा वियोग-शृङ्गार की पुष्टि होने के कारण ये अनुभाव यहाँ विप्रलम्भ के अङ्ग हो गए हैं, अतएव विरोध नहीं। किन्तु आचार्य मम्मट[2] और पण्डितराज जगन्नाथ[3] कहते हैं कि यहाँ पीत-वदन आदि अनुभाव करुण रस और विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों के, समान बल से व्यञ्जक होने से विरोध नहीं है, क्योंकि समान विशेषणों के प्रभाव से दो परस्पर विरोधी रसों की व्यञ्जना में विरोध नहीं होता।

दूसरे किसी रस या भाव के अङ्ग हो जाने से परिहार। जैसे—

ऊँचे किए कच-पास गहैं, अरु नीचे किये पकरैं पद जोरन ;
ऐंचत, रोष सौं दूर किएँ, वरजोरन आँचर के दुहुँ छोरन।

---

१ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १६६

२ काव्यप्रकाश, आनन्दाश्रम सं०, पृष्ठ २७४ और वामनाचार्य की बालबोधिनी, पृष्ठ २६२

३ 'अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्तते।'

—रसगङ्गाधर, निर्णयसागर संस्क०, सन् १८६४, पृष्ठ ४६

व्याकुल ह्वै फिरती नृप ! हैं तुव सत्रुन की वनिता करि सोरन ;
जामें जहाँ तित ही नहिं केते कँटीले तरू बन में चहुँ ओरन[1] ।
४७३

यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है । समासोक्ति में समान विशेषणों द्वारा दो अर्थ हुआ करते हैं—एक प्रस्तुत (प्राकरणिक) और दूसरा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक)[2] । 'ऊँचे किये कच-पास गहैं' इत्यादि विशेषण ऐसे हैं, जिनका एक अर्थ वन के कटीले वृक्षों द्वारा शत्रु-वनिताओं को पीड़ित किया जाना होता है । इस अर्थ में शत्रुओं की स्त्रियों की दयनीय दशा के वर्णन में करुण-रस की व्यञ्जना होती है । इन्हीं विशेषणों का दूसरा अर्थ, उन स्त्रियों के साथ कामी पुरुषों द्वारा किए जाने वाले व्यवहार का होता है । इस दूसरे अर्थ में कामीजनों के अनुराग का वर्णन किये जाने से शृङ्गार रस की व्यञ्जना होती है । करुण और शृङ्गार परस्पर में विरोधी रस हैं । यहाँ कवि को राजा का प्रताप वर्णन करना अभीष्ट है । अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है । इस भाव के यहाँ करुण और शृङ्गार दोनों ही पोषक हैं । जिन वाक्यों द्वारा करुण व्यक्त होता है, उन्हीं से शृङ्गार भी व्यक्त होता है, और उन्हीं वाक्यों से राजा के प्रताप का

---

१ किसी कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा की है—'हे राजन् ! जिन वनों में आपके शत्रुओं की रमणियाँ भटकती फिरती हैं, वहाँ ऐसे बहुत-से कँटीले वृक्ष हैं, जो ऊँचे किये जाने पर उन रमणियों के केश-पाशों को, नीचे किये जाने पर उनके चरणों को, और तंग आकर दूर हटने पर उनके वस्त्रों के प्रान्त-भागों को, पकड़ लेते हैं ।' दूसरा अर्थ यह है कि उन रमणियों को वन में कामीजन इस प्रकार की चेष्टाओं से व्याकुल करते हैं ।

२ समासोक्ति अलङ्कार का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में किया गया है ।

उत्कर्ष सूचित होता है। अतः करुण और शृङ्गार दोनों ही राज-विषयक रति के अङ्ग हो गए हैं, और विरोध हट गया है।

आवतु है न बुलावतु हू भई प्रार्थित हू मुख को न दिखावै,
बातैं अनेक रहस्यमयी सुनिकै हू नहीं कछु बोलि सुनावै;
पास गए हू न ह्वै सम्मुही करतव्य-विमूढ़ भई दरसावै,
भूपति तेरे रिपून की बाहिनी मानवती जुवती-सी लखावै। ४७४

यह राजा के वीरत्व की प्रशंसा है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं को मानिनी नायिका की चेष्टाओं से उपमा दी गई है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं में भयानक रस और मानिनी की चेष्टाओं में शृङ्गार रस की ध्वनि है। शृङ्गार और भयानक परस्पर विरोधी रस हैं। यहाँ भयानक रस का शृङ्गार रस अंग है क्योंकि मानिनी नायिका की चेष्टाओं की उपमा द्वारा सेना की तादृश चेष्टाओं में जो भय की व्यञ्जना होती है, उसका उत्कर्ष होता है। अतः भयानक रस राज-विषयक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, क्योंकि शत्रु-सैन्य में भय का उत्पन्न होना राजा के प्रताप का उत्कर्षक है।

प्रथम उदाहरण में समानरूप से दो विरोधी रस (करुण और शृङ्गार) राज-विषयक रतिभाव के अङ्ग हैं; जैसे दो समान श्रेणी के सेनापति एक राजा के अङ्ग होते हैं। और इस उदाहरण में जैसे एक सेनापति और दूसरा उसका भृत्य दोनों राजा के अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार भयानक रस का अङ्गभूत शृङ्गार और भयानक ये दोनों ही रस राज-विषयक रतिभाव के अङ्ग हो गए हैं। इन दोनों उदाहरणों में यही मार्मिक भेद है।

"कूरम नरिंददेव कोप करि वैरिन तें,
सहदत की सेना समसेरन तैं भानी है;
भनत 'कविंद' भाँत-भाँत दे असीसन को,
ईसन के सीस पै जमात दरसानी है।

तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी को लिए,
सोनित पिवत ताकी उपमा बतानी है;
प्यालो लै चीनी को छकी जोवन तरंग मानो,
रंग-हेत पीवत मजीठ मुगलानी है।"४७५(५)

यहाँ कूरम नरेन्द्र की प्रशंसा अभीष्ट है अतः राज-विषयक रति भाव प्रधान और तीन चरणों में व्यञ्जित बीभत्स और चौथे चरण में व्यञ्जित बीभत्स का अङ्गभूत शृङ्गार-रस ये राज-विषयक रति के अङ्ग हैं, क्योंकि इन दोनों के द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है। अतः दोष नहीं।

विरोधी रस के बाधित[1] हो जाने के कारण परिहार—

साँचहु विभव सुरम्य हैं रमनी हू रमनीय;
पै तरुनी-दृग-भंगि लौं चल जीवन-स्मरनीय।४७६

ऐसे वर्णनों में ध्वनिकार[2] और क्षेमेन्द्र[3] शान्त-रस की प्रधानता बतलाते हैं। वे कहते हैं कि विलासी जनों को शान्त-रस का स्पष्ट उपदेश रुचिकर नहीं होता, इसलिये उनको उन्मुखी करने के लिये शान्तरस में शृङ्गार-रस उसी प्रकार मिल गया है, जिस प्रकार बालकों के लिये कड़वी दवा को रुचिकर बनाने के लिये उसमें मिश्री आदि मिला दी जाती है। किन्तु आचार्य मम्मट[4] कहते हैं, यह बात नहीं है। इस पद्य के तीन चरणों में जो शृङ्गार-रस के विभाव हैं, वे शान्त-रस द्वारा

१ किसी विरोधी रस की सामग्री का समावेश होने पर भी प्रधान रस की प्रबलता होने के कारण विरोधी रस की व्यञ्जना का रुक जाना।

२ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १८०।

३ औचित्यविचारचर्चा, पृष्ठ १३२।

४ काव्यप्रकाश, वामनाचार्य-संस्करण सप्तम उल्लास, पृष्ठ ५४३।

बाधित है। यहाँ मनुष्य जीवन की क्षण-भंगुरता बतलाने के लिये कटाक्षों की चंचलता से उपमा दी गई है। कामिनी के कटाक्षों का जीवन से भी अधिक चंचल होना सुप्रसिद्ध है, अतः इसके द्वारा शान्त-रस की पुष्टि होती है और शृङ्गार-रस की व्यञ्जना दब जाती है।

है कहाँ काज अजोग ये औ' ससिवंस कहाँ ? फिर हू दिखराय है ?
दोष-विनास कों सास्त्र सुने अहो ! रोषहु में मुख मोद बढ़ाय है ?
लोग कहा कहिहैं सुकृती ? सपनेहु कहा अब वो दृग आय है ?
धीरज क्यों न धरै चित तू धन है जन जो अधरामृत पाय है।
४७७

उर्वशी के विरह में राजा- पुरूरवा की यह विरहोक्ति है। इस पद्य के प्रत्येक पाद के पूर्वार्द्ध में क्रमशः वितर्क, मति, शङ्का और धृति व्यभिचारी भावों की व्यञ्जना है। ये स्थायी भाव 'शम' के अनुकूल होने से शृंगार के विरोधी शान्तरस के पोषक हैं। किन्तु प्रत्येक पाद के उत्तरार्द्ध में आये हुए अभिलाषा के अंगभूत औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिन्ता व्यभिचारी भावों की व्यञ्जना से उनका तिरस्कार हो जाता है। अर्थात् शान्तरस के भाव दब जाते हैं—उनका बाध हो जाता है। अन्त में उर्वशी-विषयक चिन्ता ही प्रधानतया स्थित रहती है, जिसके द्वारा विप्रलम्भ-शृंगार की व्यञ्जना होती है।

जिन रसों का परस्पर में विरोध नहीं है, उनका भी प्रबन्धात्मक काव्य में प्रधान रस की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत समावेश किया जाना अनुचित है[1]।

---

१ "अविरोधी विरोधी वा रसेऽङ्गिनि रसान्तरे,
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता।"
(ध्वन्यालोक ३।२४)

निम्न लिखित रस-विषयक ७ दोष प्रबन्ध रचना में होते हैं—

रस-विषयक कुछ ऐसे दोष हैं जो एक पद्य में नहीं, किन्तु काव्य या नाटक की प्रबन्ध रचना में ही हो सकते हैं। इन दोषों के उदाहरणों में आचार्य मम्मट ने संस्कृत के अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्य और नाटकों का नामोल्लेख किया है। उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी साहित्याचार्य इस विषय में उनसे सहमत हैं।

(४) रस की पुनर्दीप्ति—किसी रस के परिपाक हो जाने पर, अर्थात् किसी 'रस' का प्रसंग समाप्त हो जाने पर, उसी रस का पुनः वर्णन (दीप्ति) करना—

परिपुष्ट और उपभुक्त रस, पुनः दीप्त किये जाने पर, परिम्लान पुष्प के समान, नीरस हो जाता है। महाकवि कालिदास ने कुमार-सम्भव महाकाव्य में रति-विलाप के प्रसंग में जहाँ करुण रस का वर्णन[1] समाप्त कर दिया है किन्तु उसे फिर दीप्त किया है[2] वहाँ यह दोष बताया गया है।

अकाण्ड प्रथन—असमय में रस का वर्णन करना—

वेणीसंहार-नाटक के दूसरे अङ्क में अनेक वीरों के विनाश के समय बीच ही में रानी भानुमति के साथ दुर्योधन के प्रेमालाप के वर्णन में यह दोष है। वहाँ श्रृङ्गार रस का वर्णन असामयिक है।

(६) अकाण्ड छेदन—असमय में 'रस' का भङ्ग कर देना—

भवभूति के महावीरचरित नाटक के दूसरे अङ्क में श्रीरघुनाथजी और परशुरामजी का संवाद धारावाहिक वीररस का प्रसङ्ग है। वहाँ श्रीरघुनाथजी की 'कङ्कणं मोचनाय गच्छामि' उक्ति में वीर-रस के भङ्ग हो जाने में यह दोष है।

---

१ 'अथ मोहपरायणा सती'—कुमारसम्भव, ४ । १

२ 'अथ सा पुनरेव विह्वला'—कुमारसम्भव ४ । ४

(७) अङ्गभूत रस की अत्यन्त विस्मृति—जिस प्रबन्ध में जिस रस का प्रधानता से वर्णन न हो, वहाँ उस अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन करना—

महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के आठवें सर्ग में अप्सराओं की विलास-क्रीड़ा के शृङ्गारात्मक विस्तृत वर्णन में यह दोष है, क्योंकि किरातार्जुनीय में शृङ्गार-रस प्रधान नहीं है।

(८) अङ्गी का अननुसन्धान—रस के आलम्बन और आश्रय का, प्रबन्ध के नायक या नायकादि का, बीच-बीच में अनुसन्धान न होना अथवा उनका आवश्यक प्रसंग में भूल जाना। रस के अनुभव का प्रवाह आलम्बन और आश्रय पर ही निर्भर है। इनका आवश्यक प्रसंग पर अनुसन्धान न होने से रस-भंग हो जाता है। महाराजा श्रीहर्ष की रत्नावलीनाटिका के चतुर्थ अङ्क में बाभव्य द्वारा सागरिका (जो प्रधान नायिका है) को भूल जाने में यह दोष है।

(९) प्रकृति-विपर्यय—काव्य-नाटकों में प्रधान नायक तीन प्रकृति के होते हैं—दिव्य (स्वर्गीय देवता), अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (मनुष्य रूप में प्रकटित भगवान् के अवतार)। इन तीनों के धीरोदात्त[1], धीरोद्धत[2], धीर-ललित[3] और धीर प्रशान्त[4], चार-चार भेद होते हैं। ये भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। जो पात्र जिस प्रकृति का हो, उसका उसी प्रकृति के अनुसार वर्णन किया

१ जिनमें उत्साह प्रधान हो।
२ जिनमें क्रोध प्रधान हो।
३ जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान हो।
४ जिनमें वैराग्य प्रधान हो।

जाना उचित है। जहाँ प्रकृति के प्रतिकूल—अस्वाभाविक—वर्णन किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है। 'रति', 'हास', 'शोक' और 'विस्मय' उत्तम प्रकृतिवाले अदिव्य पात्र के समान दिव्य प्रकृति के पात्र में भी वर्णन किये जाने में दोष नहीं है, किन्तु सम्भोग-शृङ्गारात्मक रति का उत्तम प्रकृतिवाले दिव्य पात्रों में (जिनमें हमारी पूज्य बुद्धि रहती है) वर्णन किए जाने में प्रकृति-विपर्यय दोष है—

महाकवि कालिदास-कृत कुमारसम्भव में श्रीशंकर और पार्वती के सम्भोग-शृङ्गार के वर्णन में यह दोष माना गया है। इसी प्रकार स्वर्ग-पातालादि गमन, समुद्र-उल्लंघन आदि कार्य भी दिव्य या दिव्यादिव्य प्रकृति के ही वर्णनीय है, न कि अदिव्य प्रकृति के। क्योंकि अदिव्य प्रकृतियों के अमानुषिक कार्यों के वर्णन में प्रत्यक्ष असत्य की प्रतीति होने के कारण रसास्वाद नहीं हो सकता है।

(१०) अनङ्ग-वर्णन—ऐसे रस का वर्णन किया जाना, जिससे प्रकरणगत रस को कुछ लाभ न हो—

कविराज राजशेखर-कृत कर्पूर-मञ्जरी सट्टिका में राजा चण्डसेन एवं नायिका विभ्रमलेखा द्वारा किए हुए बसन्त के वर्णन का अनादर करके बन्दीजनों द्वारा किए गये वर्णन की प्रशंसा करने में यह दोष है।

देश, काल आदि के वर्णन में रस-विषयक दोष।

देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि के विषय में लोक और शास्त्र-विरुद्ध वर्णन अनौचित्य है—

देश-विरुद्ध—स्वर्ग में वृद्धता, व्याधि आदि; पृथ्वी पर अमृत-पान आदि।

काल-विरुद्ध—शीत-काल में जल-विहार, ग्रीष्म में अग्नि-सेवन, आदि।

वर्ण-विरुद्ध—ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना, शूद्र का वेद पढ़ना, आदि।

आश्रम-विरुद्ध—ब्रह्मचारी और संन्यासी का ताम्बूल-भक्षण और स्त्री-सेवन आदि ।

अवस्था-विरुद्ध—बालक और वृद्ध का स्त्री-सेवन आदि।

आचरण स्थिति-विरुद्ध—दरिद्री का धनाढ्य जैसा और धनवान् का दरिद्री-जैसा। इत्यादि अनुचित वर्णनों से रसास्वाद भङ्ग हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार पानक-रस (शर्बत आदि) में कङ्कड़, मिट्टी आदि मिल जाने से उसके आस्वाद में आनन्द नहीं आ सकता, उसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से रसानुभव में आनन्द प्राप्त नहीं होता[१]। यहाँ तक सात स्तवकों में रस विषय का निरूपण किया गया है। इसके आगे दूसरे भाग अलङ्कार मञ्जरी के तीन स्तवकों में अलङ्कार विषय का निरूपण किया गया है।



---

१ 'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा ।'

—ध्वन्यालोक

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
स्नेहास्प	स्नेहास्पद	३५
लाक्षणिल	लाक्षणिक	५७
समीपता	समीपता	६१
८	६	६५
रज-न	राज	६८
प्रतीस	प्रतीत	६९
मूचन	सूचन	६९
(पृ० ७०)	(पृ० ६९)	७१
पद, जा	पद जो	७२
नायिक	नायिका	८६
अविवक्षितध्वनि	अविवक्षितवाच्य-ध्वनि	१०८
यिन हो	नियहो	११५
६८ (१६)	६८ (१७)	१३१
१०३ (५५)	१०३ (५६)	१४४
में क्या गदि	में क्यों गदि	१४७
११७	११७ (२०)	१४८
१२८	१२८ (४७)	१४९
उद्योग-सद्दित	उद्योत सहित	१५१
इसमे	इसमें	१६१
अनुकरण	अनुकरण करने	१६७
	१२० (४७)	१६९
(४) भट्ट	(३) भट्ट	१६९
नसाहा	साहान	१६९
(१) गौड़	(२) गौड़	१७०

'आर दो	'आर' दो	१८१
को यनि	कोरनि	२०३
विक्षति	विकृत	२०४
१८६ (५६)	१८६ (१०)	२०८
दुर्गान्वित	दुर्गन्धित	२२८
२२६ (४६)	२२६ (४८)	२२८
२३५ (५७)	२३६ (११)	२३२
चरनारवँद	चरनारविंद	२४३
आलम्मन	आलम्बन	२४९
आरोप‥ास	आरोप में शृङ्गार रसाभास	२५२
२६८ (४७)	२६८ (४०)	२५२
कड़त	कढ़त	२५४
जह	जहां	२६१
प्रयोग	प्रयोग	२६१
त्तपण	त्तपणक	२६३
चित्रककार	चित्रकार	२६४
(पृष्ठ १०७)	(पृष्ठ २७१)	२७७
किवा	किया	२८७
श्वनि	ध्वनि	२८८
त्तद्यार्थ	लक्ष्यार्थ	२९१
असह्य	असह्य	२९६
क्रन्दन ह ने	क्रन्दन होने	३०८
मालिक को	मालिक के	३१५
४९	३४९ (७)	३१९
॰प	आरोप	३३९
८	४२८ (५८)	३६५